मेरे गुरुदेव

सोमराज गुप्त

संगत समतावाद

मेरे गुरुदेव

जीवनचरित

सत्पुरुष श्री मंगतरामजी महाराज

सोमराज गुप्त

संगत समतावाद (रजि०)

समता योगाश्रम

जगाधरी – 135003

हरियाणा

सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रथम संस्करण……..1981
द्वितीय संस्करण……1997
तृतीय संस्करण ……2002
चतुर्थ संस्करण……..2010
द्वारा संगत समतावाद, (रजि०)

मुद्रक :-
राजेश प्रिंटर्स,
7321-22, आराम नगर, पहाड़गंज
कुतुब रोड, नई दिल्ली 110 055

श्री सद्गुरुदेव मंगतराम जी महाराज

समता
अपार शक्ति

महामन्त्र

ॐ

ब्रह्म सत्यं
निरंकार अजन्मा अद्वैत
पुरखा सर्वव्यापक कल्याण मूरत
परमेश्वराय नमस्तं

आमुख

श्री सद्गुरुदेव महाराज के शिष्यों की दृष्टि में उनका जीवन निराकार आत्मा की साकार लीला मात्र है, मौन शब्दस्वरूप परमेश्वर की मानवीय अभिव्यक्ति है। यह ऐसा जीवन है जो कि मानव की सदा से संतप्त आत्मा को राहत देता रहेगा, उसके भटकते जीवन की रहबरी करता रहेगा। स्वयं सर्वत्यागी होकर भी उन्होंने आम जिज्ञासु के लिये घर-गृहस्थी छोड़ने की जरूरत न समझी, बल्कि घर में ही रहकर सब्र और सत्परायण जीवन व्यतीत करने का संदेश दिया। गुरुदेव का विचार था कि बिना साधना और आत्मज्ञान के बाहरी त्याग जीव के पतन का कारण बन सकता है; इसलिये उसे सुख-दुःख के द्वन्द्वों से अलग रहकर आजज़ी और धैर्य से जीवन व्यतीत करना चाहिये इस तरह वह अपनी आत्मिक उन्नति सहज में ही कर सकेगा और देश और समाज के कल्याण का कारण बन सकेगा। उनका निश्चित मत था कि सामाजिक उन्नति, धर्म की जाग्रति और विश्वशान्ति का मूल आधार व्यक्ति की आत्मिक उन्नति ही है। इस उन्नति के पाँच नितान्त साधारण, परन्तु सारगर्भित साधन हैं - सादगी, सेवा, सत्, सत्संग और सत्स्मरण।

इस परमपुरुष की दृष्टि समभाव की दृष्टि थी; उस दृष्टि में समस्त द्वन्द्व और विषमतायें आत्मरूप सत्ता में विलीन हो जाती हैं। इस समताज्ञान के जीते-जागते प्रमाण 'श्री समताविलास' और 'श्री समताप्रकाश' सद्ग्रन्थ हैं।

सत्पुरुषों के जीवन का अध्ययन एक प्रकार से उनका दर्शन करना है। यही एक मार्ग है अपने मन में सत्विश्वास और सत्परायणता के भाव पैदा करने का।

प्रस्तुत पुस्तक गुरुदेव के दिव्य जीवन को पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास है। यह लेखक के कई वर्षों के गहरे चिन्तन एवं अनथक परिश्रम का परिणाम है। इस पवित्र कार्य का श्रेय श्री सोमराजजी गुप्त को है। लेखक की लेखनी ने सद्विवेक और अपार सत्श्रद्धा के

भावों से इस सत्पुरुष के पहेली जैसे जीवन को सन्मार्ग के पथिक के सामने ऐसे ढंग से रक्खा है कि भाव और विचार हृदय पर अंकित होते-से दिखाई देते हैं।

आने वाली पीढ़ियाँ इस पवित्र प्रामाणिक ग्रन्थ से उत्साह, प्रेरणा एवं सन्मार्ग को रहबरी प्राप्त करेंगी।

इस पुस्तक को निष्ठापूर्वक लिखने के लिए प्रेमी भाई सोमराजजी गुप्त के हम आभारी हैं। मुद्रण कार्यों में निष्काम सहायता के लिये श्री राजेन्द्रलालजी अग्रवाल का नाम उल्लेखनीय है ! छायाचित्रों को तैयार करने में श्री रमेशजी चावला ने बड़ी तत्परता से निष्कामभाव युक्त प्रेम से सेवा की है। उनका कार्य भी सराहनीय है। हम इन सब महानुभावों को हृदय से धन्यवाद देते हैं।

पाठकों से निवेदन है कि यदि उन्हें इस प्रयास में कोई त्रुटि नजर आये तो वे कृपया सूचित करें ताकि अगले संस्करणों में उनका समुचित निदान किया जा सके।

समता योगाश्रम
जगाधरी, अक्तूबर १९८१

नरेन्द्र कुमार जिन्दल
संयोजक सेवादार,
संगत समतावाद,

आभार

गुरुदेव के जीवनकाल में उनकी जीवनी लिखने की बात एक दफ़ा उठी थी यदि वह लिखी जा पाती तो वह सही अर्थों में एक प्रामाणिक जीवनी होती। गुरुदेव के साधनाकाल के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी प्राप्त हो सकी है। उनके आस-पास रहने वाले उनके वाह्यजीवन को चर्चा तो कर सके हैं, लेकिन गुरुदेव के आन्तरिक जीवन के उतार-चढ़ाव इन लोगों के लिये बन्द किताब हैं। इसलिये बहुत प्रयत्न करने पर भी इस कमी को पूरा नहीं किया जा सका। इस जीवनी के प्रारम्भिक अध्यायों के आधार वे इखरे-बिखरे संकेत हैं जो कि गुरुदेव ने यदा-कदा अपने शिष्यों को दिये थे। ये संकेत इतने अपर्याप्त हैं कि उनके बलबूते पर गुरुदेव के साधनाकाल को मूर्तरूप नहीं दिया जा सकता। कम से कम लेखक तो इन प्रारम्भिक अध्यायों को अधूरा ही कहेगा।

लेखक की भरसक कोशिश रही है कि यह जीवनी हर दृष्टि से प्रामाणिक हो फिर भी हो सकता है कि कुछ ग़लतियाँ रह गई हों। यदि पाठक ऐसी ग़लतियों के सम्बन्ध मे लेखक को सूचित कर सकें, तो लेखक उपकृत होगा।

"मेरे गुरुदेव " लिखने में अनेक प्रेमियों का सहयोग मिला जिसके लिये लेखक उनका आभारी है इस सम्बन्ध में श्री अमोलकराम, श्री दौलतराय, श्री नरेन्द्रकुमार, श्री ओमकपूर और — विशेषकर - भगत बनारसीदासजी के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री ओमकपूर ने जीवनी को दो बार बड़े सब्र से सुना और अनेक सुझाव दिये। भगतजी के संस्मरण के बिना तो यह जीवनी लिखी ही न जा सकती थी।

लेखक अपने ज्येष्ठ भ्राता श्री देवराज गुप्त का एहसानमन्द है। उन्हीं के कारण वह गुरुदेव के चरणों में जा सका, और उन्हीं की प्रेरणा से वह समतासिद्धान्त का मनन कर सका। लेखक के विचारों पर उनका परोक्ष, परन्तु व्यापक प्रभाव रहा है।

श्री कृष्णदत्त पालीवाल, हिन्दी विभाग, हिन्दू कालेज, दिल्ली, तथा श्री एस० पी० शुक्ल, अंग्रेजी विभाग, शिवाजी कालेज, दिल्ली ने भाषा सम्बन्धी अनेक सुधार किये। श्री शिवनारायण शास्त्री, संस्कृत विभाग, किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली ने श्लोकरचना में लेखक का मार्गदर्शन किया। इन तीनों मित्रों के प्रति लेखक आभार व्यक्त करता है।

लेखक की भाषा में कहीं-कहीं 'सत्विचार', 'सत्नियम', 'सत्बुद्धि', आदि शब्द सहज में ही प्रवेश कर गये हैं। इस सम्बन्ध में उसे इतना ही कहना है कि गुरुदेव इन शब्दों का ऐसे ही उच्चारण करते थे; इसलिये ये शब्द उनके शिष्यों की भाषा के भी अंग बन चुके हैं। आर्षप्रयोग व्याकरण के नियमों का अनुसरण करने के लिये बाध्य नहीं होते, वरन् व्याकरण को ही उनका अनुसरण करना पड़ता है :

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥

-उत्तररामचरित २/२०

स्वयं भगवान् भाष्यकार का भी कथन है :

दृष्टानुविधिश्च्छन्दसि भवति

महाभाष्य १/२/५ वार्तिक ३

जिस लगन से प्रेमी भाई ओम कपूरजी ने प्रकाशन सम्बन्धी कार्य किया है वह उनकी गुरुदेव के प्रति श्रद्धा का द्योतक है। ओमजी लेखक की सराहना के नहीं, बल्कि उनके प्रेम के पात्र हैं।

सोमराज गुप्त

अक्तूबर, १९८१
ई-८ मॉडल टाउन, दिल्ली- ११०००६

गुरुरूप संगत

को

सविनय समर्पित

क्रम **पृष्ठ**

१. अध्याय-१	वह अद्भुत रूप	- १
२. अध्याय-२	मंत्रद्रष्टा	- ९
३. अध्याय-३	मातृऋण	- २९
४. अध्याय-४	सहजसमाधि	- ४५
५. अध्याय-५	भक्तवत्सल	- ६३
६. अध्याय -६	'तत्तवाणी परगट भई'	- ७५
७. अध्याय -७	क़ातिलों के बीच	- १०५
८. अध्याय -८	समताज्ञान का अवतरण	- १२१
६. अध्याय ६	महामंत्र की महिमा	- १३३
१०. अध्याय १०	श्मशान में अमृतनिर्झर	- १४३
११. अध्याय- ११	सत्संग	- १७३
१२. अध्याय- १२	'लाली देखन मैं चली....'	- १८९
१३. अध्याय- १३	कुछ प्रारम्भिक शिष्य	- १९९

१४. अध्याय- १४	समतावाद	-२१३
१५. अध्याय- १५	तप (क)	-२५३
१६. अध्याय १६	तप (ख)	-२७५
१७. अध्याय-१७।	सिद्ध या सुधारक	-३०९
१८. अध्याय १८	सम्मेलन – १६५३	-३३७
१९. अध्याय- १९	महासमाधि	-३६५
२०. उपसंहार		-३७३
२१. गुरुवन्दना		-३७७
२२. विनयः		३८१
परिशिष्ट- १		३८३
परिशिष्ट २		३८९

समग्र
अपारखिल

अध्याय – १

वह अद्भुत रूप

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥[१]

श्री सद्गुरुदेव का जन्म ६ मार्गशिर संवत् १६६० विक्रमी तदनुसार २४ नवम्बर, १६०३ को गंगोठियाँ ब्राह्मणाँ नामक गाँव (जिला रावलपिण्डी) में हुआ था। गुरुदेव के बचपन और यौवन इसी स्थान में गुज़रे। इसकी घाटियों और जंगलों में आपने अपने दिन काट दिये, रातें बिता दीं। भूख, प्यास और नींद से बेसुध होकर, अपने शरीर से बेख़बर रहकर घने पेड़ों की छाया में आपने उम्र काट दी। चाहे आँधी हो, चाहे तूफान, चाहे अंधेरी रातें हों या चाँदनी गुरुदेव की रातें एकान्त जंगलों में ही कटती रहीं। आगे-पीछे की चिन्ता से मुक्त होकर वे अपने-आप में ही मस्त रहे जीव-जन्तु भी अपने बिल बना लेते हैं, पक्षियों के भी नीड़ होते हैं, लेकिन इस ईश्वर के प्यारे ने आकाश को ही अपनी छत बना लिया था और धरती ही उसका बिछौना थी। किसी ने भी उन्हें सोचते नहीं देखा कि वे क्या खायेंगे और क्या पहनेंगे।

---

१. हे राजन, हरि के उस अद्भुत रूप को बार-बार याद करके मुझे महान् आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूँ। गीता-१८ ७७

आज भी वह मस्त आकृति सजीव होकर सामने उभर आती है। याद आता है ढोला-सा सफ़ेद खादी का कुर्ता, जिसमें कि एक बटन टंका रहता था। साथ ही वह तहबन्द और बेपरवाही से सिर पर रक्खी वह पगड़ी। उनका शरीर दुर्बल और अत्यन्त कोमल था जिस पर पीले और लाल रंग की आँख मिचौनी होती रहती थी। उसमें एक अनोखी-सी चमक थी। शरीर इकहरा और लम्बा था। हाथ से छूने पर उसकी कोमलता का सही अन्दाज़ा लग पाता था। चरणों को छूने पर लगता था जैसे मखमल पर हाथ रख दिये हों।

चेहरे पर अनेक भाव उभरते और लीन होते रहते थे कभी हल्की मुस्कान खिल उठती थी और कभी प्रेम छलक उठता था। कभी वहाँ ऐसी गम्भीरता छा जाती थी कि देखते ही डर सा लगने लगता था। लगता था कि दुनिया भर की उदासी सिमट कर उस एक चेहरे पर आ बैठी हो; लेकिन साथ ही यह भी स्पष्ट था कि उस उदासी से उनका अपना व्यक्तिगत सम्बन्ध न था। निर्वेद का साकार रूप होता था वहाँ। ऐसे समय में गुरुदेव अक्सर समाधि में प्रवेश कर जाते थे। उस समय उनका सिर हल्के-हल्के हिलने लगता था और कमर आगे को झुक आती थी। चेहरे की क्या स्थिति होती थी उस समय ? कुछ कह नहीं सकते। वहाँ न तो निराशा होती थी और न आशा, न दुःख था न सुख, न आनन्द था और न ही विषाद ! यह भी नहीं कह सकते कि वहाँ कोई भाव था अथवा नहीं वह मुख-मण्डल किसी दूसरे ही लोक की कहानी कहता सा लगता था। देखने वाला देखता ही रह जाता था। उसे डर लगने लगता था, घबराहट होने लगती थी, लेकिन वहाँ से आँखें हटा पाना उसके बस की बात न होती थी सुनते आये थे कि शरीर भगवान् का मन्दिर होता है। गुरुदेव के व्यक्तित्व को देखकर इस कथन की सत्यता समझ में आने लगती थी। लगता था, कि हाड़-मांस के शरीर में से कोई शरीरातीत सत्ता झाँक-झाँक पड़ रही हो - जैसे निराकार ने साकार रूप धारण कर लिया हो।

समाधि-प्रवेश तो अक्सर और सहज ही होता रहता था, लेकिन इस

अलौकिक आकृति के दर्शन विशेष तौर पर प्रातः काल के समय हुआ करते थे उस समय गुरुदेव रात भर आत्मविभोर रह कर लौटते थे। स्नान करने के बाद वे आसन पर बैठ जाते थे और योगनिद्रा में फिर लीन हो जाते थे। उनके प्रेमी अर्ध गोलाकार बना कर कुछ दूर हट कर बैठ जाते घड़ी के बाद घड़ी गुजरने लगती। उस समय वातावरण इतना चुप हो जाता था कि हर कोई अपनी साँस की आवाज तक सुन सकता था। सांस की गति धीमी पड़ने लग जाती थी, मन का बहाव शिथिल पड़ने लगता था। किसी-किसी समय तो श्वास के अलावा और किसी बात अथवा वस्तु की याद तक न आती थी। ऐसी अन्दर बाहर की शांति के वातावरण में समय की गति का जैसे कोई पता ही न रहता था।

गुरुदेव की बाह्य चेतना आहिस्ता-आहिस्ता लौटती थी। आँखें खुलतीं, लेकिन एक पल के भीतर स्वतः ही बन्द हो जातीं। सिर फिर मन्थर गति से हिलने लग जाता। जब आँखें खुलती थीं, तो भी यह साफ़ था कि वे आस-पास की किसी वस्तु को नहीं देख रही हैं। किसी भी चीज पर वे केन्द्रित न हो पाती थीं। अनेक बार गुरुदेव समाधि से जागते, तब जाकर उन्हें बाहरी दुनिया की सुध हो पाती। तब वे प्रेमियों को कोई विचार करने को कहते। लेकिन उस समय वहाँ छाई खामोशी को तोड़ पाना कोई आसान बात न थी इसलिए प्रेमी लोग चुप रहते थे। इतने में गुरुदेव फिर मस्त होने लगते। फिर आँखें खोलते और विचार करने को कहते। यह प्रक्रिया दो-एक बार फिर होती। तब जाकर विचार शुरू होता। उस समय यह स्पष्ट हो जाता था कि अपनी बाह्य चेतना को लौटाने के लिये गुरुदेव को बड़ा प्रयत्न करना पड़ता था। समाधि उनकी सहज स्थिति थीं। समाधिस्थ होने के लिये उन्हें कोई भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। इधर प्रेमी उठे और गुरुदेव एक पल में निज धाम जा पहुँचे लेकिन बाह्य चेतना लाने में उन्हें काफ़ी समय लग जाता था।

विचार शुरू होते ही गुरुदेव की अथाह विचारशक्ति का आभास मिलने

लगता था। उन्होंने न तो कोई विशेष शिक्षा पायी थी और न ही पुस्तकों का अध्ययन किया था । परन्तु दर्शनशास्त्र के सूक्षतम विषयों की गहराई में वे बड़ी आसानी से उतर जाते थे। उनकी वाणी आत्म-विश्वास की वाणी होती थी । उसमें न तो कहीं हिचकिचाहट होती थी और न ही कोई संशय । सुनने वाला साफ़ समझ जाता था कि गुरुदेव सोची-समझी बात नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे देखी हुई बात कह रहे हैं। अपने अनुभव को वे सहज ही तर्क की भाषा में ढाल देते थे । यहाँ तक सत्य जानने का साधन न था; वह सत्य की अभिव्यक्ति का उपकरण मात्र था । बोलते समय उनके हाव-भाव, उनकी आवाज, उन का हाथ उठाने का ढंग श्रोता को अचम्भे में डाल देते थे । गुरुदेव को विचार करते सुनना एक चमत्कार देखना था । इस सम्बन्ध में एक प्रेमी' का अनुभव इस प्रकार है :

"दूसरे दिन मैं सुबह फिर फ़कीर के दरबार में पहुँचा । अब तो मैंने कल से बिल्कुल अलग स्थिति देखी । गुरुदेव अपनी योगनिद्रा में लीन थे । उनके मुख पर ख़ामोशी और निस्तब्धता थी । उनका शरीर बिल्कुल स्थिर और गतिहीन था। मैंने तो उन्हें केवल प्रेम और वात्सल्य का अवतार समझा था, लेकिन उन के इस तरह उदासीन और निर्मोहित मुख से मुझे भय लगने लगा । सोचने लगा कि मैं कहाँ आ गया हूँ ? क्या यह मनुष्य है या कि कोई जादूगर, जो एक समय तो अपनी हल्की मुस्कान से दूसरे के मन पर अधिकार कर लेता है और दूसरे समय उसकी भयंकर उदासीनता अपने चाहने वालों के लिये एक डर की चीज बन जाती है ? मेरे लिए यह एक उलझन थी, एक बड़ा चमत्कार था । मुझे गीता के ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन की उस मानसिक स्थिति का अर्थ समझ में आने लगा; जो कि श्रीकृष्ण का विराट रूप देख कर उसमें उत्पन्न हुई थी । लेकिन कुछ मिनटों के बाद गम्भीरता की वह लहर आहिस्ता-आहिस्ता कम हुई और गुरुदेव मुझ से बातचीत करने लगे। बातचीत दर्शन के गम्भीर विषयों पर पहुँच

गई। अब तो मैंने गुरुदेव को (जिनकी स्कूली शिक्षा कोई अधिक नहीं है) एक बहुत बड़े दार्शनिक और विचारक के रूप में देखा। उन दिनों मैं दर्शन शास्त्र का विद्यार्थी था और अपने-आप को आसानी से मात खाने वाला न समझता था। मैं जो प्रश्न करता था, गुरुदेव उसकी जड़ में पहुँच कर मेरी शंकाओं को दूर करते जाते थे। जिस पुरुष ने कोई लम्बा-चौड़ा अध्ययन न किया हो, उसकी इस कदर गहरी सूझ-बूझ ने मुझे आश्चर्य में डाल दिया। उन्होंने मुझे बताया कि ईश्वर मेरी ही एक बेख्वाहिशी (निष्काम अवस्था) और समता की स्थिति का नाम है। इससे मेरे शरीर में एक आशा की लहर दौड़ गई। गुरुदेव की बौद्धिक प्रतिभा का अनुमान मैं उस समय बड़ी आसानी से लगा सकता था।

"लेकिन इस प्रतिभा से भी अधिक जिस बात ने मुझे प्रभावित किया, वह था उनके बोलने का ढंग। अपनी बात को कहते हुये गुरुदेव अपने सिद्धान्त पर पूरा विश्वास होने की वजह से उत्साह और जोश से भर जाते थे। उनके गले से एक चीख-सी निकल जाती थी। वह अपना हाथ उठा कर अपनी बात की सच्चाई को समझा जाते थे। उनके शब्दों में निश्चय और विश्वास था मेरी नज़रों के सामने जर्मनी के महान् विचारक हेगल और वर्तमान समय के सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक बण्ड रस्सल घूम गये इन दोनों दार्शनिकों ने भी अन्य विद्वानों की तरह अपना दर्शन और संदेश लिखते हुये हर जगह हिचक और सँकोच से काम लिया है। वे किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचते हुये 'ऐसा प्रतीत होता है' के शब्द लगा देते हैं। मुझे इनके सँकोच से अक्सर परेशानी हुआ करती थी। मैं सोचता था कि विश्व के श्रेष्ठतम विचारक बहुत अधिक चिन्तन के बाद भी यदि किसी ऐसे परिणाम पर नहीं पहुँच सकते, जिसकी सत्यता में उन्हें रत्ती भर भी शक न हो तो इसका साफ़ अर्थ यह है कि मानव-बुद्धि सत्य को समझने में सदा असमर्थ रही है परन्तु श्री गुरुदेव के हर वाक्य में मैंने एक ठोस विश्वास और शक्ति को पाया। उन्होंने कहा, 'फ़कीरों का प्रधान निश्चय है कि दुनिया की कोई भी चीज़ इन्सान को राहतेअब्दी (नित्य आनन्द) नहीं

दे सकती। इसके उलट यहाँ का हर सामान रंज और ग़म को देने वाला है। अगर मनुष्य इन मादी लवाजमात (ऐन्द्रियक विषयों) से मुख मोड़ ले तो सच्ची ख़ुशी के दरवाजे उसके लिये खुले हैं। यह एक जबरदस्त हक़ीक़त है।' सच तो यह है कि उनके इस विश्वास और निश्चय ने ही मुझे सबसे अधिक अपनी ओर खींचा।"

यह प्रतिक्रिया एक विचार-प्रधान व्यक्ति की है। एक विचारक अपने श्रोता को सोचने पर तो मजबूर कर सकता है लेकिन अपने सिद्धान्त पर उसका विश्वास उत्पन्न कराना उसके बस की बात नहीं है। यहाँ जहाँ गुरुदेव की कथनी जिज्ञासु की बौद्धिक शंकाओं का समाधान कर रही थी, वहाँ उन की रहनी सहज में ही उसके मन में विश्वास की भावना को दृढ़ करती गई। उनकी तर्कशक्ति अत्यन्त प्रबल थी, लेकिन उससे भी कहीं अधिक प्रभावशाली उनका मौन था-उनकी आत्मस्थिति थी। इस स्थिति ने अनेक संतप्त हृदयों में सांत्वना और आस्था का संचार किया। इन्हीं जिज्ञासु ने अपने एक दिन पहले के अनुभव का वर्णन इस प्रकार किया है :

"१६४८ का लम्बा-लम्बा वर्ष मेरे लिये गहरे दुःख का समय था मैंने अपनी आँखों के सामने संसार की अस्थिरता को देखा था। जब मैं अपने उस समय को याद करता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि मैंने आत्म हत्या क्यों न कर ली मुझे अपने जीवन के बने रहने पर ही हैरानी होती है।

"इन्हीं दिनों सन् १६४८ के अन्तिम महीनों में मेरे मित्र राजाराम जी ने मुझे सद्गुरुदेव के सम्बन्ध में बताया। मैं उनके साथ अपनी निराशा को समेटे हुये जगद्गुरु के पवित्र चरणों में जा उपस्थित हुआ। क्या देखता हूँ कि मेरी आशा के विपरीत देववृत्त किसी साधु अथवा संन्यासी के वेश में न होकर आम सादा सफ़ेद वस्त्र पहने हुये बैठे हैं। कमर में तहबन्द, तन पर बहुत मामूली सा कुर्ता, सिर पर पगड़ी और शरीर पर सफ़ेद चादर ओढ़े गुरुदेव अपने भक्तों

और श्रद्धालुओं को जीवन का रहस्य समझा रहे थे। उनके चेहरे पर गम्भीरता और बुजुर्गी झलक रही थी। वे बड़े सहज भाव से जीवन की जटिल समस्याओं का विश्लेषण कर रहे थे। उनकी साधारण पंजाबी भाषा उनके विचारों की गम्भीरता से कभी - कभी लड़खड़ा उठती थी। सबसे पहली प्रतिक्रिया जो मेरी तड़पती आत्मा पर हुई वह यह थी कि मैं अपने-आप में खोकर रह गया। आज लम्बी अवधि के बाद मैंने अपनी पुरानी मानसिक शांति का फिर से अनुभव किया। लगता था कि जैसे मरुस्थल की लम्बी यात्रा के बाद किसी नखलिस्तान (मरुद्यान) में जा पहुँचा हूँ। जलते हुए मन ने एक ठंडक और शांति महसूस की। मुझे लगा कि आज मेरा सम्बन्ध एक असाधारण व्यक्तित्व से हुआ है।

"श्री सद्गुरुदेव शारीरिक सुख और भोग-विलास की अस्थिरता और उनसे उत्पन्न दुःख और संताप के सम्बन्ध में बोल रहे थे। वे अपने अनुभव के आधार पर योग की उस अन्तिम स्थिति का भी वर्णन कर रहे थे जहाँ पहुँच कर जीव के समस्त संशय लीन हो जाते हैं और समस्त दुःख और संताप समाप्त हो जाते हैं, और जीव अपने-आप में मस्त हो जाता है।

"सत्सङ्ग के बाद गुरुदेव ने श्रोताओं से कोई प्रश्न पूछने को कहा। मैंने दो शब्दों में अपने संताप के सम्बन्ध में संकेत किया। गुरुदेव के मुख पर एक कोमल मुस्कान और वात्सल्यभाव खिल उठे। वे कहने लगे, 'लाल जी, जितनी कोशिश उस तरफ़ की है उससे आधी भी अगर इस तरफ़ की होती तो बाजी जीत गये होते ! अब बहुत हो चुकी है- ज्यादा जिद न करो।' मेरे विचार में शायद ही कोई व्यक्ति इस बुझारत को समझ सका हो। उनके शब्द मेरे मन के कोने-कोने में गूँजने-से लगे। मेरी आँखें भर आईं और गला रुक गया। उसके बाद मैं अपने-आप में ही उलझा रहा मुझे कुछ ध्यान न रहा कि अन्य लोग क्या कह रहे हैं। लेकिन योगीराज का मेरे मन की गहराइयों में इस तेजी से पहुँच जाना मुझे उनके चरणों में झुकाये बिना न रह सका।"

यह प्रेमी अपनी कामना -जनित खिन्नता को लेकर गुरुदेव के पास आये थे। वे उस कामना में इतने उलझ गये थे कि सिवाय अपने इच्छित विषय के किसी अन्य वस्तु में उनकी रुचि न रह गई थी। इसलिये उनके दुःख ने उन्हें पूरी तरह दबा रक्खा था। गुरुदेव के सान्निध्य में उनकी अतृप्त कामना ने उनका पीछा छोड़ दिया। उनकी सहज प्रवृत्तियाँ फिर से क्रियाशील हो गई। गुरुदेव के उत्तर ने दुःख और कष्ट में निहित अनन्त सम्भाव्यताओं पर उन्हें सोचने को मजबूर कर दिया। आज उनमें क्षमता आ गई कि वह अपने दुःख को अलग हो कर देख पायें। उन्हें दुःख से छूटने का नया रास्ता दिखाई दिया-मनो कामना की पूर्ति का नहीं; बल्कि उससे अलग होने का।

सत्पुरुष के व्यक्तित्व का प्रभाव केवल विचारवान् लोगों पर ही नहीं पड़ता था। क्या विद्वान् और क्या मूर्ख, क्या वृद्ध और क्या बालक - जो कोई भी उन की शरण में आया, खाली नहीं लौटा। पावस के उस मेघ ने हर बियाबान को हरा कर दिया। उनकी स्थिति मात्र से संतप्त संसारी जीवों के दुःखों का हरण किस प्रकार होता रहा - इसका कुछ आभास इस जीवन चरित में देने का प्रयत्न किया गया है। परन्तु सर्वप्रथम उनके शैशव और बाल्यकाल की कहानी को कहना है।

अध्याय – २

मंत्रद्रष्टा

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्[१]

गीता ६-४२

गुरुदेव का जन्म एक कसाल ब्राह्मण परिवार में हुआ था। पिता का नाम था पं० गौरी शंकर और माता का श्रीमती गणेशी देवी । पिता रावलपिण्डी के सुप्रसिद्ध धनिक सरदार सुजान सिंह के कारमुख्त्यार थे। सरदार साहब आप की सत्यप्रियता, संतोष और ईमानदारी से अत्यन्त प्रभावित थे । सारा धन आप को सौंप रक्खा था । आपके आने पर सरदार साहब खड़े हो जाते थे । उनकी इच्छा आप को एक हवेली देने को थी, लेकिन आपने उसे लेने से इन्कार कर दिया । सत्य, अपरिग्रह और पूजा-पाठ ही आपकी सम्पत्ति थे । जब सरदार सुजानसिंह के पुत्र की मृत्यु हुई, तब आपने सारी एस्टेट का नौ लाख रुपये का चिट्ठा सरकार को सौंप दिया।

गुरुदेव के दादा पण्डित सुन्दरदास जी तो सही अर्थ में संत थे। उनके जीवन का एक बड़ा भाग शबकदर और बनिहाल (काश्मीर) के घने जंगलों में तपस्या करते बीता। उनके जीवन की कहानी भी अनोखी कहानी है । उसकी एक

---

१. अथवा ज्ञानवान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है ।

संक्षिप्त झलक स्वयं गुरुदेव के शब्दों में इस प्रकार है :

"इस शरीर के दादा महाराजा रणजीतसिंह की फ़ौज में रिसालादार थे। उनके दो लड़के थे जो कि बहुत अच्छे घुड़सवार थे। कहीं लड़ाई में वे मारे गये इस पर उनके पिता (दादा जी) को वैराग्य हो गया और वे घर-बार छोड़कर फ़कीर बन गये सुन्दरदास के मामा जी के लड़कों ने उनकी बड़ी खोज की, लेकिन उनका कोई पता न चल सका। आखिर स्यालकोट में एक फ़कीरों के टोले में उन्हें पहचान लिया गया और घर लौटा लाया गया।

"घर तो वे किसी तरह आ गये, लेकिन घर में न रहकर वह बाहर एक कुएँ पर रहने लगे। उनकी एक वैरागी फ़कीर से भेंट हो गयी। यह फ़कीर कोई सात-आठ मील के फ़ासले पर रहता था। वह बहुत पहुँचा हुआ फ़कीर था। वह यू० पी० (उत्तर प्रदेश) में भी आया था और उसने यहीं कहीं समाधि ली थी। पं० सुन्दरदास ने उसकी बड़ी सेवा की। साठ साल की उम्र में उनके यहाँ एक लड़का उसकी मेहरबानी से हुआ। कहते हैं कि उस संत ने यह भी कहा था कि यह लड़का बहुत विद्वान, धर्माचारी और सदाचारी होगा और इस लड़के का [सब से] छोटा लड़का परम संत होगा पण्डित सुन्दरदास का लड़का गौरीशंकर ऐसा ही हुआ। इनके पिता बहुत नेक, ईमानदार और पूजापाठी थे।"[१]

पण्डित सुन्दरदास इस तरह गृहस्थ होते हुये भी विरक्त ही रहे। एक सौ पच्चीस वर्ष की दीर्घायु को प्राप्त करके उन्होंने शरीर त्याग किया।

गुरुदेव अभी चार वर्ष के ही थे कि पिता का देहान्त हो गया।[२] मरने से

---

१. प्रस्तुत विवरण श्री ओम कपूर से प्राप्त हुआ है। पूज्य सुन्दरदास जी के एक छोटे भाई भी थे नाम था प्रभुदयाल।

२. तिथि का पता नहीं चल सका।

पहले उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्रों-श्री ठाकुरदास जी और श्री किशनचन्द जी को कहा कि मंगत का भविष्य महान् होगा और वे उसका ध्यान रक्खें। पण्डित गौरीशंकर जी ज्योतिषविद्या के ज्ञाता थे।[१]

बालक मंगत में शिशु-सुलभ चंचलता का अभाव था। नौ-दस मास की अवस्था में भी गुरुदेव में असाधारण गम्भीरता थी । आप न तो चीखते-चिल्लाते और न ही हँसते-खेलते । ऐसी गम्भीरता चिन्ता का विषय बन सकती थी, लेकिन आपके पिता आपके भावी जीवन का कुछ अनुमान लगा सके थे । रहीं माता सो वह तो अपने इकलौते पुत्र के प्रेम में खो गयी थीं। पति के देहावसान के बाद तो आप उनके जीवन के केन्द्र बन गये । आहिस्ता-आहिस्ता बालक बढ़ने लगा - और साथ ही उसकी गम्भीरता भी । आधी रात के समय जब माँ सो जातीं तो आप उठकर चारपाई पर बैठ जाते और ध्यान-मग्न हो जाते । माँ की आँख खुलती देखतीं, मंगत बैठा हुआ है सोचतीं, शायद डर गया है । बड़े प्यार से सोने को कहतीं । उस समय तो आप लेट जाते, लेकिन ज्यों ही माँ की आँख लगती, आप फिर बैठ जाते । बहुत देर के बाद आप को नींद आती । गुरुदेव की आयु इस समय केवल पाँच वर्ष की थी ।

बालक की आन्तरिक स्थिति क्या थी जिसके कारण उसकी हँसी-खुशी जाती रही - भूख-प्यास और नींद विलीन हो गयीं ? गुरुदेव के साधनकाल के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं है । उनके प्रेमी चाहते थे कि उनकी एक प्रामाणिक जीवनी उनके जीवनकाल में लिखी जाती । लेकिन इस इच्छा के पूर्ण होने से पहले गुरुदेव परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये । इस तरह उनकी आन्तरिक स्थिति का हर वर्णन अधूरा ही रहेगा कुछ इखरे-बिखरे संकेतों से अनुमान-भर

---

१. लेखक की उपस्थिति में स्वयं श्री गुरुदेव ने इस बात की चर्चा की थी (दिसम्बर ६, १६५१) २. पं० गौरीशंकर जी के दो विवाह हुये थे । पहले विवाह से श्री ठाकुरदास जी और श्री किशनचन्द जी का जन्म हुआ था और दूसरे विवाह से श्री गुरुदेव और उनकी दो बहनों— श्रीमती कर्तारदेवी और श्रीमती देवकीदेवी का जन्म हुआ । गुरुदेव सबसे छोटे थे ।

लगाया जा सकता है। लेकिन उनके अन्तःकरण में होने वाली घटनाओं और उतार-चढ़ाव को मूर्तरूप दे पाना अब शायद सम्भव नहीं हो पायेगा।

एक बार गुरुदेव ने एक प्रश्न के उत्तर में अपनी शैशवकालीन स्थिति

इशारा इस प्रकार किया था :

जिज्ञासु : महाराज जी, आपके गुरु कौन हैं ?

गुरुदेव : बच्चू, इनका गुरु परमेश्वर आप ही है संसार में गुरु धारण करने की तब जरूरत होती है जब अन्दर कमी हो। शुरू से यानी बचपन से ही प्रभु ने जाग्रति बख्शी है। इनका शरीर जब तीन बरस का था तब से ही ऐसी हालत है। अन्दर से हर एक बात की सोझी (सूझ) थी, मगर संसार में मर्यादा के साथ चलना पड़ता है प्रारब्ध-वश आखिरी जन्म ऐसी जगह हुआ जहाँ के लोग आम संसारी थे। बड़ी ही रक्कड़ धरती के रहने वाले हैं ! उन जैसा ही बनकर रहने की आज्ञा रही प्रेमी, इन्हें कोई पता नहीं कौन गुरु हैं और कौन चेला। यह संसारी नीति है। अथाह, बे-अन्त मालिक की जात है। उसकी मौज में सुबह-शाम दिखायी नहीं दे रही हैं |

इस ज्ञानराशि को अपने में ही समेट कर उस अबोध दीखने वाले बालक ने स्कूल जाने की लीला रची। वे सब कुछ जानते हुये भी अनजान बने रहे। जब उनके इष्ट परमेश्वर ने सब-कुछ रच कर भी अपने आप को छिपाये रक्खा, तो उसके प्यारे भी यदि अपने गुण और ज्ञान को छिपाये रखें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ? यही सत्पुरुषों की रीति रही है।

स्कूल आपने पाँच वर्ष की आयु में जाना आरम्भ किया। स्कूल शुभस्थान गंगोठियाँ से तीन मील दूर डेरा खालसा नामक गाँव में था। ईश्वरप्रेम में

मतवाले गुरुदेव उस अवस्था में भी खाने-पहनने से उदासीन रहते थे। एक दिन माँ ने आपको अतलस का कोट पहना कर स्कूल भेजा। शाम को माँ क्या देखती हैं कि मंगत एक पुराना कोट पहन कर चला आ रहा है गुरुदेव ने एक निर्धन बालक को अपना कोट पहना दिया था और उसका स्वयं पहन लिया था इसी प्रकार कभी कपड़े ग़ायब हो जाते तो कभी जूते माँ के दिये परांठे तो रोज ही दूसरे बच्चों के पेट में चले जाते थे और स्वयम् बालक मंगत सूखी रोटियों पर पल रहा था रही पढ़ने की बात सो घर में उधर भी कम ही ध्यान दिया जाता था। माँ की चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वह हैरान थीं कि किस तरह मंगत अपनी कक्षा में प्रथम आ जाता है ? रही-सही कसर तब पूरी हो गई जब गुरुदेव देर से घर लौटने लगे यह सिलसिला दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा माँ रोज़ ही द्वार पर खड़ी उनकी बाट जोहतीं। गोधूलि की बेला उतर आती, लेकिन उनका मंगत न आता। अनेक प्रकार की आशंकाओं से माँ का मन डरा रहता। जब गुरुदेव रात गये लौटने लगे तो माँ का धीरज टिक न सका। उन्हें लगा कि शायद बालक के दिमाग़ में कोई खराबी है पागलपन की उपाधि तो हर ईश्वर के प्यारे को विरासत में ही मिलती है उस गाँव में ऐसे रोग का उपचार मौलवी और ओझा किया करते थे। मौलवी ने गले में तावीज़ डाल दिये; ओझाओं ने जन्त्र-मन्त्र द्वारा उपचार किया। लेकिन रोगी का रोग बढ़ता ही गया आहिस्ता-आहिस्ता मंगत "मंगतू सौदाई" हो गया।

अन्य बालकों के मुकाबले मंगत “सौदाई" तो था ही ! वे उछलते-कूदते, लड़ते-झगड़ते घर लौटते थे। लेकिन उनका सहपाठी सदा उनसे अलग रहता था। वे घर लौटने को उत्सुक रहते थे- भूख उन्हें घर की ओर खींचे लिये जाती थी लेकिन गुरुदेव घर जाने की बजाय किसी एकान्त स्थान में जा बैठते थे। किताबें एक तरफ़ पड़ी रहतीं। दिन डूब जाता। अँधेरा होने लगता और तारे निकल आते। घर में माँ उनकी राह देखतीं और इधर उनका बेटा अपने प्रियतम की राह जोहता।

बहुत दिनन की जोहती, बाट तुम्हारी राम |
जिय तरसे तुम मिलन को, मन नाहीं बिसराम ॥
नैना अन्तर आव तू, निस दिन निरखूं तो हो।
कब हरि दरशन देहुगे, सो दिन आवे मोहि ॥

ऐसे मतवाले मंगत की तलाश में माँ अधीर होकर घर से निकल पड़तीं। गंगोठियाँ के आस-पास का इलाका ऐसा ऊबड़-खाबड़ था कि वहाँ छिपे आदमी को ढूंढ पाना बहुत मुश्किल था। पास में ही एक घना जंगल था जिसे पीर ख्वाजा जंगल कहा जाता था। उस जंगल में जाने का लोगों को साहस न होता था। अक्सर लोग पीर को प्रसन्न करने के लिये बलि दिया करते थे। इधर गुरुदेव थे कि जो बालावस्था में भी उस जंगल में जाते न घबराते थे माँ जब उन्हें ढूंढने निकलतीं तो डर के मारे सहम-सी जातीं। जब गुरुदेव को लौटते देखतीं तो उनकी जान में जान आती। उन्हें समझाने की भरसक कोशिश करतीं, लेकिन गुरुदेव उनकी बात को हँस कर उड़ा देते। कहते, "माँ डरा न करो ! इन्हें पीरख्वाजा कुछ नहीं कहता।" गुरुदेव की शाँत मुख - मुद्रा को देखकर उन्हें धीरज आता। किसी भी पागल के चेहरे पर ऐसी शाँति माँ ने न देखी थी ! न ही उन जैसी ठण्डी आँखों को कहीं देखा था। उनका अपना ही बेटा उनके लिये पहेली था, उलझन था। परमार्थ का तत्त्व मोह का त्याग करने पर समझ में आता है। इधर माँ थीं कि वह अपने मोह के कारण ही उस तत्त्व को समझने जा रही थीं। धन्य है उनका भाग्य ! लेकिन इस समय तो वह पुत्र के कारण हर समय चिन्तित रहती थीं।

माँ की चिन्ता का तब कोई अन्त ही न रहा जब गुरुदेव रात को भी घर से बाहर रहने लगे। आठ वर्ष के बालक को बिछौने पर न पाकर माँ पर क्या बीती होगी—इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। उस गाँव में माँ की उस व्यथा को किसी ने जानने-समझने की कोशिश न की थी। लेकिन वह रात उनकी कैसे कटी होगी - सहृदय व्यक्ति ही इसे समझ सकता

है। यह भी सोचना मुश्किल नहीं कि सुबह जब गुरुदेव लौटे होंगे तो माँ की मनोदशा कैसी रही होगी। बालक की सहज मुस्कान ने-उसकी आँखों की सदा की ठण्डक ने उन्हें फिर से आश्वस्त किया होगा। उस दृश्य को मनोपटल पर देखने के लिए वाल्मीकि को आँख चाहिये। वैसी प्रतिभा ही उसका दर्शन करा सकती है। लेखक तो कोरी चर्चा ही कर सकता है।

शनैः-शनैः माँ की ममता ने ही उन्हें अपने पुत्र के गहरे व्यक्तित्व को समझने के लिये मजबूर किया। वे देख रही थीं कि जहाँ एक ओर उनका पुत्र प्रेम का अक्षय पुंज है, वहाँ दूसरी ओर वह अथाह निर्वेद का अवतार है। जहाँ एक क्षण में उसकी आँखों में प्रेम छलक उठता है, वहाँ दूसरे ही क्षण में वे आँखें खुली होने पर भी कुछ नहीं देख पातीं। ऐसे विरोधात्मक व्यक्तित्व को केवल माँ का ही प्रेम समझ सकता था। अन्त में माँ ने भी गुरुदेव की स्थिति को समझा और उन्हें रात बाहर काटने की इजाजत दे दी। आधी रात के समय गुरुदेव एक गहरी घाटी में नदी के किनारे एक शिला पर बैठ जाते और मालिक की याद में खो जाते। जीवनपर्यन्त उनकी रातें आसमान तले कटती रहीं। बाद में भी जब उनके शिष्य सो जाते थे तब गुरुदेव बाहर एकान्त में जाकर समाधिस्थ हो जाते थे। सर्दी में, गर्मी में, आँधी और बारिश में उनका यह नियम चलता रहा। अपनी सारी आयु में जो रातें उन्होंने छत के नीचे काटीं वे अक्षरशः उंगलियों पर गिनी जा सकती हैं।

जब गुरुदेव ने चौथी क्लास पास कर ली तो वे कल्लर चले गये। यह कस्बा गंगोठियाँ से छः मील दूर था। गुरुदेव की बहन, श्रीमती कर्तारदेवी, यहाँ ब्याही हुई थीं। उन्हीं के यहाँ ठहर कर आगे की शिक्षा आरम्भ की। आपका रहन-सहन पहले की तरह ही रहा। कपड़ों की कभी परवाह न करते थे; पैरों के जूते भी अक्सर घर में ही पड़े रहते थे। फिर भी अध्यापकगण आपके शील और योग्यता से बहुत प्रभावित थे। कई बार कक्षा में बैठे-बैठे आपकी आँखें बन्द हो जाती थीं। तब अध्यापक और इनके सहपाठी पढ़ाई का काम छोड़

कर इन्हें देखते रह जाते थे जब आँखें खुलतीं तब आप झट-पट काम शुरू कर देते। स्कूल में अक्सर आपको सदाचार पर उपदेश देने को कहा जाता था। वहाँ आप "लाट पादरी" के नाम से प्रसिद्ध थे। लेकिन कोई भी सहपाठी अथवा अध्यापक आप से मजाक नहीं करता था।

कल्लर में भी गुरुदेव की दिनचर्या पूर्ववत् ही रही। स्कूल से लौटते ही पढ़ाई का काम करते इस काम में इन्हें अधिक समय न लगता था। ग़जब की स्मरण शक्ति थी। जो बात एक बार पढ़-सुन लेते उसे कभी न भूलते थे। काम ख़त्म करके आप बाहर किसी एकान्त स्थान में चले जाते थे। साँझ को लौट कर ही कुछ नाश्ता करते। अपने बहनोई साहब पं० साईं दास जी से इनका बहुत प्रेम था। साँझ को उनसे ज्ञानचर्चा होती रहती। रात्रि को जब सब लोग सो जाते तब आप चारपाई पर बैठ जाते। कोई दो बजे रात आप बाहर सुन सान में जा बैठते और जब लोगों के जागने का समय आता तब घर वापस लौट आते और सो जाते। चाहते थे कि किसी को पता ही न चले कि वे क्या करते हैं। उधर स्कूल में भी आप बहुत विनम्र और विनयशील रहते थे। लेकिन फिर भी आपकी रहनी - कथनी अपना प्रभाव डाले बिना न रह सकी हैडमास्टर रामदास जी का कहना था, - " मंगत या तो वजीर बनेगा या फ़कीर। हालात तो ऐसे नजर आते हैं कि यह दुनिया से कोई वास्ता न रखेगा।"

जब आप सातवीं श्रेणी में पढ़ते थे तब आपने चालीस दिन तक कठिन तप किया चालीसा सम्पूर्ण करने के बाद आप बहुत प्रसन्न दिखायी देने लगे; लेकिन शरीर कमज़ोर हो गया। इतनी छोटी-सी आयु में ऐसा कर पाना कोई साधारण बात नहीं थी सम्बन्धी लोग हैरान थे गिरी हुई शारीरिक सेहत को देख कर चिन्तित भी थे। उन्होंने उपचार करने के लिये जोर दिया। उनका मन रखने के लिये आपने दवा लेना शुरू किया। कुछ ही दिनों में आपकी तबीयत ठीक हो गई।

कल्लर में एक रात हुई घटना आपने एक प्रेमी को सुनायी थी। घटना इस प्रकार थी :

सावन का शुरू था। एक रात आप घर से निकल पड़े। काली अमावस्या की रात थी । बादलों के कारण अन्धकार की परत और भी गहरी हो गयी थी। समय का ठीक पता न चला। "कल्लर से चलते-चलते काफी दूर निकल गये । जो रास्ता 'चोहाँ भक्तों' की तरफ़ जाता था उस तरफ़ तेज-तेज कदम उठाये । काली अँधेरी रात की वजह से पाँव फिसल गया। गहरी खाई में जाने (गिरने) का पता चल रहा था - सीधे खड़े-खड़े नीचे जा रहे थे। बस इतना ही मालूम हुआ कि किसी लम्बे-लम्बे कोमल हाथ वाले ने गोद में ले लिया है। फिर होश न रही।"

जब सूरज निकला और दिन चढ़ आया तो आपने अपने को एक नदी के किनारे पाया । कुछ देर बाद पाँव फिसलने, गिरने और गोद में लेने की सारी बात याद आ गई । नजर उठा कर ऊपर देखा तो बड़ी ऊँची चोटी दिखायी दी । "वाह मेरे मालिक, तू बड़ा ही बेपरवाह है, किस तरह हाथों से पकड़ कर यहाँ रख दिया है !"

ये शब्द आपके मुख से निकले । बड़ी देर तक नदी के किनारे बैठे रहे । दोपहर के बाद वहाँ से एक आदमी गुजरा। उससे "चोहाँ भक्तों" की ओर जाने वाला रास्ता पूछा। उसने कहा, "इस ओर ऊपर जाओ । वहाँ से सीधा रास्ता निकल जाता है।" फिर उठकर कपड़े उतारे, स्नान किया । शरीर पर कोई चोट न लगी थी- कहीं रगड़ तक का निशान न था । स्नान करके फिर वहाँ ही एक ओट में बैठ गये । चोहाँ भक्तां जाने का विचार छोड़ दिया । शाम को वहाँ से उठे और कल्लर लौट आये । घर पहुँचने पर आपके बहनोई साहिब कुछ नाराज हुये। पूछा, "किधर गये थे ? कह कर तो जाना था ! " गुरुदेव चुप होकर सब कुछ सुनते रहे । कोई उत्तर न दिया ।

यह घटना सुना कर कहने लगे, "इसी प्रकार समय गुजरता रहता था। काफ़िले वाले चलते रहते हैं, संसारी लोग आवाजें कसते रहते हैं। प्रेमी, संसा रियों का अपना ही रास्ता है। फ़कीर अपने स्वभाव से चलते है। साँसारियों से मेल-जोल रखना कठिन हो जाता है। "[१]

आठवीं श्रेणी में पहुँचते ही मन बहुत उदास रहने लगा। आपने शुरू कर दिया कि आठवीं पास करने के बाद पढ़ाई बन्द कर देंगे। कहते, "इन्हें दूसरी पढ़ाई पूरी करनी है।" आस-पास के लोगों से सम्बन्ध टूटता जा रहा था--वृत्ति लगातार अन्तर्मुखी होती जा रही थी। सिवाय ईश्वर नाम के और किसी वस्तु का मोह न रह गया था। उन दिनों की स्थिति का वर्णन आपने एक दिन इस प्रकार किया था :

"आठवीं जमायत (कक्षा) में थे। तेरह वर्ष की आयु थी। मन बहुत उदास हो रहा था। बड़े दिनों की छुट्टियों में सब बस्ता वगैरा लेकर गँगोठियाँ पहुँचे सर्दी उन दिनों जोरों पर थी। गाँव की मातायें रात को माताजी के पास आकर चरखा काता करती थीं। साथ में बातें भी करती रहती थीं। इधर मोतीराम के यहाँ हम उमर इकट्ठे हो जाते। बात-चीत होती रहती यह थोड़ी देर बैठ कर घर चले आते। इतने में मातायें उठ कर अपने-अपने घर चली जातीं। माता सोने को कहतीं और बिस्तर बिछा कर सुला देतीं। माता के सो जाने पर यह उठ कर बैठ जाते।

"घर पर आये हुये अभी दो-चार ही दिन हुये थे कि मन बहुत उदास रहने लगा। रोना और आहें भरना शुरू हो गया। अधिक से अधिक अलग रहते और मन यही कहता, 'दीन दयाल, कृपा कर ! कृपा कर !' एक दिन शाम के समय जंगल पीर-ख्वाजा में बैठे हुये थे अँधेरा हो गया, पर घर वापस जाने

---

१. यह घटना भगत बनारसी दास जी को नवेतर पर्वत पर सुनायी थी। भगत जी पैर फिसलने पर तब पहाड़ से नीचे लुढ़क गये थे।

को दिल न करता था। आखिर माँ का ध्यान आया और वहाँ से चल दिये। रास्ते में एक दीवार पर आकर बैठ गये। इधर माता लैम्प लिये हुये आवाजें लगाती हुयी आ पहुँचीं आवाज सुन कर उठ खड़े हुये और मन में विचार उठा कि यह बन्धन भी बड़ा अजीब और रुकावट वाला है। दूसरा विचार उठा कि तू इनकी सेवा का बदला नहीं दे सकता। ईश्वरीय शक्ति माता के रूप में प्रकट हो रही है। रास्ते भर माता बहुत कुछ कहती रहीं। चुप-चाप सुनते रहे।" माता का प्रेम भी अनोखी क़िस्म का होता है ! उनका मन रखने के लिये लस्सी वाले साग के साथ चार-पाँच ग्रास खा लिये। तब माता ने कुछ ग्रहण किया। विचार आया- 'यह सम्बन्ध भी आश्चर्यजनक है। किस प्रकार बच्चे से माँ की ममता होती है ! जब तक बच्चा न खा ले माँ के गले से कुछ नहीं उतरता। वाह प्रभु, तेरी माया अपरम अपार है ! जितना माता बच्चे से प्यार करती है उतना प्रेम अगर प्रभु में हो जाये तो काम बन जाये। कैसी मोहिनी माया प्रभु ने रच रक्खी है ! अच्छा ईश्वर, जैसी तेरी आज्ञा !' ऐसे विचारों में बुद्धि लीन हो गयी।

"रजाई ओढ़ कर लेट गये। माता चरखा कात रही थीं। दूसरी माताओं से बातचीत कर रहीं थीं। यह चुप मस्त पड़े रहे। जब वे चली गई तो माता ने पूछा, 'मंगत, तबीयत तो ठीक है न! आज जल्दी क्यों लेट गये हो ? रज़ाई के अन्दर से ही उत्तर दिया, 'नींद आई हुई है।' माँ भी लेट गई।

"थोड़ी देर के बाद उठकर पास आकर बोलीं, 'मंगत, बाजों की आवाज़ क्यों आ रही है ? तू क्यों बैठा हुआ है ? सोता क्यों नहीं ?' उत्तर दिया, 'माता जी, नींद नहीं आई थी। अब आ रही है सोने लगा हूँ। कोई बाजे- साजे नहीं बज रहे सपना देखा होगा।'

"उनके सामने फिर रजाई ओढ़ कर लेट गये। माता के सोते ही फिर उठ बैठे। कोई दो-तीन घण्टे गुजरने के बाद एक दम अन्तविखे

कोटि-कोटि सूरज के समान रोशनी हो गई। छत्तीसों क़िस्म के राग रागनियाँ और दमामे बजने लगे। पल-पल में अनेक रूपों का अनुभव होने लगा। बाहर की कोई सुध न रही।

"फिर जोर से आवाज आई, 'मंगत, यह रोशनी कैसी है ?' पता नहीं माता ने कितनी बार पूछा होगा। तब इधर से इतना ही कह सके, 'माता, शाँत रहो।' आँखें खोलीं तो बाहर भी जगमग प्रकाश देखने में आया। देख कर आँखें बन्द कर लीं ताकि वह मस्ती बनी रहे योग-मार्ग का गुप्त भेद सामने आ गया। प्रभु की अवगत महिमा ने अज्ञान दूर कर दिया जन्म जन्मान्तर का नक्शा सामने आ गया। सब कुछ तुच्छ अनुभव होने लगा। जिस्म व जान का पूरी तरह निर्णय हो गया। दिन-रात जिसकी तड़प थी वह नितगत (नित्यगति) सामने आ गई।

“उस वक्त शरीर की आयु १३ वर्ष की थी। सन् १९१६ के अन्तिम् दिन थे। 'जन्म-जन्म के बिछड़े प्रीतम आन मिले आज। तड़प-तड़प के पख मास बिताये पिया मिलन के काज।' 'साथी तू ही, अविनाशी तू ही, अखण्ड भी तू ही, तू ही सहायक, तू ही नित संगवासी' - अनेक प्रकार की भावनायें सागर की लहरों की तरह प्रगट होने लगीं। 'वाह मालिक ! तेरी अपार कृपा है।' यह भाव मन में उठा। तभी फिर जोर की आवाज आई, 'मंगत, यह रोशनी किधर से आ रही है ? '

"वृत्ति बहिर्मुखी हुई। कहा, 'माता, चुप होकर लेटती क्यों नहीं हो ?" इतना कहना ही था कि सारी माया लोप हो गयी। आँखें बन्द करके देखा - वैसी ही मौज तारी है। फिर झटपट उठकर देखा माता जी सो रही हैं। चारपाई छोड़कर पीर ख्वाजा जंगल की तरफ़ निकल गये। काली घटा छाई हुई थी। जोरों की सर्दी पड़ रही थी। हाथ को हाथ दिखाई न दे रहा था। पाँव अपने रास्ते पर पीर-ख्वाजा की ओर चल पड़े। सर्दी-

अँधेरे का अनुभव ही नहीं हो रहा था। जंगल के अन्दर एक जगह पानी के पास थोड़ी लोई (कमली) नीचे-ऊपर करके बैठ गये। फिर न सर्दी रही और न अँधेरा । प्रभु-मेहर में सारी रात गुजर गई। जब खुमारी उतरी तो देखा कि काफ़ी दिन निकल आया है। स्नान भी उस दिन करने का ध्यान न रहा ।

"इन दिनों सुबह तीन-चार बजे तरेल नदी के जल में नहा लेते थे। वैसे इधर आना नहीं हुआ करता था । नीचे की ओर जिस स्थान पर बैठा करते थे वहीं स्नान कर लिया करते थे। पता नहीं उस दिन क्यों इधर आना हो गया ! उठ कर इधर ही खड़े पानी में नहा कर डेरे पहुँच गये।

"आगे माई भाग[१] धूप में बैठी गीता पढ़ रही थीं— जैसा कि उनका नियम था । वहीं बोरी पर बैठकर सुनने लगे। कहा कि आरम्भ से फिर पढ़ कर सुनाओ। रात को जो महिमा सुनी थी वैसा ही विचार सुना । [विश्वास में] और भी अधिक दृढ़ता होने लगी। उसी दिन से उस तत्गत स्वरूप में स्थिति के लिये प्रयत्न होने लगा ।"[२]

एक बार माता भागवन्ती से इस सम्बन्ध में पूछा गया तो उन्होंने यों कहाः

"भगत मंगत एक दिन उसी समय आये थे जबकि मैं गीता पढ़ रही थी । मुझे याद नहीं कि कौन सा अध्याय था । पहले बैठे सुनते रहे । बाद में उनकी आँखों से आँसू गिरने लगे मेरा मन भी घबराने लगा; मगर पढ़ती रही । अध्याय जब समाप्त हो गया तो भगत उठकर अन्दर चले गये । इतना कहते गये, 'माता, तू भी धन्य है । माँ से इस बारे में कुछ न

---

१. गुरुदेव की चचेरी भाभी श्रीमती भागवन्ती ।

२. यह विवरण भगत बनारसी दास जी से प्राप्त हुआ है भगतजी वर्षों गुरुदेव की सेवा में रहे थे ।

कहना।' कमरे में चारपाई पर बैठ गये और लोई ओढ़ ली । बहुत पूछा कि क्या बात है, लेकिन कुछ न बोले। कहने लगे, 'जाओ, अपना काम करो' "

इन्हीं दिनों के एक और अनुभव के सम्बन्ध में भी आपने चर्चा की थी। वह इस प्रकार थी :

"उस रात के तीसरे दिन पानी के किनारे खड्ड में बैठे हुये इस महामन्त्र के तीन हरूफ़ (शब्द) 'ओ३म् ब्रह्म सत्यम्' प्रकट हुये । दूसरे रोज 'निरंकार अजन्मा अद्वैत पुरखा' और तीसरे रोज 'सरब व्यापक कल्याण मूरत परमेश्वराय नमस्तम्' प्रकट हुये। रोजाना एक काग़ज़ पर नोट करते रहे । फिर जब भी जंगल या एकान्त में बैठते, अथाह विचार अन्तर से प्रगट होते । लेकिन किसी के आगे बोलते नहीं थे । अकेले ही समय गुजरता था। जब प्रभु आज्ञा से पहली बार अहमदाबाद जाना हुआ तब महन्त[१] ने कुछ सवाल किये जिनपर कुछ बोलना हुआ, जोकि उसने लिख लिया। अब तुमने प्रभु प्रेरण से मौज को निकाला है। लिखने वाले बनो यहाँ किसी बात की कमी नहीं ।"[२]

आत्म-साक्षात्कार होने के बाद आप ईश्वर प्रेम में इतने डूब गये कि घर के वातावरण में रह पाना आपके लिये कठिन हो गया । मन में आया कि घर-बार छोड़कर निकल पड़ो - किसी गुफा में जा कर रहो। आपने स्यालकोट (पाकिस्तान) जाने का निश्चय किया । वहाँ पूरण भगत के कुएँ के पास कुछ योगी रहते थे जिनके कान बिंधे रहते थे । इसलिये उन्हें कनफटे योगी कहा जाता था । गुरुदेव ने इन्हीं योगियों के साथ रहने का संकल्प किया । जिस दिन यह संकल्प उठा उसके दूसरे ही दिन आप गंगोठियाँ से चल पड़े। घर पर कह दिया कि

---

१. महन्त रत्नदास - अहमदाबाद में कबीर गद्दी के महन्त ।

२. भगत बनारसी दास जी से एक वार्तालाप में से उद्धृत स्थान नखेतर पर्वत, समय मई-जून १९३८ ।

रावलपिण्डी जा रहे हैं। शाम को मन्दरा स्टेशन पर पहुँचे और लाहौर जाने वाली गाड़ी पर जा बैठे। वजीराबाद स्टेशन पर गाड़ी बदलनी थी। इसलिये वहाँ उतर पड़े थोड़ी दूर स्टेशन के बाहर इमारती लकड़ी के शहतीर पड़े थे। उन्हीं पर बैठे-बैठे रात काट दी। सोचा, "स्यालकोट जा कर क्या करना है ? कहीं आगे निकल चलो।" साँझ को लाहौर जा पहुँचे और मूलचन्द की सराय में ठहरे वहाँ रात को अन्दर से आवाज आई :

"तुम्हारा मिशन (उद्देश्य) कनफटा साधु बनना नहीं है। तुम्हें संसारियों को सच्चाई - सफ़ाई का मार्ग दिखलाना है। वहमों में फँसे जीवों को सत्मार्ग में लगाना है अभी और समय इसी तरह रहकर पक्के होने की कोशिश करो। तुम्हारा जीवन किसी को दुःख देने के लिये नहीं है।"[१]

इस आवाज़ को सुनकर गुरुदेव गंगोठियाँ लौट आये। कल्लर जाने पर पता चला कि इन्स्पेक्शन होने वाली है। एक अंग्रेज इन्स्पेक्टर आ रहे थे इन्स्पेक्शन करने उनके स्वागत के लिये जोरदार तैयारी हो रही थी। स्कूल की अच्छी तरह सफ़ाई करायी जा रही थी। लड़कों को सख्त हिदायत थी कि वे साफ़ सुथरे कपड़े पहनकर आयें। उन दिनों अंग्रेज अफ़सरों की क्या धाक थी - इसका अनुमान लगाने के लिये कुछ कल्पना-शक्ति की जरूरत है। इतना कह देना ही काफ़ी होगा कि उनके सामने हिन्दुस्तानी मातहतों की साँस तक फूलने लगती थी। इसलिये इन्स्पेक्शन वाले दिन हर किसी का मन आशंकाओं और कौतूहल से भरा हुआ था। लेकिन उसी दिन जबकि उद्दण्ड लड़के भी आज्ञाकारिता की

१. कुछ शिष्यों ने इस अन्स प्रेरणा को अन्य शब्दों में व्यक्त किया है, लेकिन भाव एक ही है। अनेक व्यक्तियों की गुरुदेव से इस सम्बन्ध में बातचीत हुई थी इसलिये शब्दों में कुछ अदल-बदल स्वाभाविक ही है एक प्रेमी ने इस अन्तःप्रेरणा को यों वर्णित किया है : "तुम्हारा मिशन कनफटे योगियों में शामिल होना नहीं है बल्कि तमोगुण के चक्कर में फँसी हुई जनता को आत्म-ज्ञान रूपी शस्त्र से उस फंदे से काटकर बाहर निकालना है।" एक अन्य प्रेमी ने इन्हीं भावों को सीधी-सादी भाषा में कहा है।

मूर्ति बने हुये थे, आज्ञाकारी और गम्भीर प्रकृति मंगत ही अध्यापकों के लिये सिर दर्द बन गया । आज भी उनका पहनावा पहले जैसा ही था । अध्यापकगण बौखला उठे । लगा कि यह मंगत जरूर उनकी लुटिया डुबोयेगा । हैडमास्टर रामदास जी ने हल्की-सी डाँट लगाई । कहने लगे कि मॉनीटर के नाते उन्हें विशेष ध्यान रखना चाहिये था। पहले आप चुपचाप सुनते रहे, फिर कहा, "लड़के की इज्जत अच्छी पढ़ाई और नेक चलन से होती है, न कि चमकीले भड़कीले कपड़ों से इन्स्पेक्टर इनकी अक्ल देखेंगे या इनके कपड़े ?"

यह बात आपने कुछ ऐसे ढंग से की कि हैडमास्टर मुस्करा कर चले गये । उन्होंने कोई उत्तर न दिया । जब इन्स्पेक्टर आये तो उन्होंने सबसे पहले आठवीं क्लास की इन्स्पेक्शन की।[१] उन्होंने विभिन्न विषयों पर प्रश्न पूछे जिनके अच्छे उत्तर उस क्लास ने दिये । अन्त में इन्स्पेक्टर ने धर्मकथा के सम्बन्ध में प्रश्न किया । प्रश्न था, "सेवा का क्या अर्थ है ? सेवा किसकी करनी चाहिये और इससे क्या फल मिलता है ?"

प्रश्न सुनकर अध्यापक और विद्यार्थी उलझ से गये । क्लास में किसी ने हाथ न उठया - सिवाय एक छात्र के । इन्स्पेक्टर का ध्यान उस हाथ पर न गया । जैसे ही वे रजिस्टर में कुछ रखने के लिये घूमे तभी उनकी दृष्टि उस हाथ पर पड़ी । हैडमास्टर ने तब एक दम कहा, "हाँ मंगतराम ! कहो, तुम क्या जानते हो ?"

आपने उठकर पहले तो इन्स्पेक्टर को नमस्कार किया, फिर बोले, "दुनिया की हर वस्तु सेवा कर रही है - सेवा करने के लिये ही पैदा हुई है । लेकिन इन्सान ग़रज रखकर सेवा करता है । ग़रज रखकर ही परिवार की, खानदान की, मित्रों की, पीरों, फ़कीरों और देश की सेवा करता है। ग़रज रखता हुआ

---

१. यह स्कूल मिडिल स्कूल था ।

ईश्वर-खुदा की भी सेवा-यानी दान-पुण्यादि करता है। बिना स्वार्थ के इन्सान मुश्किल से ही किसी की सेवा करता है। सबसे बड़ा कर्त्तव्य निष्काम सेवा है। ईसा, मोहम्मद, राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक आदि ने रब की याद और खलकत की सेवा करने पर ही जोर दिया है।

"अपने से बड़े बुजुर्गों - माता-पिता, अध्यापक, गुरु आदि की सेवा करना सबसे बड़ा कर्त्तव्य है। उसके बाद सम्बन्धियों और मित्रों की और फिर गाँव-शहर वालों की, देश की और सारे संसार की।

"गर्ज वाली सेवा से दुनिया के सुख मिलते हैं; निष्काम सेवा से निष्काम सुख मिलते हैं जो कभी भी समाप्त नहीं होते। ईश्वर हम सब को नफ़रत से परे रखता हुआ हर एक जीव की सेवा करने की अक्ल प्रदान करे जिससे उसके पास पहुँचने का रास्ता मिलता है। सच्ची सेवा उस खुदा की सेवा करना ही है।"

इतना कहकर आपने फिर हाथ जोड़े और बैठ गये। इन्स्पेक्टर सुनते रह गये - कपड़ों की ओर उनका ध्यान ही न गया। सबके सामने गुरुदेव की प्रशंसा करने लगे। शाम को हैडमास्टर साहिब ने घर पर बुलाया और कहा कि वे चाहते हैं कि गुरुदेव एम० ए० तक पढ़ें। वे आपकी पढ़ाई का खर्च भी उठाने को तैयार थे कहने लगे कि पढ़कर ही देश की सेवा हो सकती है।

आपने बड़ी विनम्रता से कहा, "आपकी बड़ी मेहरबानी है मगर इनके अन्दर की हालत समझायी नहीं जा सकती। आप नहीं जानते इनके अन्दर क्या लपटें उठ रही हैं ? इनका विचार तो बड़े दिनों की छुट्टियों के बाद इधर आने

---

१. उन दिनों स्कूलों में शिक्षा का माध्यम उर्दू थी। इस कारण कुछ उर्दू शब्दों को ज्यों का त्यों रहने दिया गया है कुछ एक का हिन्दी रूपान्तर दिया है।

का न था मालिक ने कुछ और मौका आपकी सेवा में रहने को दिया है। यह खुद बड़े मजबूर हैं-हमारे बस की बात नहीं। आप संसारी हालात को बेहतर बनाने के लिये कह रहे हैं - इधर संसार की ओर मन ही नहीं जा रहा है। पता नहीं मेरे मालिक की क्या आज्ञा है ? आप बड़े ही महान हैं जो इस नाचीज़ का ध्यान रख रहे हैं। आप पिता समान हैं। आपके इस उपकार को भूल नहीं सकता। बच्चा जानकर क्षमा कर देना। दोबारा सेवा में विनती है कि इनके बस की बात नहीं - वरना आप की कृपा को जरूर क़बूल करता।"

इतना कहकर आपने उनके पाँव छुये और वापस घर को लौट पड़े रास्ते में पीछे मुड़ कर देखा। हैडमास्टर उसी तरह खड़े थे।

आठवीं क्लास की परीक्षा समीप आ रही थी। स्कूल में अतिरिक्त क्लासें लगने लगीं ताकि डिस्ट्रिक बोर्ड की परीक्षा में स्कूल के परिणाम अच्छे निकलें। इन अतिरिक्त क्लासों में गुरुदेव नहीं गये। कहने लगे कि अधिक समय नहीं दे सकते हाँ, अध्यापकों के कहने पर अन्य विद्यार्थियों को दो घण्टे प्रतिदिन पढ़ाते रहे। इसी बीच हैडमास्टर साहिब और पंडित साईंदास जी की सिफ़ारिश पर वहाँ के बेदी बाबा खेमसिंह के दो पोतों को पढ़ाने के लिये उनके घर गये बाबा की गुरु गद्दी थी राजसी ठाठ था। पीरी और अमीरी एक साथ चल रही थीं। पहले दिन ही आप के सामने खूब फल- मेवे और मिठाईयाँ लाकर रखी गई। लेकिन आपने कुछ न खाया। दो-चार ही दिन में दोनों लड़के पढ़ाई से ऊब गये कहने लगे, "हम तो आप को इसलिये लाते हैं कि आपके दर्शन होते रहें। चलिये घोड़े पर सैर करने चलें ! कुछ शुगल हो जायेगा।"

उत्तर दिया, "भाई, अमीर-गरीब का क्या साथ है ? गुरु होकर भी तुम्हारा राक्षसी स्वभाव बना हुआ है ! अपने स्वाद के लिये चिड़ियाँ मारते फिरते हो और उन्हें दुःख दे रहे हो ! .....क्या बाबा नानक की यही शिक्षा

है ? इनसे प्रेम रखना चाहते हो तो कुछ कुर्बानी करनी पड़ेगी। अपनी खुराक, लिबास और बोलचाल सात्त्विक करनी पड़ेगी। आगे से इधर नहीं आ सकेंगे। पढ़ना हो तो गरीबों के डेरे पर आ जाया करो। इस से शान कम न होगी।"

परीक्षा में प्रथम आये। हैडमास्टर साहिब ने पढ़ाई जारी रखने की फिर प्रेरणा दी लेकिन आप नहीं माने। कहने लगे, "संसारी पढ़ाई काफ़ी पढ़ ली है। इनका मुद्दा पूरा हो जायेगा। असली तालीम को पूरा करना है जिस करके संसार में आना हुआ है।"

पढ़ना अक्षर एक का, और सकल है जाल।
जाँ पढ़ने दुर्मत गयी, परगट भये दयाल॥
वक्त जात है बावरे, रस्ता है बहु दूर।
अटपट औखद घाट है, चढ़ कर होवें मनूर॥
पढ़ना एको नाम का, और पढ़न दे त्याग।
मंगत निश्चल चित्त होवे, प्रेम हरिरस लाग॥

जिस दिन आपने स्कूल छोड़ा उस दिन आपके सहपाठी और अध्यापक प्रेम से द्रवित हो गये वे तीन मील पैदल आप के साथ आये आपने उन सब को हाथ जोड़कर वापस जाने को कहा। कोई वापस जाने को तैयार न हुआ। सब के सब एक पेड़ के नीचे खड़े रहे। सबकी आँखों में आँसू उमड़ आये थे यह देखकर आप स्वयं ही हाथ जोड़कर चल पड़े। जब काफ़ी दूर चले आये तो आप ने मुड़कर क्या देखा कि आपके साथी और अध्यापक अब भी वहीं खड़े हैं।

अध्याय – ३

मातृऋण

गंगोठियाँ लौट आने के बाद गुरुदेव निरंतर प्रभु-अनुराग में निमग्न रहने लगे। रात को दो या तीन बजे तरेल नदी के किनारे एक पत्थर पर जा बैठते और दिन के कोई दस बजे लौटते। दोपहर बाद पीर-ख्वाजा जंगल में चले जाते और अँधेरा होने के बाद वापस आते। यह जंगल, जैसे कि पहले कहा जा चुका है, बहुत घना और सुनसान था। गाँव वालों का विश्वास था कि वहाँ जंगली जानवरों के अलावा भूत-चुड़ैल भी वास करते हैं। वहाँ एक श्मशान भी था। गाँव के लोग वहाँ न जाते थे। लेकिन तेरह वर्ष का यह बालक तो जैसे जीते जी मर चुका था और अपना मातम आप कर रहा था। उसके लिये घर उजाड़ था और जंगल घर था। जीते-जी वह ऐसा मरा कि फिर मरना न हुआ - खुद मौत ही मर गयी।

ऐसा जन हो कोई मस्ताना।
मूल द्वार की कुञ्जी खोले, राखे ग़ैब निसाना॥
सुरत- निरत दोय पंख फैलाये, उड़े हंस अंजाना॥
प्रेम प्रीत चोग नू[१] चुगिया, न अपना भया बेगाना॥
मुरशिद मेहर सीख को पाया, लखिया निगम ठिकाना॥

---

१. नूं चुगिया = को चुगा।

छिन छिन वाट तकाँ[१] मैं तिस दी[२] जिस दे नाल पराना[३] ।
लोक लाज को मार कर, पाया अजब घराना ||
छोड़ दुरंगी भया निःसंगी, छिन छिन सार कमाना ।
मंगत बोले संत कोऊ सूझे, पंथ अगम दिव्य ज्ञाना ॥

गुरुदेव की दिनचर्या ने गाँव वालों को दिन-भर बात करने का अच्छा-खासा मसाला दे दिया। कोई निकम्मा कहता, कोई निखट्टू कुछ-एक की दृष्टि में । तो गुरुदेव का सारा क्रियाकलाप सनक भर था । कहते कि इसने तो बैठ-बैठ कर पत्थर भी घिसा दिये हैं । कुछ ऐसे भी लोग थे जो गुरुदेव से डरते थे उनका विश्वास था कि मंगत भूत-प्रेत को सिद्ध किये हुये है। नहीं तो यह पीर ख्वाजा के कोप से क्यों कर बच पाता ? चलते-चलते भी वह भूत-प्रेतों से बातें करता रहता है । तभी तो इसे आस-पास की कोई खबर नहीं रहती !

इन सब अफवाहों और वहमों के बावजूद गुरुदेव की ख्याति फैलती जा रही थी। लोगों में उनका सम्मान भी बढ़ने लगा । मुसलमान लोग उन्हें 'पीरजी' कहने लगे और गाँव वाले 'भगत मंगत' या 'भगत जी' कहकर पुकारने लगे । इधर घर वालों की चिन्ता भी बढ़ती जा रही थी। पढ़ाई छोड़ने के बाद गुरुदेव कोई काम-धन्धा न कर रहे थे । सम्बन्धी लोग चाहते थे कि वे कुछ काम-धन्धे के बारे में सोचें रावलपिण्डी से आकर बड़े भाई समझाते रहे, कल्लर से आ कर आपके बहनोई भी जोर लगा गये, लेकिन आप पर कोई प्रभाव न पड़ा । आप सब की बातें सिर झुका कर सुन लेते थे, लेकिन उत्तर कोई न देते थे । दूसरा बोल-बोलकर स्वयम् ही चुप हो जाता था । एक दिन माता ने भी डरते डरते कहा, "बे मंगत ! कुछ धन्धा करो! इस तरह कैसे चलेगा ?"
गुरुदेव की चुप्पी से वह डरी रहती थीं। सोचतीं, कहीं मंगत घर छोड़ कर

---

१. तका = देखूं। २. दी = की। ३. जिस दे नाल पराना = जिसके साथ प्रेम, मित्रता।

न चला जाय। इस तरह कोई पाँच वर्ष गुजर गये। एक दिन बड़े भाई पण्डित ठाकुरदास जी पेशावर से गंगोठियाँ पधारे पण्डित जी पेशावर में एम० ई० एस० के दफ़्तर में काम करते थे। माता जी भी चाहती थीं कि मंगत पेशावर जाकर कोई नौकरी करे। पण्डित जी ने गुरुदेव से पेशावर आने के लिये कहा। बहुत कहने-समझाने पर भी आपने जब कोई 'न' या 'हाँ' नहीं की तो पण्डित जी ने चिढ़ कर माता जी से कहा, "अब आप ही इसे समझाइये ! अगर यह पेशावर आ जाय तो नौकरी मिलने में मुश्किल न होगी। अफ़्सर लोग मानते हैं। आगे इसकी मर्जी।" यह कह कर पण्डित जी चले गये। माँ समझाने लगीं। उन्हें अधिक कहने की जरूरत न पड़ी। गुरुदेव उन्हें प्रसन्न करने के लिये सन् १९२२ में पेशावर चले गये। पण्डित जी ने कोशिश करके एम० ई० एस० के दफ्तर में ही नौकरी दिलवा दी। दो या तीन महीने बाद आप कन्ट्रोलर ऑफ़ मिलिटरी अकाऊंट्स के दफ्तर में नौकरी करने लगे।

दिन-भर दफ़्तर में काम करने के बाद जब आप घर लौटते तो थोड़ी दाल और सब्जी खाते। थोड़ा विश्राम करने के बाद रात-भर आत्म ध्यान में मग्न रहते भोजन केवल एक बार करते थे और वह भी अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में। दफ़्तर में भी लगभग मौन ही रहते थे जब बाबू लोग आपस में बात-चीत करते या हँसी-मजाक करते तो गुरुदेव अपने काम में संलग्न रहते। मुख गम्भीर बना रहता। बाबू लोग कभी-कभी मजाक का रंग फेंकने की कोशिश करते थे, लेकिन आपकी ओर से कोई प्रतिक्रिया न होती थी अन्त में वे चुप हो गये। तपस्या के कारण आपका शरीर बहुत कोमल हो गया था। मुखमण्डल पानी की सतह की तरह अनेक रूप बदलता रहता था। कई बार किताबें खुली पड़ी रहतीं और आप अपने आप में खो जाते। ऐसे समय में दफ़्तर में मौन छा जाता था। काम करने वाले काम छोड़कर आपको देखने लगते - विस्मय से और भय से।

जब गुरुदेव की ध्यान- तन्द्रा टूटती तो वह बड़ी कठिनाई से अपनी बाह्य चेतना लौटा पाते। इस विचित्र स्थिति को देखकर बाबू लोगों की जिज्ञासा

जागी। विश्राम के समय या छुट्टी होने पर वे आप से कोई न कोई चर्चा छेड़ बैठते। बातचीत करते समय आपकी वाणी का भी अलग ही स्वर होता था। जब कभी ध्यान से जाग कर वार्तालाप करते थे तो वाणी बहुत ही धीमी, कोमल और शांत होती थी। सामान्य स्थिति में विचार करते समय उसमें विश्वास और प्रामाणिकता की झङ्कार होती थी जल्दी ही आस-पास के लोगों पर आपकी रहनी और कथनी का प्रभाव पड़ने लगा। दफ़्तर के कर्मचारी प्रतीक्षा में रहते कि कब छुट्टी हो और ज्ञानचर्चा का प्रारम्भ हो। घर लौटते समय रास्ते भर हरिचर्चा होती रहती।

दफ़्तर के बाबू और दूसरे कर्मचारी आपसे बहुत प्रेम करने लगे थे। आपके भक्त स्वभाव की बात अफ्सरों तक भी पहुँच चुकी थी। दफ़्तर का वातावरण ही बदलता जा रहा था। फ़ाईलों और हिसाबी किताबों से भरी वह जगह जैसे हरिमन्दिर-सी बन गई थी। लोग दफ़्तर आने को उत्सुक रहते थे। बातों-बातों में ज्ञानचर्चा शुरू हो जाती थी। बीच में आप अन्तर्मुख और ध्यानस्थ भी हो जाते थे। कुछ लोगों ने अफ़सरों से शिकायत भी की कि मंगतराम अपना काम - काज ठीक तरह से नहीं देख रहे हैं - हर समय ज्ञान चर्चा करते रहते हैं। लेकिन जब आपके काम की जाँच की गई तो वहाँ कोई त्रुटि न पायी गई।

राख से ढकी आग भी कभी न कभी चमक उठती है। दफ़्तर के कर्मचारियों का प्रेम आपसे इतना बढ़ गया कि वे छुट्टी के दिन भी मिलने चले आते थे। सत्संग होता रहता। एक दिन की बात है कि प्रह्लाद के जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में बहस छिड़ गयी। कुछ लोग कहने लगे कि प्रह्लाह जलते लौह स्तम्भ से चिपट कर कभी नहीं बच सकता था - ये बातें सब मन - गड़न्त कहानियाँ हैं आपने उनकी बात सुन कर कहा, "प्रभु भक्त जान-बूझ कर कोई चमत्कार नहीं दिखाते। न ही किसी तरह का प्रभाव डालने के लिये ऐसा करते हैं। सहज स्वभाव ही या कभी परीक्षा में पड़ जाते हैं, तो प्रकृति स्वयं ही उनकी सहायता हाजिर होकर करती है। कभी कुछ जिद्दी या हठी लोग

भी फ़कोरों को मिल जाते हैं। ऐसे लोगों में आस्था-विश्वास उत्पन्न करने के लिये भी फ़कीरों की तरफ़ से कृपा हो जाया करती है।"

वहाँ उपस्थित कुछ सज्जन गुरुदेव के इस विचार से सहमत न हुये। एक ने कहा कि न तो आजकल ऐसा भक्त है और न ही कोई ऐसा चमत्कार हो सकता है। इस पर गुरुदेव ने उत्तर दिया, "अगर आपके सामने ऐसी घटना हो भी जाय तो भी आप में सत् विश्वास न आ पायेगा। सिवाय 'वाह' 'वाह' के कुछ हाथ न लगेगा। अपने बुजुर्गों, गुरुओं और अवतारों से कुछ ग्रहण करना चाहिये। वे बड़े से बड़ा कष्ट आने पर भी अपने सत्विश्वास पर अटल रहे प्रेमियों, फ़कीर शांत ही रहें तो सबके लिये सुखरूप हैं। उनसे निर्मान रूप में ही पेश आने में भला है।"

जहाँ यह बात हो रही थी उसके पास ही एक तन्दूर जल रहा था। एक प्रेमी ने कहा, "क्या इस तन्दूर में हाथ या पैर डालो तो जलेगा नहीं ? ऐसा कभी नहीं हो सकता ! आग में पैर डालो तो सारी भक्ति बाहर निकल आय ! ये सब गप्पबाजी है। हुआ कुछ होता है, लिख कुछ देते हैं।"

अभी यह बात चल ही रही थी कि सबने देखा कि गुरुदेव का एक पैर जलते तन्दूर में है सब लोग घबरा गये। एक सज्जन ने दौड़ कर पैर तन्दूर से निकाला। देखा तो एक बाल भी न जला था। सबके मुँह खुले के खुले रह गये एक अनजान भय ने सबको आ दबाया। सब सज्जन चरणों पर गिर पड़े और क्षमा माँगने लगे। अभी तक उनका गुरुदेव के प्रति मित्रभाव था, लेकिन आज वे उनसे बहुत दूर हो गये थे। उनकी यह हालत देखकर गुरुदेव बोले, "प्रेमियों ! बहुत हठ न किया करो। अपने बुजुर्गों के जीवन से कुछ सीखो। बीती हुई बातों को महज गप्प समझ कर न उड़ा दिया करो। फ़कीर तैरा भी सकते हैं और डुबो भी दिया करते हैं। इस समय तुम लोग हमजोली रूप में हो इसलिये डरने की कोई जरूरत नहीं है। आगे से होश से चलो। इस घटना

की बाबत किसी से कुछ न कहना। प्रभु आज्ञा से ऐसा ही होना था। शायद तुम्हारा विश्वास इसी तरह दृढ़ हो जाय।"

इस घटना के बाद किसी आदमी की आपसे विवाद करने की हिम्मत न हुई। आपके सामने आते ही उन पर आतंक-सा छा जाता था। लेकिन गुरुदेव पहले से भी अधिक अन्तर्मुख हो गये। लोगों से बातचीत करना लगभग बन्द हो गया। अधिक से अधिक समय एकान्त में व्यतीत करने लगे। लेकिन इस चमत्कार की बात फैलने से न रही। पेशावर शहर के अनेक लोग गुरुदेव को देखने के लिये आने लगे। चमत्कार का यह प्रभाव आपके लिये मुसीबत बन गया। इसलिये आपने नौकरी छोड़ने का निश्चय कर लिया और इस्तीफ़ा दे दिया।

जब आपके साथियों को इस्तीफ़े के बारे में पता चला तो वे आपके घर आये और इस्तीफ़ा वापस लेने को कहा। आपने सबको धन्यवाद दिया, लेकिन नौकरी करने के सम्बन्ध में अपनी असमर्थता प्रकट की। वे जानते थे कि आपको नौकरी करने की जरूरत नहीं है। जिस पुरुष की आज्ञा अग्नि और वायु मानते हों, वह भला किसी की चाकरी क्यों करे ? लेकिन उनका मन गुरुदेव की जुदाई के लिये तैयार न था। दुनिया से पूरी तरह इस किनाराकश पुरुष ने उन्हें मोह बन्धन में डाल दिया था। आज उन्हें सब सूना-सूना लग रहा था।

दफ़्तर के बड़े अफ़सर ने भी आप को बुला कर समझाया। कहने लगा कि ऐसी नौकरी आसानी से नहीं मिलती। गुरुदेव ने उत्तर दिया, "इनसे केवल एक ही नौकरी हो सकती है। दो सरकारों की नौकरी इनसे नहीं हो सकती।" अफ़सर अँग्रेज था बात दुभाषिये द्वारा हो रही थी। साहब ने कहा, "मंगतराम ! अगर तुम इस नौकरी में टिके रहोगे तो तुम्हें मैं बहुत ऊँचा ले जाऊँगा।" गुरुदेव ने हाथ जोड़कर दुभाषिये से कहा, "साहब से विनती कीजिये कि साहब कृपा करके बतायें कि उन्होंने खुद क्या पा लिया है जोकि इस सेवक को देंगे ?" साहब ने जब उत्तर सुना तो मुस्करा दिया। तो भी उसने कह दिया कि वह

इस्तीफ़ा मंजूर नहीं करेगा। इधर आपने निश्चय कर लिया कि साहब इस्तीफ़ा मंजूर करे या न करे, आप पहली तारीख के बाद नौकरी पर नहीं आयेंगे। एक दिन आप रात के समय पेशावर से वापस गंगोठियाँ चले आये। गुरुदेव ने नौकरी एक वर्ष भी कम समय के लिये की।[१]

यह बात सन् १९२३ की है। पहले तो माँ आपको देख कर बहुत प्रसन्न हुई लेकिन जब पता चला कि आपने नौकरी छोड़ दी है तो बहुत दुःखित हुई। फिर भी मुँह से कुछ न कहा। जिस तरह पहले पाँच-छः वर्ष कच्चा पक्का सब किया था, अब भी वैसे ही कर लिया। सगे-सम्बन्धियों ने भी बुरा मनाया। पर गुरुदेव तो अब केवल अपने मालिक की चाकरी करने आये थे। उन्हें अब लोक परलोक की कोई चिन्ता न थी सँसारी लोगों से आपने अपना सम्बन्ध बिल्कुल तोड़ लिया था। दिन पीर ख़्वाजा के पेड़ों के नीचे कटता, और रात तरेल नदी के किनारे। अपनी मौज में शरीर की रक्षा की सुध-बुध ही न थी भूख, प्यास और नींद प्रतिदिन कम होती जा रही थीं आपने एक बार कहा था, "जब अन्तर में आत्म-सत्ता का प्रकाश होता है तो शरीर की होश नहीं रहती। और जब इसका ध्यान आता भी है तब वह अपने से अलग छाया की का तरह दिखाई

१. तन्दूर वाले चमत्कार की पुष्टि स्वयं गुरुदेव ने अनेक प्रेमियों के सम्मुख की थी। लेखक के सामने भी की थी।
कुछ प्रेमी नौकरी छोड़ने के पूर्व एक और अनोखी घटना का वर्णन भी करते हैं उनके अनुसार एक रात गुरुदेव ध्यान में इतने लीन हो गये कि समय की सुध-बुध ही न रही। सूरज निकल आया लेकिन आपकी तन्द्रा न टूटी। जब सामान्य चेतना लौटी तो दफ़्तर का समय कब का हो चुका था। आप तैयार होकर दफ़्तर पहुँचे और सीधे अफ़सर के पास जाकर अपने लेट होने की सूचना दी अफ़सर ने सिर उठाकर हैरान होकर कहा "मंगतराम जी, आप तो ठीक समय पर दफ़्तर में आये थे आपकी हाजिरी भी लगी है आप क्यों कहते हैं कि आप लेट हो गये हैं ?" अपने मेज पर पहुँच कर आपने देखा कि किताबें खुली पड़ी हैं और उन पर काम हुआ पड़ा है। लिखावट भी मिलती थी। इस विचित्र दशा को देखकर आपने इस्तीफ़ा दे दिया। जब करने वाला कोई और है तो उसी कर्त्ता की ही नौकरी क्यों न करें ? ऐसा आपने सोचा।
लेखक इस घटना की पुष्टि के सम्बन्ध में कुछ कहने में असमर्थ है। वैसे कुछ महापुरुषों के जीवन में ऐसी घटनाओं का होना सुना है। महर्षि रमण ने अपने शिष्य देवराज मुदलियार को इसी प्रकार की दो घटनायें सुनाई थीं महर्षि इनकी सत्यता पर विश्वास करते थे।

देता है। उस समय उसके बने रहने या न बने रहने में कोई रुचि नहीं रहती।"[१]

अपने बीस वर्षीय पुत्र की यह हालत देख कर माँ तो जैसे घुली जा रही थीं। दूसरे सम्बन्धी भी परेशान थे। आप के बड़े भाई पंडित किशनचन्द जी ने आप को खड्डियाँ (हथकरघे) लगाने को कहा। उन दिनों बहुत से लोग हथकरघे लगा रहे थे। माता जी ने भी गुरुदेव को यह काम करने को कहा। आपने उनकी आज्ञा का पालन किया और गंगोठियाँ से चार मील दूर सागरी नामक कस्बे में हथकरघे स्थापित कर दिये। कुछ आदमी काम के लिये रख लिये। कपड़ा बुना जाने लगा। परन्तु गुरुदेव तो दूसरा ही कपड़ा बुन रहे थे जन्म-जन्मान्तर से नग्न आत्मा उस उस कपड़े से अपने को सजा रही थी :

ऐसी चादर दात करो, मैं ओढ़ूं नगन सरीर।
जनम-जनम का मिटे सँदेसा, काल चक्कर तकसीर॥
जत का ताना सत का पेटा, मतधीर जुलाहा बनावे।
प्रेम की नाली से बुनत करीजे, मन पवन की खेंच लगावे॥
बुने अति अत गाढ़ा कपड़ा, वैराग की ठोक लगाई।
नाम व्यापारी कपड़ा लेवे, नित विरह की माप कराई॥
कहन कथन विच आवे नाहीं, जो कपड़ा चमक दिखाई।
तीन लोक में ढूंढत फिरी, कोई विरला मोल चुकाई॥
हर-जन साजन कपड़ा लेवे, तैवेणी के घाट में धोवे।
तीन ताप की मैल को हरे, नित सत जतन पिरोवे॥
सतगुर दरजी सीवे चादर, सुरत निरत दोउ पाट मिलाई।
विवेक की सुई ज्ञान का धागा, तप योग धारे कठिनाई॥

---

१. गुरुदेव की एकान्तप्रियता का एक और कारण उनकी चमत्कारों के प्रति अरुचि थी। उनका कहना था कि चमत्कार दिखाने वाला साधक पूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं हो पाता। इसलिये उन्होंने एकान्त में रहने का निश्चय किया।

निर्वाण शब्द की अखण्ड चादर, कोई गुरमुख साजन ओढ़े।
मंगत तिस के चरण कँवल में, नित नित प्रीती जोड़े॥

ऐसी चादर बुनने वाला भला संसारी चादर कैसे बुन पाता ? अन्त में वही हुआ जो होना था - काम न चल सका। यहाँ तक कि कर्मचारियों का वेतन दे पाना भी कठिन हो गया। इधर एक ही भाव रहता था कि कब रात आये और काम का झंझट समाप्त हो। दिन-प्रतिदिन झमेला बढ़ता जा रहा था। आखिर एक दिन सब काम को तिलाञ्जलि दे ही दी। जो सामान इधर-उधर दिया जा सकता था, दे दिया। बाक़ी वैसे ही छोड़ कर गंगोठियाँ लौट आये। आपके भाइयों को वह सब सामान खुद जाकर बेचना पड़ा।

आपके दिन और रात वैसे ही पीर-ख्वाजा वन में, या ऊँची-नीची घाटियों में बहती तरेल नदी के किनारे कटने लगे। दिन बीते और रातें बीतीं, पक्ष बीते, मास बीते ऋतुएँ आ-आकर लौट गईं। कभी अँधेरी रातें आतीं, कभी चाँदनी छिटक जाती कभी बारिश होती - आँधी और तूफ़ाने आते। लेकिन गुरुदेव का नियम न बदलता। वही आधी रात के कुछ बाद घर से निकल जाना और कोई दस बजे दिन में लौटना। थोड़ा भोजन और विश्राम करके फिर चले जाना और रात होने पर वापस आना। दुनिया से सब सम्बन्ध टूट चुका था। सगे सम्बन्धियों ने भी अब कुछ कहना छोड़ दिया था। कहते, "जब यह कुछ काम ही नहीं करता तो इससे माथा पच्ची करने से क्या लाभ ?" उन्होंने आर्थिक सहायता देना भी बन्द कर दिया। घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी। एक बार माँ ने डरते-डरते कहा, "मंगत, कुछ सोच करो, बेटा ! ऐसे कैसे निभेगा ?" उत्तर दिया, "माँ ! चिन्ता न करो; आपके लिये कुछ न कुछ किया जायेगा। जब तक आप हैं, घर में ही रहेंगे। "

इन दिनों के सम्बन्ध में गुरुदेव ने एक प्रेमी[1] से एक घटना इस प्रकार कही थी :

---

१. श्री देवराज गुप्त।

“एक दिन रात के समय जब बाहर जा रहे थे तो माँ ने कहा, 'मंगत, कल के लिये कुछ नहीं है सुबह क्या बनाऊँगी ?' उत्तर दिया, 'कोई बात नहीं, माँ ! सुबह हो तो जाने दो! फिर सोचना !' इतना कह कर यह पानी की ओर चल दिये। सुबह दस बजे विचार आया - माता ने कोई प्रबन्ध करने को कहा था। इन्हें[१] खुद तो भूख लगती न थी - माता के लिये ही खाते थे। उठ कर डेरे के लिये चल दिये। वहाँ पहुँच कर माँ से कहा, 'तुम कह रही थीं कि घर में कुछ नहीं है ?' माता ने कहा, 'खेत से सरसों का साग ले आयी थी। उसे ही छाछ में बना दिया है।' कहा, 'अच्छा माँ ! वही लाओ।"

यह कहानी कह कर मुस्करा कर कहने लगे, "प्रेमी ! जो स्वाद उस साग में आया आज तक किसी और चीज में नहीं आया।"

यह घटना सुनाते समय माता के लिये उनका प्रेम छलक छलक पड़ता था। गुरुदेव का वैराग्य और तटस्थता तो एक चमत्कार थे ही लेकिन उनसे भी बड़ा चमत्कार उनका प्रेम था। वह देखने की चीज थी - कहने-सुनने की बात वह नहीं है। असल में सही प्रेम तो केवल सर्वत्यागी ही कर सकता है। गुरुदेव ने समस्त मोह का त्याग कर दिया था, लेकिन केवल माता के लिये ही वे घर में बने रहे स्वयं भूख न लगने पर भी उनके लिये खाते रहे।[२] सब रसों से मुँह मोड़ कर भी वर्षों तक माँ के साग का स्वाद लेते रहे। माँ के प्रति प्रेम जीवनपर्यन्त बना रहा।

कुदरत की करनी, आपका ध्यान सहज में ही जड़ी-बूटियों की ओर जाने

---

१. गुरुदेव 'मैं' शब्द के स्थान पर 'यह' का प्रयोग किया करते थे।

२. एक छोटी-सी घटना से अनुमान लगाया जा सकता है कि गुरुदेव जिह्वा रस से कितने दूर थे एक बार आप कहने लगे, "इन्हें केले के स्वाद का पता नहीं है।” गुरुदेव के आगे प्रेमी लोग रोज़ ढेरों केला लाकर रख देते थे। सबका सब प्रसाद में बाँट दिया जाता था। उन्होंने उसे कभी चखा तक नहीं।

लगा। कल्लर में जब पढ़ते थे तब अपने बहनोई साहब को औषधियाँ बनाते देखा करते थे। हिकमत की एक पुस्तक भी आपने वहीं से लाकर पढ़ी। उसे पढ़ कर कुछ दवायें तैयार कीं। कभी कोई रोगी मिलता तो उसे दे देते। दवा खाकर रोगी ठीक होने लगे। पाँच-दस रोगी जब ठीक हो गये तो उत्साह बढ़ गया। उधर रोगियों की संख्या भी बढ़ने लगी। कोई छः महीने इसी तरह निकल गये। इस दौरान रोगियों की संख्या इतनी बढ़ गई कि आपको उन्हें देखने का समय निश्चित करना पड़ा। समय निश्चित करने का मतलब था अपने आत्मानन्द का त्याग करना। परन्तु एक समय आता है जब योगी को उसका भी त्याग करना पड़ता है-अन्तर और बाहर को समान रूप में देखना होता है। देखने में हिकमत का कार्य जीविका का साधन था, लेकिन वास्तव में यह उनकी उत्कृष्ट साधना थी— समभाव की प्राप्ति के लिये, संसार और आत्मा को एक रूप देखने के लिये।

जो औषधियाँ आप रोगियों को देते थे वे आप साधारण जड़ी-बूटियों और भस्मादि से स्वयं तैयार करते थे, परन्तु इन साधारण दवाओं का भी चमत्कारी असर होने लगा। कई तरह के असाध्य रोग भी ठीक होने लगे। गाँव के कुछ लोग जलन के कारण निन्दा करने लगे। कहते - "कबरें खोद रखो, अब कई रोगी मारे जायेंगे।" "न पढ़ा न लिखा- नाम मुहम्मद फाजिल।" इन लोगों की निन्दा के बावजूद आपकी ख्याति फैलती जा रही थी। दूर-दूर से रोगी आ रहे थे। उन्हें देखने का समय सुबह नौ बजे से शाम चार बजे तक रखा गया था जो रोगी नहीं आ पाते थे, उन्हें स्वयं देखने चले जाते थे। जाने की कोई फ़ीस न थी ; न ही किसी के घर का कुछ खाते-पीते थे। दूसरे गाँव में भी रोगी देखने के लिये चले जाते थे। यह यात्रा अक्सर पैदल ही होती थी कई बार जब लौटते तो रात हो जाती। ऐसी स्थिति में आप घर न जाकर सीधे तरेल नदी के किनारे जा बैठते। यदि रास्ते में ही रात हो जाती तो किसी एकान्त स्थान में जा बैठते और प्रातः नौ बजे घर लौट आते। वहाँ रोगी पहले ही प्रतीक्षा में बैठे होते थे।

दवा देते समय अक्सर मरीजों से कहते, "माँस-शराब से परहेज करना और अपना बोल- तोल ठीक रखना ।" किसी से कभी कोई दाम न माँगते थे । कुछ रोगी थोड़ा अनाज अथवा सब्जी भेंट कर देते थे- रुपये पैसे उनके पास न होते थे ठीक होने पर कोई-कोई रोगी कुछ पैसे भी रख जाता था। अधिकतर गाँवों की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी बहुत से रोगी दवा तो क्या, खाने पीने का प्रबन्ध भी न कर सकते थे। आप उनको न केवल दवा बल्कि खाना भी दिया करते थे और खिलाते थे । उनके मलमूत्र को भी अपने हाथ से साफ़ कर दिया करते थे ।

इस प्रकार अधिकतर रोगियों का इलाज मुफ़्त ही हो रहा था । जो थोड़े बहुत लोग कुछ दे भी जाते थे वह भी उन्हीं की इच्छा पर निर्भर होता था । जिसका जो मन हुआ रख गया। जो आय होती भी थी वह भी अधिकतर रोगियों पर ही खर्च हो रही थी । अपना और माता का निर्वाह तो अक्सर जमीन से अन्न और गाय के दूध से हो जाता था । हिकमत की आय का बहुत ही कम भाग अपने ऊपर खर्च होता था । रोगियों की सेवा के बाद जो धन बच जाता था उसे आप संक्रान्ति, अमावस्या अथवा अन्य त्यौहारों पर व्यय कर देते थे । इन अवसरों पर गाँव वालों और रोगियों में खूब फल बाँटते थे । आपकी इस लीला को देख कर लोग आपसे बहुत प्रेम करते थे । लेकिन इस समय आप किसी के साथ कोई ज्ञान चर्चा न करते थे । लोगों के दुःखनिवारण तक ही अभी आपकी सेवा सीमित थी ।[१]

---

१. वैद्य के लक्षणों का वर्णन देववाणी में इस प्रकार किया गया है :-

खिमावान उदार चित्त, अत प्रभविश्वासी होये ।
पर का कष्ट निज कष्ट पछाने, नित साचा जतन परोये ॥
रोग दारू दोहु पछाने, निरमान भाओ चित्त धारी ।
प्रभु आज्ञा में यतन सत राखे, सो निर्मल बंद विचारी ॥
शुद्ध भाओ से सेवा कीजे, अत दीरघ रोग विनासे ।
नित उपमा पाये घनेरी, जब एह विध जतन बिलासे ॥

- शेष अगले पृष्ठ पर

हिकमत का काम चलता देखकर माँ और बहनें आपके विवाह के स्वप्न देखने लगीं। लेकिन आपके सामने इस सम्बन्ध में बात करने का उन्हें साहस न होता था। एक दिन माता और कुछ सम्बन्धियों ने डरते-डरते विवाह की बात छेड़ी। गुरुदेव ने आज कुछ सख्ती से उत्तर दिया। कहने लगे, "दो विवाह करना इनके बस से बाहर की बात है। इनसे बड़े काम होने हैं, देश की बड़ी सेवा होनी है। इस शरीर के लिये ईश्वर की आज्ञा कुछ और है, और इनका कुछ और ही प्रोग्राम है। यह अगर इस अंधेरे में पड़ गये तो इनका अगला काम रुक जायेगा।"

जब माताजी ने ज्यादा दबाव डालने की कोशिश की तो आपने उन्हें चेतावनी दे दी कहा, "तेरी सेवा की खातिर यहाँ हैं। ज्यादा तंग किया तो छोड़ कर कहीं चले जायेंगे।" उस दिन के बाद फिर कभी किसी ने इस विषय के सम्बन्ध में बात न छेड़ी।

फाल्गुन संवत् १९८४ विक्रमी (मार्च सन् १९२८) को माता परलोक सिधार गईं। उनके परलोकगमन के सम्बन्ध में आपने एक प्रेमी[१] से इस प्रकार चर्चा की थी :

"पच्चीस वर्ष की उम्र जब इनकी हुई तो इनके भाई की लड़की

सब जीवों पर राखे दाया, निर्लोभ से औषध कीजे।
सकल रोग तत्काल विनासे, जो बंद एह जतन लखीजे॥
सत जतन से रोग को हरे, सूक्ष्म औषध पान कराये।
दृढ़ विश्वास राखे प्रभ चरनी, सो वेद विजय नित पाये॥
सत अनुभव से रोग पछाने, निष्काम सेवा नित कीजे।
ऐसा वैद पावे परतापा, तिस दर्शन रोग हरीजे॥
पूरन प्रभ का दर्शन पछाने, सत भगती चित्त धारी।
मंगत शुद्ध आचार विचार जो राखे सो वेद परम सुखकारी॥

१. श्री ओम कपूर।

रावलपिण्डी में गुजर गई। माँ ने इनसे वहाँ जाने के लिये कहा। पहले तो इन्होंने इन्कार कर दिया, फिर माँ के बार-बार कहने पर ये रावलपिण्डी चले गये। दिन-भर तो वहां रिश्तेदारी में रहे और रात को लई नदी के किनारे जंगल में तप के लिये चले गये। इधर गंगोठियाँ में माँ दिन-भर तो अच्छी तरह रहीं, लेकिन शाम होते ही उनके सिर में दर्द होने लगा और घबराने लगीं । वक़्त आ गया और थोड़ी देर में उनके प्राण उड़ गये। आदमी रावलपिण्डी दौड़ाया गया। इनका भतीजा इन्हें ढूंढता हुआ दिन के एक बजे लई के जंगल में पहुंचा और इनके सामने आकर खड़ा हो गया । बोला, 'चाचा जी, दादी गुजर गयी हैं। गंगोठियाँ से आदमी आया है ।'

" जब इन्होंने सुना तो दो ख्याल अन्दर उठे। पहले यह आया कि जिनकी सेवा के लिये यह घर में थे वह तो गुज़र गयीं। अब वहाँ जाने की क्या जरूरत है ? जायदाद जद्दी है-भाई-बन्धु आपस में बाँट लेंगे । बेहतर होगा लई पार करके यहाँ से आगे चल दिया जाय। कुछ लहमों बाद दूसरा ख्याल आया कि नये प्रान्तों में शुरूआत करने की बजाय पहले गंगोठियाँ ही जाया जाय और लोगों की सेवा की जाय। पहले उनका ही हक है; बादअज़ाँ (बाद में) दूसरे प्रान्तों में जाया जाय। इस दूसरे विचार के आते ही यह लड़के से बोले, 'तुम बस अड्डे पर चलो, भी यह इधर से आते हैं ।'

"इस तरह यह गंगोठियां आये और रिवाजक नीति से माता का संस्कार किया और साफ़ तौर पर रिश्तेदारों को कह दिया कि यह कोई ढोंग क्रियाकर्म का नहीं करेंगे। यह इसे ठीक नहीं समझते। इस पर इनके भाइयों ने राय की और कहा कि यह कुल-कलंकी है— कुछ नहीं करेगा । इस शरीर के सौतेले भाइयों ने सब क्रिया-कर्म किया और दस दिन बाद सब लोग चले गये। इनको भी रावलपिण्डी ले जाने के लिये बहुत इसरार

किया, पर इन्होंने इन्कार कर दिया, और कह दिया कि आज से इनका और उनका सम्बन्ध समाप्त है; आम जनता जैसे आती है वे भी आ सकते हैं और दर्शन दे सकते हैं। और वहीं रहकर गाँव-गाँव जाकर प्रचार करना शुरू कर दिया। बादअजाँ यह बाहर के प्रान्तों में भी गये। फिर रतनदास भी इन्हें मिला । यह एक आसन पर कभी नहीं बैठते ताकि लोग कहीं उस जगह को ही पूजने न लग जायें ।"

यह प्रचार आपने माता के देहावसान के एकदम बाद ही शुरू नहीं कर दिया था। उनकी अन्त्येष्टि के बाद आपका ज्यादातर समय फिर एकान्त में ही बीतने लगा किसी से ज्ञानचर्चा न करते थे । लेकिन एकान्त में बैठते तो घण्टों वाणी का प्रवाह चलता रहता। जो प्रसंग आता वह हवा में उड़ जाता । गुरुदेव को वाणी लिखने का कभी सँकल्प नहीं आया। कहते, यह फ़कीरों का काम नहीं कि खुद ही लिखने बैठ जायें। सोचते, शायद कोई प्रभु प्रेमी स्वयं ही आकर इसे लिख लेगा- अगर प्रभु आज्ञा हुई तो । इस प्रकार एकान्त में भी वाणी के माध्यम से संसार से एक नये सम्बन्ध के सामान पैदा हो रहे थे । संसार की अग्नि में जलते हुये जीवों के कल्याण के लिये ही अमरलोक से वाणी प्रकट हो रही थी। लेकिन अभी उस कल्याण का समय नहीं आया था ।

मातृऋण से अब आप स्वतन्त्र हो चुके थे । एकान्तसेवन की ओर अधिक प्रवृत्ति हो रही थी । हिकमत का काम भी आहिस्ता-आहिस्ता कम होता जा रहा था। खाना-पीना और भी घटता जा रहा था। दिन में केवल दो तोले आटे की एक चपाती छाछ में पके साग के साथ ग्रहण की जाती थी । अर्थात् महीने में केवल तीन पाव आटा खाते थे। कभी हुआ तो एक कटोरा छाछ का पी लिया करते थे। रात का भोजन केवल थोड़ी सब्जी अथवा दाल तक सीमित था । माता भागवन्ती (आप की चचेरी भाभी) जब कभी कुछ और आटा डाल देतीं तो आप उतनी रोटी वापस कर देते थे। माता भागवन्ती आपसे पुत्रवत् स्नेह

करती थीं, लेकिन इस सम्बन्ध में उनकी एक न चलती थी। गुरुदेव का त्याग और वैराग्य सीमायें तोड़ रहे थे। लेकिन यह त्याग एक नये प्रकार के लोक संग्रह की तैयारी था— उसका पूर्वराग था। आगे के अध्यायों में उसी लोक संग्रह की चर्चा करने का प्रयास किया जायेगा।

अध्याय ४

सहजसमाधि

संवत् १९८६ विक्रमी (सन् १९२९) की बात है। भादों का मास था। गुरुदेव रावलपिण्डी पधारे हुये थे। शहर से कुछ दूर बाहर लई नदी बहती थी । इस नदी के किनारे वन में गुरुदेव एकान्तसेवन के लिये निकल जाते थे। एक दिन आपने एक वृक्ष के नीचे एक साधु को बैठे देखा। दिन के दो बज रहे थे। आप वृक्ष की ओर बढ़े और साधु के पास आकर खड़े हो गये साधुजी अभी युवा ही थे - तीस वर्ष से कुछ ही ऊपर अवस्था थी। वे कुछ लिखने में व्यस्त थे। इसलिये उन्हें गुरुदेव के आगमन का भान न हुआ। गुरुदेव के मुख से विचित्र शब्द निकल पड़े। आप बोले, "महाराज ! मन की कल्पना नित्य ही भटकाती रहती है। समझ में नहीं आता क्या करू – कहाँ जाऊँ ? क्या ऋषियों और मुनियों को पैदा करने वाली यह धरती सत्पुरुषों से खाली हो चुकी है ? क्या अज्ञानता को दूर करने वाला कोई नहीं रहा ?"

साधुजी ने एकदम लिखना बन्द कर दिया और सिर उठाकर ऊपर देखा। उनके चेहरे पर आश्चर्य की रेखायें स्पष्ट खिचीं थीं। उनके आश्चर्य का कारण गुरुदेव के वचन थे। गुरुदेव ने वही भाव व्यक्त किये थे जो कि इस समय स्वयं उनके मन में उठ रहे थे। उन्हें लगा कि जैसे उनके मन के भाव इस पुरुष ने निकाल कर सामने रख दिये हों। गुरुदेव इस समय कुर्ता-सलवार पहने थे सिर पर पगड़ी थी रावलपिण्डी के ग्रामीण इलाके का यही पहनावा था।

लेकिन साधुजी की दृष्टि गुरुदेव के मुख पर जो पड़ी तो वहीं ठहर गयी। आगे की अनुभूति का वर्णन उन्हीं के शब्दों में करना अधिक उपयुक्त होगा।

"जब मैंने चेहरे की ओर "प्रश्न सुनकर मन में विचार आया कि ये सब प्रश्न तो मेरे ही मन के प्रश्न हैं। ये कोई साधारण मनुष्य नहीं हो सकते। अच्छी तरह देखा, तो मन खिंच गया। मैंने उठकर एक कपड़ा बिछाया और हाथ जोड़कर बैठने की प्रार्थना की। महाराजजी के बैठ जाने के बाद मैंने कहा, 'महाराजजी आप तो गुदड़ी में छिपे लाल की तरह सत्पुरुष दिखाई देते हैं !'

"आगे से आप बोले, 'आपसे कुछ पूछने के लिये बैठ गये हैं। गाँव में रहने वाले किसान हैं। इधर यों ही कभी - कभी आ जाते हैं ताकि किसी से कुछ प्राप्त हो जाये।'

"कहा, 'महाराज, आप भुलावे में न डालिये। वस्त्रों से भले ही आप ग्रहस्थ से लगते हैं, पर मेरा मन कह रहा है कि आप पूर्ण योगी हैं।'

"मेरी बात सुनकर महाराज जी बोले, 'जो प्रश्न आप से किया था उस का उत्तर देकर मेरी तसल्ली करें। कृपा होगी।'

"विनती की, 'महाराजजी, आप भले ही अपने को छिपाये रखने वाली बातें करें। लेकिन मैं आपको साधारण मनुष्य नहीं मान सकता।'

"मैंने उनके चरण पकड़ लिये और कहा, 'मैं कैसे मान लूँ कि आपने ये प्रश्न अपनी शंका की निवृत्ति के लिये किये थे ? जब आपने इस सेवक पर कृपा की थी तो ठीक यही बातें मेरे मन में भी उठ रही थीं कृपा करके इस भग्न-हृदय की परीक्षा न लीजिये। सेवक तो यह समझा था कि भारत की यह

पवित्र भूमि ऋषियों और सन्तों से शून्य हो चुकी है। आज आपके दर्शन करके लग रहा है कि इस देश में अब भी ज्ञान की गंगा का प्रवाह चल रहा है।'

"दया करते हुए महाराजजी ने पूछा, 'किधर से आये हो ?'

"विनती की, 'महाराजजी, मन खोलकर चरणों में रख रहा हूँ। डेरे से मैं और मेरा साथी निकले थे किसी सत्पुरुष की खोज में। अहमदाबाद से लेकर रामेश्वर तक, और वहाँ से बंगाल, बिहार, यू० पी० में हरिद्वार और ऋषिकेश से भटकते हुये पंजाब की तरफ़ निकल आये। सैकड़ों रुपये भी खर्च हो चुके हैं, लेकिन कहीं भी सच्चाई के दर्शन न हो सके। जिस किसी संत- महन्त के पास गये वहाँ सिवाय ठग्गी के और कुछ न देखा। मेरा साथी तंग आकर वापस चला गया है अब पैसे भी ख़त्म हो चुके हैं यही विचार उठ रहा था कि कोई सत्य-द्रष्टा पुरुष संसार में नहीं रहा। क्या इसी तरह भटकते-भटकते आयु समाप्त हो जायेगी ? अब आत्म हत्या के सिवा और कोई रास्ता न सूझ रहा था। पैसे खत्म होने के कारण निर्वाह के लिये भी सोच रहा था कि आपने आकर मेरे ही विचार मेरे ही सामने रख दिये। मन कह रहा है कि यह चरण न छोड़ना यहीं से तुम्हें भिक्षा मिलेगी। सेवक का नाम रत्नदास है। दास पर आप स्वयं आकर कृपा कर रहे हैं। वरना आप ढूंढने पर भी न मिलते। मुझे आज प्रभुकृपा से सब कुछ मिल गया है।'

महन्त रत्नदास[१] जब अपनी बात कह चुके तो आपके मुखारविंद से वाणी का प्रवाह बह निकला। उन दिनों रत्नदास जी अहमदाबाद में कबीरगद्दी के महन्त के शिष्य थे। वहाँ वे नित्यप्रति कबीर साहब की वाणी सुना करते थे आज उन्हें लगा जैसे स्वयं कबीर साहब उनके समक्ष बैठे साखी कह रहे हों। जिस इच्छा को लेकर वह अहमदाबाद से निकले थे वह आज पूरी होने को थी।

---

१. बाद में रत्नदास जी अहमदाबाद स्थित कबीर गद्दी के महन्त बन गये इसीलिये उन्हें महन्त जी कहा जाता है।

महन्तजी ने गुरुदेव से दीक्षा के लिए प्रार्थना की। गुरुदेव ने पूछा, "क्या तुम्हें इन पर विश्वास आ गया है ?"

उत्तर दिया, "आप का दर ऐसा मिला है कि अब और कोई दर के लिये मन नहीं मानता।"

महन्तजी ने गुरुदेव के चरण ऐसे पकड़े कि गुरुदेव को उन्हें वहीं दीक्षित करना पड़ा। इस प्रकार उन्हें प्रथम शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

दीक्षा के बाद महन्तजी ने प्रणाम किया और श्री चरणों में रहने की आज्ञा माँगी।

उत्तर मिला, "यह अभी किसी को साथ नहीं ले जा सकते।"

महन्तजी ने कहा, "यदि आप अपने साथ नहीं ले जा सकते तो दास के साथ अहमदाबाद चलिये।"

फिर उत्तर मिला, "यह कहीं जा भी नहीं सकते।"

तब महन्तजी ने महाराजजी का पता जानने की इच्छा प्रकट की गुरुदेव ने कहा, "तुम्हारा काम तो हो गया है; पता जानकर क्या करोगे ?" परन्तु कृपा करके गंगोठियाँ का पता बता दिया और एक सप्ताह बाद आने की आज्ञा दे दी। इतना कहकर गुरुदेव चल दिये। महन्तजी दूर तक आपको छोड़ने आये। फिर आज्ञा पाकर उसी वृक्ष के नीचे जा बैठे और अपने कार्यक्रम के सम्बन्ध में सोचने लगे। शीघ्र ही महन्तजी ने अपने अन्दर एक परिवर्तन देखा। उसकी चर्चा उन्होंने इस प्रकार की है :

“उपदेश के बाद ऐसी महाराजजी की कृपा-दृष्टि रही कि चार पाँच दिन तक मस्ती छाई रही। लगता था जैसे नशे में हूँ बाजार में एक दुकान पर कुछ लेने गया। दुकानदार को एक बार जो खरीदना था कह दिया। फिर ध्यान अन्तर में लग गया। दुकानदार के कई बार पूछने पर फिर वृत्ति बहिर्मुखी हुई।

"रह-रह कर एक ही विचार मन में आ रहा था - कि कब सप्ताह खत्म हो और शुभ-स्थान पर पहुँचा जाय। मन प्रसन्न था। सोचता, यदि ऐसी ही हालत बनी रहे तो बात जल्दी बन जायेगी।"

चार दिन तक महन्तजी पर यह मस्ती छाई रही। उसके बाद धीरे-धीरे समाप्त हो गयी महन्तजी ने उसे वापस लाने की बहुत कोशिश की। घण्टों नाम का जाप करते रहे, परन्तु वह मस्ती न लौटी। वे बहुत परेशान हो गये। इस अवनति का कारण वे समझ न पा रहे थे। सोचते, गुरुदेव से चर्चा करेंगे। पल-पल गिन कर उन्होंने वह सप्ताह पूरा किया। गुरुदेव के चरणों में पहुँचने की बड़ी उत्सुकता थी। आशा थी कि चरणों में पहुँचते ही उनकी छिनी हुई दौलत वापस मिल जायेगी।

सप्ताह पूरा होने पर गंगोठियाँ के लिये चल दिये। उन दिनों बस चौक पण्डोरी तक ही जाती थी। आगे की यात्रा महन्तजी ने पैदल ही की। गंगोठियाँ पहुँचने पर पता चला कि गुरुदेव बाहर वन में गये हुये हैं। महन्तजी गाँव के बाहर ही एक पेड़ के नीचे बैठ गये। भादों का सूरज प्रखरता से चमक रहा था। गर्मी तेज होने लगी। लेकिन महन्तजी वहीं बैठे रहे किसी से बातचीत न की। जल तक न माँगा। उस दिन गुरुदेव देर से लौटे। उन्होंने महन्तजी को दूर से ही देख लिया था। पास आकर खड़े हो गये। महन्तजी ने उठकर प्रणाम किया। गुरुदेव उन्हें घर पर ले गये और बड़े प्रेम से भोजन कराया।

गंगोठियाँ में ठहरकर महन्तजी ने अनेक प्रश्न किये। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर वाणी में मिलने लगा। अनेक वर्षों से जिन बौद्धिक शंकाओं ने उन्हें उलझा रक्खा था वे दूर हो गई। परन्तु उनकी वह मस्ती न लौटी जिसकी आशा लेकर वे आये थे। गुरुदेव से प्रार्थना की कि वे ऐसी कृपा करें कि वह खुमारी नित्य ही बनी रहे और सांसारिक द्वन्द्व उन्हें फिर न उलझा सकें। उत्तर मिला, "प्रेमी, पकी पकाई खाने का प्रयत्न न करें। अब खुद पकाकर खाने की कोशिश करो। तुम्हारे टूटे हुये मन को सत्विश्वास दिलाना था, तुम्हारी शंका और भटकन दूर करनी थी; इसलिये उस मालिक की आज्ञा से जो होना था सो हो गया। अब खुद मेहनत करके उस मौज को प्रत्यक्ष करो। इन्हें हर समय हृदय में देखें। आशीर्वाद नित अंगसंग जानें।"

ये शब्द सुनकर महन्तजी ने अपनी घड़ी जेब में से निकाली और चरणों में रखकर प्रार्थना की, "महाराजजी, इस समय यह गुरु-दक्षिणा स्वीकार कीजिये।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "प्रेमी ! आकाश के तारे घड़ी का काम देते रहते हैं।तुम यात्रा में रहते हो। यह घड़ी तुम्हारे काम आयेगी। तुम्हारी सत् श्रद्धा ही गुरु-दक्षिणा है। अब जाकर पूरी लग्न से मेहनत करो।"

आशीर्वाद पाकर महन्तजी विदा हुये।

शुभ-स्थान में गुरुदेव की जीवनचर्या पहले ही की तरह चल रही थी। उस में एक परिवर्तन अवश्य आ गया था। आपने वार्षिक यज्ञ आरम्भ कर दिया था। यज्ञ में अन्न की सेवा के साथ कुछ विचारों की भी सेवा होने लगी। प्रथम यज्ञ माघ, संवत् १९९० विक्रमी (जनवरी सन् १९३३) में हुआ था। यज्ञ का सारा व्यय आप अपने पास से करते थे। हिकमत से जो पैसा बच जाता था वह दीन-दुखियों की सेवा में लगा देते थे। किसी को तंग हाल देखते थे तो उसकी सहायता कर देते थे। किसी निर्धन की बेटी का विवाह होता था तो चुपके से

उसे कुछ दे आते थे जो धन फिर भी बच रहता था, उसे यज्ञ में व्यय कर देते थे। यज्ञ के अन्त में पूरी तरह खाली हाथ हो जाते थे। इसीलिये यज्ञ बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता था। कभी खीर और मालपुए बनते, तो कभी मिठाईयाँ। हलवा बेलचों से बाँटा जाता था। एक-एक ग्रामीण सेरों हलवा खा जाता था और उससे भी अधिक साथ बाँध ले जाता था। आस-पास के गाँवों के लोग कई दिन तक मालपुए और हलवा गर्म करके खाते रहते थे। आई हुई जनता की जो सेवा इस यज्ञ में होती थी वह उस इलाके में बारातियों की भी नहीं हुआ करती थी। गाँव वाले कहते कि भगत मंगत के पास बहुत पैसा आ गया है; उसे पचा नहीं पा रहे हैं। क्या ब्राह्मण भी कभी पैसा बचा सके हैं ?

प्राचीन ऋषियों ने सृष्टि को ब्रह्मयज्ञ की संज्ञा दी थी। ब्रह्म यज्ञ द्वारा अपनी महिमा को प्रकट करता है। यज्ञ का अर्थ है बलिदान। सृष्टि का सृजन करके ब्रह्म ने अपने को छिपा लिया। प्रत्येक जीव के रूप में उत्पन्न होकर उसने अजन्मा होकर भी जन्म स्वीकार किया, अमर होकर भी मरण स्वीकार किया। गुरुओं, अवतारों और पैग़म्बरों के रूप में उत्पन्न होकर उसने समस्त जीवों के पापों को अपने ऊपर ले लिया, यातनायें सहीं, कष्ट उठाये और शरीर के अंग-अंग कटवाये। महाभूतों के रूप में उत्पन्न होकर सेवाव्रत लिया। धरती समस्त जीवों का भार मौन रहकर वहन करती है, सूर्यदेव जीवन प्रदान करते हैं और चन्द्रदेव सबका ताप हरते हैं। पेड़ फल लुटाते हैं, नदियाँ जल का दान देती हैं और बादल बरसने के लिये उत्पन्न होते हैं। सारी ही सृष्टि त्यागमयी है - यज्ञमयी है।

इस यज्ञरूपा सृष्टि में जीव भी होम होने के लिये आया है। लेकिन यह अभागा जीव अपनी आहुति न देकर सारी दुनिया की आहुति चाहता है- अपने सुख के लिये। महाभूतों को वश में करता है तो भोग-सामग्री इकट्ठी करने के लिये; पशुओं को पालता है तो अपनी भूख मिटाने के लिये; अन्य मनुष्यों से सम्बन्ध स्थापित करता है तो अपने स्वार्थसाधन के लिये, और देवपूजा करता है

तो अपनी कामनापूर्ति के लिये।

अम्बर वायु अग्नि, नित ही सेवा धार।
'मंगत' मूढ़ा मानुष, नहीं सूझे कुछ सार॥

मनुष्य 'मूढ़' इसलिये है क्योंकि स्वार्थसाधन के प्रति उसकी सारी कोशिश निरर्थक है। न तो उसकी कभी भूख मिट पाती है और न ही जीने की इच्छा पूरी हो पाती है। वह पैदा ही मरने के लिये हुआ है। उसकी हर चतुराई मूढता है, हर प्रयत्न घातक है और हर आशा अन्ततः निराशा है।

सत्पुरुष ने जीव के इस संकट को दूर करने के लिये ही यज्ञ की परिपाटी स्थापित की ताकि जीव अपनी यज्ञमयी प्रकृति को समझकर और अपनी आहुति आप देकर कृतकृत्य हो सके। जैसा कि आप फ़रमाते हैं :

सो मन मुखिया चण्डाल सरूपा। यज्ञ सरूप नहीं परसे अनूपा॥
यज्ञ के करने हारे जोई। यज्ञ में रसना खाते जोई॥
यज्ञ की सेवा जिस विध जो धारी। परत्यख रूप पावें छुटकारी॥
सब को फल अमृत होये। यज्ञ करम जो प्रीत लखोये॥
निष्काम सेवा निरपख नित रसना। अद्वैत दृष्ट यज्ञ करम की रसना॥
समताभाव सब में दिखलाई। एको ब्रह्म सरब दरसाई॥

क्या कर्त्ता क्या भोगता, सब ही प्रेम समायें।
मंगत महिमा यज्ञ की, देव मुनी नित गायें॥

द्रव्य स्वरूप भी ब्रह्म पहचानी। करने हारे एको प्रभ जानी॥
यज्ञ के भोगते भी ब्रह्म सरूप।सब दिखाये एको प्रभ अनूप॥
द्वैत भाव जाँ नहीं भासे। ब्रह्मयज्ञ सो धरम परगासे॥

सही अर्थों में याज्ञिक वही है जो अपने अहंभाव का यज्ञ करके ब्रह्मरूप हो गया हो। वह अद्वैतभाव में स्थित रहता है और समस्त सृष्टि को ब्रह्मरूप देखता है। ऐसा ब्रह्मयाज्ञिक बनने के लिये उसे सादगी और अहिंसा (भूतयज्ञ), सेवा (मानुषयज्ञ), निष्कामता (देवयज्ञ), गुरुपरायणता (ऋषियज्ञ) और स्मरण, भजन, ध्यान और समाधि (ब्रह्मयज्ञ) में अपने आपको होम करना पड़ेगा।

वार्षिक यज्ञ मूलतः सेवाभाव को जाग्रत करने के लिये स्थापित किया गया था। त्याग और सेवा से ही जीव और समाज का भला हो सकता है – ऐसा गुरुदेव का निश्चित मत था।

गुरुदेव ने यज्ञ का तो प्रारम्भ किया था, लेकिन उनका एकान्तवास नित्य ही बढ़ता जा रहा था। जो हिकमत की सेवा चल भी रही थी, वह भी नवम्बर सन् १९३५ में समाप्त हो गई। अब उनका संकल्प शारीरिक रोग की निवृत्ति के स्थान पर सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का था। इन दिनों गुरुदेव अहमदाबाद, इन्दौर, बम्बई, काशी, हरिद्वार और लाहौर की यात्रा पर निकले थे। यह यात्रा आपने महन्त रत्नदासजी की प्रार्थना पर की थी। इन स्थानों पर आपने साधु-सन्तों के वास्तविक जीवन को भी देखा – उनके पाखण्ड और ठाठ-बाठ का भी जायजा लिया। अहमदाबाद में आपने महन्तजी की प्रार्थना पर 'योग चिन्तामणि' वाणी भी उच्चारण फ़रमाई जिसको श्री महन्तजी ने लिपिबद्ध कर लिया। यह यात्रा थोड़ी ही देर की थी। आपका अधिकतर समय गंगोठियाँ की घाटियों में घोर तप में व्यतीत होता रहा।

मार्च सन् १९३८ में आप काश्मीर की ओर निकल पड़े। आपका संकल्प एकान्तसेवन और तप करने का था। रावलपिण्डी पहुँच कर आप कोहाला की बस पर बैठ गये बस खाली थी और आप फ्रन्ट सीट पर जा बैठे। कुछ समय बाद एक यात्री ने बस में प्रवेश किया और ड्राईवर को कहकर आपको फ्रन्ट सीट

से उठा दिया। इसके बाद दूसरा यात्री आया और उसने भी आपको उठ जाने के लिये कहा। आप चुप करके अपनी सीट से उठ खड़े हुये और पीछे बैठ गये। इस प्रकार अन्य यात्रियों ने भी आपको उठा दिया और एक-एक करके आपको कई सीटें बदलनी पड़ीं। लेकिन आपके मुख से एक शब्द भी न निकला। इस अभद्रता का कारण आपका सादा लिबास और चुप रहने का स्वभाव था।

इस दृश्य को एक सज्जन देख रहे थे। वस्त्रों से सम्पन्न दिखाई देते थे ऊपर से गले में बन्दूक डाल रखी थी। उनसे न रहा गया। क्रोध में बोले, "यह बड़े अफ़सोस की बात है कि जो भी आता है वह इन सज्जन को उठाकर जगह सम्भाल लेता है ! क्या इन्होंने किराया नहीं दिया है ? आप लोगों को क्या अधिकार है इनसे इस तरह व्यवहार करने का ?"

बस में बैठे यात्री चुप रहे। गुरुदेव ने उनसे कहा, "प्रेमी ! आपको इनसे झगड़ा करने की जरूरत नहीं है। हमें तो बस में बैठना है-आगे-पीछे की कोई बात नहीं।"

उन सज्जन ने आपको अपने पास बिठाया। नाम था कर्मचन्द - डाकखाने में काम करते थे उन्होंने गुरुदेव से पूछा, "आप कौन हैं और किधर जा रहे हैं ?"

उत्तर दिया, "प्रेमी ! यह एक फ़कीर हैं। सुना है कि हिलसुरंग पुंछ में एक घना जंगल है जहाँ तप किया जा सकता है। वहाँ कुछ ब्राह्मणों के घर भी हैं। आप चूंकि उधर के रहने वाले हैं, इसलिये ऐसे आदमियों से मिला दें जिनका व्यवहार शुद्ध हो और जो इन्हें चौबीस घण्टे में एक बार सूक्ष्म आहार पहुँचा सकें।"

बातों ही बातों में प्रेमी कर्मचन्दजी को याद आया कि उन्होंने गुरुदेव को पहले भी देखा है। तब वे कल्लर में डाकख़ाने में काम करते थे और गुरुदेव वहाँ कुछ रुपये लेने आये थे। रास्ते में गुरुदेव अक्सर मौन रहे। रह-रहकर वे योग निद्रा में लीन हो जाते थे प्रेमी आश्चर्यचकित होकर यह लीला देख रहे थे। इसी तरह समय गुजरने लगा। दिन ढलने को था जब बस कोहाला पहुँची। कोहाला एक छोटा-सा कसबा था जो रावलपिण्डी और श्रीनगर को मिलाने वाली सड़क पर जेहलम नदी के किनारे बसा था। जेहलम के पार काश्मीर और पुंछ की सीमा शुरू हो जाती थी। कसबे के साथ ही जरा ऊपर ज़िला हजारा की सीमा थी। कोहाला से मील-डेढ़ मील ऊपर जलमादा गाँव था। यह गाँव एक पहाड़ी पर बसा था। आस-पास हरियाली और जंगलों से भरी पहाड़ियाँ थीं। ऊपर बर्फानी पहाड़ों की छटा थी। कोई एक मील नीचे घाटी में सामने से आती जेहलम नदी मोड़ खाकर बहती थी। रात के सन्नाटे में दूर-दूर तक उसका सुखद् नाद सुनाई देता था।

प्रेमी कर्मचन्द गुरुदेव को जलमादा गाँव में अपने घर ले आये यहाँ गुरुदेव उस दिन और दूसरे दिन भी निराहार ही रहे। जब उनकी तसस्ली हो गयी कि कर्मचन्दजी का व्यवहार शुद्ध है तब (तीसरे दिन सुबह) जाकर एक चपाती ग्रहण की। हिलसुरंग में कोई अनुकूल स्थान न मिलने के कारण जलमादा निवासियों ने वहीं तप करने की प्रार्थना की- विशेष कर श्रीरामदित्तामल और श्री सेवारामजी ने। वे लोग कुछ ही दिनों के सत्संग से आपके व्यक्तित्व से प्रभावित हो गये थे। एक दिन कुछ प्रेमियों के साथ आप तपोभूमि की तलाश में निकले। गाँव के नीचे एक स्थान था जहाँ कि कभी एक बग़ीचा रहा था लेकिन अब वहाँ कुछ ही पेड़ बचे थे। इस स्थान पर पहुँचकर आप रुक गये और कोई दो घण्टे तक चुपचाप खड़े रहे। आँखें बन्द थीं और शरीर गतिहीन साथ में प्रेमी लोग भी खड़े रहे। किसी को भी उस निस्तब्धता में बोलने की जुर्रत न हुई।

आखिर प्रेमी रामदित्तामल ने वह मौन तोड़ा। प्रार्थना की, "महाराजजी ! आज्ञा हो तो इसी स्थान में कुटिया बना दी जाय। आज से हमने यह स्थान धर्मार्थ कर दिया।"

यह कहकर वह और उनके छोटे भाई सेवारामजी उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। लेकिन गुरुदेव का मौन वैसे ही जारी रहा। कुछ समय बाद आप ख़ुद ही धीमी आवाज में बोले, "यह स्थान पहले भी ऋषि-मुनियों की तपोभूमि रह चुका है। यहाँ एक चश्मा (सोता) अवश्य होना चाहिये।"

यह सुनकर प्रेमियों में आश्चर्य और आनन्द की एक लहर दौड़ गई। सब ने गुरुदेव से उस स्थान पर कुटिया बनाने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिलने पर सबने मिलकर वहाँ कुटिया बना दी। कुटिया के पीछे एक चट्टान थी। उसी चट्टान के पीछे गुरुदेव ने जमीन खोदने की आज्ञा दी। जमीन खोदते ही एक निर्झर फूट निकला। इससे उस स्थान की शोभा और भी बढ़ गयी।

गुरुदेव ने अपने ज्ञानचक्षुओं से जो आज देखा था, वह बाद में प्रेमियों को बतलाया। आपने तब कहा था, "प्रेमियों ! यह जो स्थान है वह आज का नहीं है। हजारों वर्ष पहले सत्युग में सनकादिक ऋषि भी यहाँ ही तप किया करते थे। उस समय जेहलम नदी इस स्थान के पास ही बहती थी जो कि अब एक मील नीचे चली गयी है। कई बार इस जगह में तब्दीलियाँ आयीं और आगे भी आती रहेंगी अब भी प्रभु आज्ञा से इस समय सत्संग चल रहा है।"

ऐसी तपोभूमि में जहाँ कभी सिद्धपुरुषों का वास रहा था, जहाँ नित्यप्रति ऋचाओं का गायन होता था, जिसकी कुटीरों से हवन का धुआँ उठा करता था, जहाँ तपस्वी अहिंसा और ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर आत्मज्ञान के लिये तप किया करते थे—ऐसी पावन भूमि में गुरुदेव ने २३ मार्च सन् १९३८ के दिन तपस्या का प्रारम्भ किया। प्रेमियों को आदेश दे दिया कि कोई भी प्रेमी कुटिया में

न आये। केवल एक प्रेमी दिन में एक बार आधा सेर चाय युक्त दूध पहुँचा जाता था। जो दो तोले आटा गुरुदेव ग्रहण किया करते थे, वह भी बन्द कर दिया। सुबह एक सोते के नीचे स्नान करने के बाद दिन-रात कुटिया में समाधिस्थ रहते थे शरीर तो पहले ही दुर्बल था। इस तप ने रही-सही कसर मी पूरी कर दी। हालत यहां तक आ गयी कि एक-एक हड्डी और नाड़ी दिखायी देने लगी। रंग और भी पीला पड़ता जा रहा था। लेकिन आश्चर्य की बात यह थी कि इस दुर्बलता में मुख का तेज और भी बढ़ रहा था।

पैंतीस दिन तक यह तप चलता रहा। एक रात प्रेमी सेवाराम अपने घर की छत पर सो रहे थे। अचानक उनकी नींद टूट गयी। जागे, तो गुरुदेव को आवाज देते सुना। रात के दो बजे थे। कुटिया काफ़ी दूर थी। महाराजजी के शरीर की दुर्बलता की याद आयो। सोचने लगे, आवाज इतनी दूर कैसे पहुँच गयी ? कुटिया की ओर चल दिये। रास्ते भर सोचते रहे, गुरुदेव ने इस रात के समय क्यों बुलाया है? कुटिया के निकट पहुंचे तो देखा कि किवाड़ कुछ खुला हुआ है। अन्दर दीपक जल रहा था। जाकर प्रणाम किया।

गुरुदेव बोले, "आओ प्रेमी बैठो ! बहुत तक़लीफ़ दी है।"

प्रेमी ने नजर उठाकर देखा। मुख पर एक अजीब-सा प्रकाश चमक रहा था, जिसे देख पाना कठिन था। उन्होंने आँखें झुका लीं। इसी बीच और प्रेमी भी आ गये - उन्होंने भी गुरुदेव की आवाज सुन ली थी। सभी ने आकर प्रणाम किया और उस तेजपुञ्ज को निहारने लगे। सभी का मन आशा, आशंका और कौतूहल से भरा था। कुटिया में एकदम खामोशी थी।

गुरुदेव ने सबको आशीर्वाद दिया और बैठने का आदेश दिया।

मौन तोड़ते हुये एक प्रेमी ने पूछा, "महाराजजी, इस समय कैसे याद

फ़रमाया ?"

गुरुदेव ने अत्यन्त कोमल आवाज़ में उत्तर दिया, "जिस मक्सद (उद्देश्य) को लेकर यहाँ बठना हुआ था, वह पूरा हो गया। और आज तक इधर का जो प्रोग्राम था, वह भी पूरा हो गया। इसीलिये आप लोगों को तक़लीफ़ दी है।"

प्रेमी सेवाराम बोले, "महाराजजी, हमें कोई कष्ट नहीं हुआ है। हम बड़े भाग्यशाली हैं जो आप जैसी हस्ती के दर्शन हुये।"

गुरुदेव : "प्रेमी जी ! सुबह इन्होंने यहाँ से चला जाना है। अच्छा, बताओ यह जो आपने इस समय तक़लीफ़ उठायी है इसका क्या एवजाना दिया जाय ? यह तो फ़क़ीर हैं इनके पास रुपया-पैसा नहीं है और न ही कोई सामान है !

प्रेमी सेवाराम : महाराजजी, हमें कोई तक़लीफ़ नहीं हुई है। आप क्यों ऐसा फ़रमाते हैं ?

गुरुदेव : अच्छा प्रेमी, प्रसाद बनाकर लाओ।

प्रेमी सेवाराम आज्ञा पाकर प्रसाद लेने चले गये। जब लौटे तो प्रभात हो रहा था।

गुरुदेव ने अपने करकमलों से सबको प्रसाद दिया। तब तक दिन निकल आया था। बोले, "प्रेमीजी, इजाजत दो ! अब चलने का समय आ गया है।"

इस पर सेवारामजी बोले, "महाराजजी ! आप क्यों हमें पापी बनाते हैं ?"

गुरुदेव : प्रेमीजी, चौदह वर्ष से इस वस्तु की तलाश थी जो आज यहाँ प्राप्त हुई है। यह वह स्थान है जहाँ किसी समय सनकादिक ऋषि ने तप किया था और यह जेहलम दरिया जो इस समय दूर से जा रहा है यहाँ से ही गुजरता था। आगे भी यह स्थान पवित्र रहेगा और परमात्मा तुम लोगों को आनन्द देगा।

प्रेमी : महाराजजी, यदि ऐसी बात है तो दास की प्रार्थना स्वीकार की जाय।

गुरुदेव : प्रेमीजी, हम आपसे अलग नहीं हैं। कहो, क्या कहना चाहते हो ?

प्रेमी : महाराजजी, आपने इस स्थान पर इतना तप किया है और यह ऋषियों की तपोभूमि भी है। यदि आज्ञा हो तो यहाँ एक यज्ञ किया जाय ताकि आस-पास की जनता भी आपके दर्शन कर सके।

गुरुदेव : प्रेमीजी, बहुत कष्ट और खर्च होगा

प्रेमी : महाराजजी, आप ही ने सब कुछ करना है। हम सेवक क्या कर सकते हैं?

आज्ञा पाकर प्रेमियों ने यज्ञ की तैयारियाँ शुरू कर दीं। आस-पास की जनता को सूचित किया गया। यज्ञ ज्येष्ठ मास की चौथी तिथि को होना था। समाचार पाकर अन्य लोगों के अलावा दो प्रेमी कोहाला से दर्शन करने को आये। ये वे प्रेमी थे जिन्हें आगे चलकर लम्बे समय तक श्री चरणों में वास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। नाम थे श्री बनारसीदास और ठाकुर दीवानसिंह। दोनों की आयु छोटी थी- यही कोई बीस-एक वर्ष की रही होगी। दोनों ने आ कर प्रणाम किया और बैठ गये। गुरुदेव इस समय कुटिया के बाहर पेड़ के नीचे बैठे थे और जाग्रत अवस्था में थे। देखते ही आप ने पूछा, "प्रेमीजी, किधर से आये हैं ?"

बनारसीदासजी ने उत्तर दिया, "महात्माजी, पता नहीं कहाँ से आये हैं ?"

उत्तर सुनकर गुरुदेव जरा-सा मुस्करा दिये। आँखें मूंद लीं और समाधि में प्रवेश कर गये। भगत बनारसीदास देर तक गुरुदेव को निहारते रहे। वे कहते हैं :

"शरीर इस प्रकार कमजोर दिखाई पड़ रहा था कि सब हड्डियाँ और नाड़ियाँ साफ़-साफ़ दिखाई दे रही थीं। तो भी मन इतना आकर्षित हो रहा था कि उठने को जी न चाहता था। अन्तर ही अन्तर यह आवाज आ रही थी, 'ऐ बनारसी ! यही तेरा ठौर है ! यहाँ से ही तेरा असली रास्ता शुरू होगा ! तेरी शाँति और सुख का राज़ इसी जगह छिपा हुआ है !' मन ने एक नयी शांति महसूस की। ऐसा सोच ही रहा था कि महाराजजी ने समाधि से आँखें खोलीं। लगा कि वे अपनी ओर खींच रहे हैं कहने लगे, 'प्रेमियों, जाओ ! समय अधिक हो गया है।' इतना कहकर फिर समाधि में लीन हो गये। उस समय अँधेरा हो रहा था महाराजजी ने फिर जाने को कहा। हम थोड़ी देर और बैठे रहे फिर प्रणाम करके चल दिय।"

यज्ञ के दिन सभी प्रेमियों ने खूब उत्साह से सब कार्य किया। सभी धर्मों के लोग उस यज्ञ में सम्मिलित हुये। हिन्दू लोग हवन कर रहे थे। सिक्ख भाई अखण्ड पाठ कर रहे थे, और मुसलमान क़ुरानशरीफ़ की आयतें पढ़ रहे थे हवन की समाप्ति पर हिन्दुओं ने गुरुदेव से अन्तिम आहुति डालने की प्रार्थना की; अखण्डपाठ की समाप्ति पर सिक्खों ने अरदास सोधने के लिये विनती की, और मुसलमान भाइयों ने आखिरी नमाज पढ़ने के लिये अर्ज किया। सबकी प्रार्थनायें सुनकर गुरुदेव ने मुस्करा कर कहा :

“प्रेमियों ! यह अन्तिम आहुति डाल चुके हैं, अरदास सोध चुके हैं और

आखिरी नमाज अदा कर चुके हैं। अपना कार्यक्रम समाप्त करने के बाद सब प्रेमी बैठें ताकि थोड़ी देर तक सत् विचार हो सके।"

सब प्रेमी जब हवनादि क्रियाओं से निवृत्त हुये तब आपने सदुपदेश दिया। धर्म और मोक्ष का सही स्वरूप समझाया - जीव के दुःख का कारण और उसकी निवृत्ति के उपाय पर प्रकाश डाला। नित्यप्रति जीवन को शांतिमय बनाने के लिये अपनी कामनाओं को वश में करने और ईश्वरपरायण जीवन बिताने पर जोर दिया। शरीर की दुर्बलता के बावजूद आवाज बहुत ऊँची थी गुरुदेव के सत्संगों की स्मृति उनके प्रेमियों के जीवन की अमूल्य निधि है। जब तक उनकी देह में प्राण हैं, तब तक वह स्मृति उनके साथ रहेगी। उस सत्संग के बाद अनेक लोगों ने आप के चरणों में शरण ली। दो प्रेमियों ने तो सारा जीवन ही सेवा में अर्पित कर दिया।

उपदेश समाप्त होने पर आपने समस्त एकत्रित जनता को आशीर्वाद दिया और प्रसाद वितरण की आज्ञा दी। उस समय आकाश में बादल छाये हुये थे। देखते ही देखते पानी बरसने लगा। खाने-पीने का सामान बचाना मुश्किल हो गया। प्रेमी डरे कि सब किया कराया ख़त्म न हो जाय। उनकी परेशानी देख कर आप ने कहा, "यह भी ईश्वर की कृपा ही जानो।" खैर, थोड़ी देर बाद बारिश रुक गयी और लंगर बटना शुरू हुआ। क्या खाने वाले और क्या खिलाने वाले- दोनों ही तृप्त होने लगे। अनेक प्रेमी कई दिन से दौड़-धूप कर रहे थे और आज तो उन्होंने लगातार कई घण्टे काम किया था। लेकिन किसी को भी थकावट का पता तक न था। बड़े प्रेम से हाथ जोड़-जोड़कर खिला रहे थे खाने-खिलाने का कार्य शाम तक चलता रहा। तब लोग गुरुदेव को प्रणाम कर और उनका आशीर्वाद प्राप्त कर विदा हुये। सेवादार प्रेमी देर तक संगत को जाते देखते रहे। आज उनके मन में अनजाने लोगों के प्रति भी प्रेम उमड़ रहा था।

संगत को विदा करके सेवादार प्रेमी श्री चरणों में हाज़िर हुये। किसी को मी विश्राम करने की इच्छा न हो रही थी। गुरुदेव विभिन्न संतों की वाणी का उच्चारण करते हुये ज्ञानचर्चा करने लगे। प्रेमी लोग दत्तचित्त होकर सुनते रहे रात के एक बजे तक सत्संग चलता रहा। तब आपने प्रेमियों को विश्राम करने की आज्ञा दी। इधर प्रेमी कुटिया में विश्राम करने लगे, उधर गुरुदेव नीचे वन की ओर निकल गये। उनका दिन दूसरों के लिये था, लेकिन रात अपनी थी।[१] जब दुनिया सोती थी, तब वे जागते थे- उस आत्मलोक में जहाँ उनके सत्य और कल्याण दोनों बसते थे।[२]

---

१. तुलनीय : या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागत संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
गीता २-६९

२. प्रश्न उठ सकता है कि जब श्री गुरुदेव तेरह वर्ष की आयु में ही आत्मसाक्षात्कार कर चुके थे, फिर वह कौन-सी चीज थी जिसकी उन्हें चौदह वर्ष से तलाश थी और जिसे उन्होंने यहाँ जलमादा में आकर प्राप्त किया था। इस सम्बन्ध में इतना कहना यथेष्ट होगा कि पहले आत्मानुभव होता है, फिर आत्मस्थिति की अवस्था आती है और अन्त में आत्मलीनता प्राप्त होती है। यह अन्तिम अवस्था सहज समाधि की है विस्तार के लिये देखिये श्री समताविलास, सन् १९७५ पृ० १३९ - १५५ (समतायोग सिद्धि) तथा पृ० ४१० (आत्मसिद्धि विचार)।

अध्याय - ५

भक्तवत्सल

यज्ञ की समाप्ति के बाद आप एक सप्ताह तक जलमादा में ही रहे। रात नौ बजे के आस-पास कोहाला और अन्य गाँवों से प्रेमी आने लगते थे। जलमादा के प्रेमी उनकी बड़े प्रेम से सेवा किया करते थे। जो खाकर आता उसे भी, और जो न खाकर आता उसे भी खाना पड़ता था। खा-पीकर सब गुरु वचनामृत का पान करते थे। प्रेमवश हर कोई जरूरत से कहीं अधिक खा लेता था, लेकिन फिर भी आलस्य या नींद न सताते थे। पता ही न चलता था कि कब आधी रात हो जाती। जब कोई एक बज जाता और गुरुदेव घर लौटने की आज्ञा देते, तब कहीं उन्हें समय का ध्यान आता। रास्ते भर प्रेमी लोग गुरुदेव की आकृति मानो देखते रहते। न उन्हें अँधेरी रातों का विचार आता था और न ही जंगलों से भय लगता था।

एक सप्ताह बाद चौधरी रामदित्तामल गुरुदेव को निखेतर गाँव लिवा जाने के लिये जलमादा आये। वहीं चौधरी साहब का घर था। निखेतर गाँव कुछ ही दिन ठहरने का कार्यक्रम था तो भी जलमादा के प्रेमियों के लिये गुरुचरणों का वियोग दुःख का कारण बन रहा था। वे दो मील तक साथ गये। गुरुदेव घोड़े पर सवार थे और प्रेमीलोग पैदल चल रहे थे। रास्ते में बटोक नदी पड़ती थी। वहाँ पहुँच कर महाराजजी ने घोड़ा रोककर कहा, "प्रेमियों ! अब लौट जाओ। काफ़ी दूर निकल आये हो।" ये वचन सुनकर सब लोग

आँसू बहाने लगे। भगत बनारसीदास तो फूट-फूट कर रोने लगे। उन्हें रोता देखकर गुरुदेव ने अपनी सहज शांति के साथ कहा, "यह दूर नहीं है। हर समय हृदय में ही देखा करो। आहिस्ता-आहिस्ता संसारी बन्धनों से पीछा छुड़ाना चाहिए।"[१]

सब ने चरण-धूलि ली घोड़ा तेजी से आगे निकल गया। जब तक गुरुदेव आँखों से ओझल नहीं हुये तब तक प्रेमी उन्हें देखते ही रहे। तब भारी उदासी लिये घर लौटे।

कुछ दिन निखेतर गाँव रहकर गुरुदेव वापस जलमादा पधारे। सम्मेलन का समय निकट आ रहा था। इसलिये गुरुदेव गंगोठियाँ लौट आये। प्रेमीजन शुभ-स्थान के दर्शन करने को लालायित थे। वे सम्मेलन की प्रतीक्षा बड़ी उत्सुकता से करने लगे। भगत बनारसीदास तो नित्य ही उदास रहने लगे। दिन-रात एक ही धुन लगी रहती थी कि किस प्रकार गुरुचरणों में पहुँचूँ काम-काज में जी न लगता था। अधिक से अधिक समय आत्मचिन्तन में लगाने की कोशिश करते रहते थे एक ही काम में अब रुचि रह गयी थी – गुरुदेव को पत्र लिखना। पत्र लिखकर उनके उत्तर की प्रतीक्षा करते रहते थे। उन दिनों गुरुदेव पत्नों के उत्तर अक्सर वाणी में दिया करते थे। जब भगतजी को

---

१. गुरु वास्तव में आत्मस्वरूप परमेश्वर है, न कि शरीर। वाणी में कहा है :

सतगुरु तो अन्तर में पल पल करें पुकार।
आज्ञाकारी होय के, तू घट का पाट उघाड़॥

एक बार प्रेमी देवराजजी से आपने कहा था, "प्रेमी, जिस वक़्त गुरु को अन्तर में अनुभव करोगे तब गुरु का असली रूप समझ में आवेगा अभी तो इस खल्लड़ (खाल = शरीर) को तुमने गुरु समझ रखा है उस समय तुम्हें विस्माद (विस्मय) का ही अनुभव होगा। तू यही सोचता रहेगा कि मैंने समझा क्या था और यह निकला क्या ? तेरा रोम-रोम गुरु को धन्यवाद देगा। अभी तो तूने गुरु खिलौना ही समझ रखा है।"

उस दिन भी गुरुदेव ने एक ही वाक्य में सही गुरुभक्ति का उपदेश प्रेमियों को दिया था कि वे उन्हें अपने हृदय में देखें।

गुरुदेव का पत्र मिलता तो उन्हें लगता कि कोई दैवी वरदान मिल गया है। रात-दिन उसे साथ लिये रहते थे और अपनी सुरीली आवाज में गाते अथवा गुनगुनाते रहते थे रह-रहकर उनकी आँखों से आँसू बह निकलते थे। दुकान के काम से मन उचाट हो गया था। ग्राहकों की शक्ल देखकर कष्ट होने लगता था। यह साफ़ था कि दुकानदारी उनके स्वभाव से मेल नहीं खा रही थी।

वर्षा ऋतु जाते-जाते भगतजी को एक वरदान दे गयी पंजाब भर में मौसमी बुखार फैल गया। भगतजी भी उसकी लपेट में आ गये। जब स्थानीय चिकित्सा से कोई आराम न आया, तो रावलपिण्डी जाकर इलाज कराने का निश्चय किया इलाज कराने का तो बहाना ही था, क्योंकि वे दूसरे ही दिन गंगोठियाँ जा पहुँचे गुरु-दरबार में पहुँच कर सब दुःख-सुख भुला बैठे। बुखार के कारण भूख न लगती थी; लेकिन गुरुदेव ने इतना खिलाया कि जो वह अपनी स्वस्थ हालत में भी न खा सकते थे। कहने लगे, "गुरु-दरबार में जितना खाओ उतना ही अच्छा होता है।"

दूसरे दिन भगतजी दोपहर का खाना खाकर लेट गये। गर्मी के दिन थे— लेटते ही नींद आ गयी। कोई डेढ़ घण्टे बाद जब आँख खुली तो क्या देखते हैं कि गुरुदेव उन्हें पंखा कर रहे हैं। भगतजी घबराकर उठ बैठे और गुरुदेव के हाथ से पंखा लेकर इतना ही कह पाये, "महाराजजी, इस तरह।" आगे बोल न सके। गला भर आया सोचने लगे कि किस तरह उऋण हो पायेंगे। आँखें नीची करके चरणों में बैठे रहे। इतने में गुरुदेव समाधिस्थ हो गये और भगतजी गुरुभक्ति के सागर में डूबते-उतरते रहे।

कुछ देर बाद गुरुदेव ने समाधि से जाग कर कहा, "प्रेमी, हिसाब लेने-देने पड़ेंगे यह गुरुसेवा कराने वालों में नहीं हैं ईसा ने शिष्यों के पाँव धोकर पिये थे। सन्तों का मार्ग थोड़ा उलटा ही रहता है। "तुम क्या सोच रहे हो ?"

भगतजी ने उत्तर दिया, "महाराजजी, दास को अपने दिल में जगह देनी होगी। जी चाहता है कि इसी दर पर पड़ा रहूँ !"

कहने लगे, "प्रेमी, इतना बड़ा जी कहाँ से लाओगे ? फ़कीरों की सेवा में रहना कोई आसान थोड़े ही है ! अभी जाकर माँ की सेवा करो ! तुम्हें याद कर रही होंगी।"

भगतजी : ये संसारी सम्बन्ध भी बड़े भारी बन्धन होते हैं।

गुरुदेव : इस मोहजाल से शेर की तरह - पिंजरा तोड़कर निकलना पड़ता है। प्रभु कृपा करें तो सब रास्ते आप ही साफ़ हो जाया करते हैं।

इतना कहकर गुरुदेव पीरख्वाजा जंगल की ओर चल दिये। भगतजी भी साथ चल दिये। वह सुनसान जगह भयानक होते हुए भी बड़ी सुन्दर थी। हरे भरे वृक्षों और पक्षियों की आवाज ने भगतजी को मोह लिया। गुरुदेव एक घने वृक्ष के तले जा बैठे। सारी जगह काँटों से भरी थी, लेकिन आपने न तो उसे साफ़ किया और न ही कोई आसन बिछाया। इधर भगतजी कपड़े धोने चले गये जब लौटकर आये तो महाराजजी को समाधिस्थ पाया। प्रणाम करके पास ही बैठ गये।

उस शून्य वन की शून्यता से भी बेख़बर होकर गुरुदेव महाशून्य में लीन थे। भगतजी की आँखें गुरुदेव पर टिकी थीं। थोड़ी देर में भगतजी क्या देखते हैं कि आँखें बन्द किये ही गुरुदेव वाणी का उच्चारण कर रहे हैं। उसे श्रवण कर वे प्रेम-द्रवित हो गये और जेब से पेंसिल और नोट बुक निकाल कर लिखने लगे। वाणी की समाप्ति पर गुरुदेव ने आँखें खोलीं और भगतजी को लिखता देखकर कहने लगे, "क्यों लिख रहे हो ? ये बातें घर-घाट का नहीं रहने देतीं ! जिसके लिये संसार में आये हो, वे संसारियों वाले काम करो !"

भगतजी : "महाराजजी, कुछ पता नहीं लगता ! आपके चरणों में बैठकर कुछ इस कदर शाँति प्राप्त होती है और ऐसा प्रेम अन्दर से उठ रहा है जो इस बात पर मजबूर कर रहा है कि हर वक्त आपकी सेवा में रहकर ये वचन लिखता रहूँ।

गुरुदेव : फ़कीरों के पास रहना बड़ा ही मुश्किल होता है ! अच्छा, अब जो लिखा है, पढ़कर सुनाओ।

भगतजी ने पढ़ना शुरू किया :

सत बुद्धि धर बावरे, कर सतगुरु पहचान |
जाँ के दरस के परसते, मिटे चौरासी खान ॥
जप तप संयम साधना, मोह माया से उदास।
पर उपकारी विरत जाँ, शबद अलख चित्त वास ॥
तन मन की शोभा तजे, रहे आतम में परवीन।
बानी निरपख बोलदे, एह सतगुरु लक्षण चीन ॥
सब जीवों में एक दृष्ट, प्रेम समता ज्ञान।
वरण कुल नहीं मानदे, केवल सत ध्यान ॥

इस शब्द के बाद और भी शब्द पढ़े। कहने लगे, "आपने बड़ी कृपा की है। ये शब्द नित्यपाठ के लिये काम आयेंगे।"

इस पर गुरुदेव बोले, "कहाँ तक लिख सकता है ? लिखता लिखता तू थक जायेगा, लेकिन इधर से प्रभुकृपा सदा ही होती रहेगी। कई दिन और रातें इसी तरह गाते-गाते गुजर गयीं। ईश्वर की महिमा कोई समाप्त थोड़े ही होती है !"

कोई आठ-दस दिन तक भगतजी वहीं रहे। अन्त में सांसारिक धन्धे अपनी तरफ़ खींचने लगे। तब आज्ञा लेकर गंगोठियाँ से विदा हुये। गुरुदेव की बड़ी बहन श्रीमती कर्तारदेवी भी उनके साथ चल रही थीं। गुरुदेव काफ़ी दूर तक साथ आये। आगे भगतजी कहते हैं :

"रास्ते में कई बार वापसी के लिए प्रार्थना की। कहते, 'कोई बात नहीं, प्रेमी !' चलते-चलते स्कूल के पास एक पेड़ के नीचे खड़े हो गये। आपने तब बड़ी बहनजी को प्रणाम किया। दास ने भी दो-तीन बार नमस्कार किया। उस समय जाने को जी न चाहता था। न ही कोई बोलने की हिम्मत हो रही थी तब महाराजजी ने कहा, 'प्रेमी ! देर हो जायेगी, जाओ !' बड़ी मुश्किल से रोते-रोते विदा हुये दूर से पीछे मुड़कर देखा – महाराजजी वहीं खड़े थे। मन में विचार आया किस तरह कृपादृष्टि कर रहे हैं।

इस वर्ष (सन् १९३८) में यज्ञ बड़ी धूमधाम से हुआ। इससे पहले तो केवल आस-पास के गाँवों के ही प्रेमी आते थे, लेकिन इस बार कोहाला, जलमादा और काश्मीर के अन्य गाँवों से भी प्रेमी आये। यज्ञ कार्तिक (२५ अक्तूबर) रविवार को था। शनिवार को ही प्रेमीलोग काम में जुट गये थे। बड़े-बड़े ड्रम सिर पर रखकर नदी की ओर पानी लेने चल दिये। कई लोग बर्तन साफ़ करने लगे, कोई आटा छानने लगे बड़े-बड़े चूल्हे बनाये गये। एक ओर पूड़ियाँ बनने लगीं और दूसरी ओर दाल सब्जी। कहीं हलुआ बन रहा था और कहीं आटा मला जा रहा था। आलस्य अथवा थकावट जैसे गायब हो गई थीं। रात भर लालटेनों की रोशनी में काम होता रहा। अनेक प्रेमी लगातार नदी से पानी के ड्रम ला रहे थे। सुबह आठ बजे लंगर पकाने का काम समाप्त हुआ। महाराजजी उस रात बारह बजे बाहर चले गये थे। सुबह जब नौ बजे लौटे तो पहले बड़े कमरे में पड़े लंगर को ध्यान से देखा। फिर आकर आसन पर बैठ गये।

सुबह होने पर संगत की टोलियाँ ढोल और मञ्जीरे बजाती हुई आने लगीं। गुरुदेव ने उन्हें कोई दो घण्टे तक उपदेश दिया। उसके बाद भण्डारा हुआ। लंगर बाँटने से पहले गुरुदेव कोई पाँच मिनट तक खाद्य पदार्थों के पास खड़े रहे फिर उन्होंने हल्का पानी का छींटा दिया और बांटने की आज्ञा दी। एक बेलचा हलवा परात में डालकर कहा कि इस तरह बाँटो। कोई डेढ़-दो घण्टे में चार पाँच हजार लोगों ने खाना खाया। सबके खा चुकने पर प्रेमियों को महाराजजी स्वयं खाना परोसने लगे। एक दिन पहले जब प्रेमीलोग आये थे तब भी गुरुदेव ने उन्हें एक पंक्ति में बिठाकर खिलाया था। प्रत्येक प्रेमी के गले में पहले फूलों की माला पहनायी थी, फिर सिर झुकाकर प्रणाम करके उन्हें खाने के लिये प्रार्थना की थी लेकिन आज शिष्यों ने उन्हें किसी तरह भी ऐसा न करने दिया। सबने उनके समक्ष भोजन रखकर खाने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने तब आधी पूड़ी और दो चम्मच दाल ग्रहण की। फ़रमाने लगे, "यह सब कुछ हमने ही खाया है अब आप लोग भी ग्रहण करो।" सब प्रेमियों ने तब प्रसाद पाया। अभी बहुत सामान बचा था। गुरुदेव ने गाँववालों को बुलाकर उसे बाँट दिया।

दूसरे दिन जब प्रेमीलोग विदा लेने के लिये आये तब गुरुदेव ने प्रत्येक प्रेमी को प्रसाद के साथ एक-एक पगड़ी और दो-दो रुपये देकर कहा, "प्रेमियों, अब जा सकते हो।" यह स्थिति देखकर एक शिष्य ने पूछा, “महाराजजी, क्या यह देने की जगह है, या लेने की ?” उत्तर मिला, “संगत नारायण का रूप है। जिसकी चीज है उसीके आगे रखनी है।"

भगत बनारसीदास भी इस सम्मेलन में भाग लेने आये थे। उनके साथ उनके नित्य के साथी ठाकुर दीवानसिंह भी पधारे थे। सम्मेलन से पहले भगतजी की माता का देहान्त हो चुका था। माँ की ममता से परेशान होकर यज्ञ से पहले भी गुरुचरणों में हाजिर हुए थे। तब गुरुदेव ने उन्हें कहा था, "उसके बन्धन ईश्वर खुद ही काटता जाता है जो मालिक के चरणों में जाने की इच्छा करता है। सब कुछ उसकी आज्ञा में जानें। अपने मरने को याद करके कुछ सत्कर्म

करो। इसमें तुम्हारी भलाई है । इस आने-जाने के चक्कर से छूटना ही बड़ी बहादुरी है ।" यह कहकर गुरुदेव ने कुछ वैराग्य के वचन उच्चारण किये थे । भगतजी पर उस वैराग्य का रंग चढ़ने लगा था ।

यज्ञ पर सब प्रेमियों के विदा हो जाने पर भी भगतजी और ठाकुर दीवान सिंह जी को जाने की आज्ञा न मिली । ठाकुरजी तो न बोलते थे, न कोई कार्यक्रम बनाते थे । उनका वही कार्यक्रम होता था जिसे भगतजी निश्चित कर देते थे । आठवें दिन इन दोनों प्रेमियों को जाने की इजाजत मिली। एक बार फिर महाराजजी उनको छोड़ने साथ चल दिये । स्कूल के उसी पेड़ से नीचे खड़े हो गये जहाँ वे पहले भगतजी को छोड़ते समय खड़े हुये थे । आगे भगतजी कहते हैं, "दास, ठाकुरजी और उनकी नानी साहिबा वहाँ ही चरणों में बैठ गये । सिवाय रोने के और कुछ न बोला जा रहा था। महाराजजी कहने लगे, 'प्रेमी, घबराने की कोई बात नहीं ! कई मौके फिर सेवा के मिलेंगे ।' बड़ी मुश्किल से प्रणाम करके आज्ञा ली और अर्ज किया 'महाराजजी, गरीबों पर भी कृपा दृष्टि रखना !' श्री महाराजजी के मुख की तरफ़ देखा । उनकी भी आँखें गीली थीं। उस समय की वियोग की घड़ी जब याद आती है तो रौंगटे खड़े हो जाते हैं। महाराजजी ने कहा, 'प्रेमियों, लारी न निकल जाये ! जाओ ! अगले प्रोग्राम का पता जल्दी ही दिया जायेगा । समय मिले तो आकर मिल जाना ।' इन प्रेम भरे शब्दों को मन में रखकर चल दिये । दूर तक मुड़-मुड़कर महाराज जी को लौटते हुए देखते रहे । जब वह ओझल हो गये तब चौक पंडौरी की ओर चल दिये ।"

भगतजी कोहाला पहुँचे तो उनकी बहन की भी मृत्यु हो गई। उनका मन बहुत उचाट रहने लगा। दुकान भी कोई ढाई महीने से लगभग बन्द ही रही थी । उस काम में अब कोई रुचि न रह गई थी। उधर गुरुचरणों का ध्यान हमेशा बना रहता था । आखिर भगतजी ने दुकान बन्द करने का निर्णय किया । सारा हिसाब-किताब करके सामान अपने बहनोई साहिब के हवाले कर दिया ।

उधर गुरुदेव का पत्र मिला कि वे १७ मार्गशिर को अहमदाबाद के लिए प्रस्थान कर रहे हैं। भगतजी ने सोचा, जाने फिर कब गुरुचरणों के दर्शन हों ? यह सोचकर वे फिर गुरुदरबार में जा पहुँचे।

दूसरे दिन गुरुदेव अहमदाबाद के लिए चल दिये। गुरुदेव ने मन्दरा स्टेशन तक दस मील का रास्ता पैदल ही तय किया। भगतजी भी उनके साथ थे। मन्दरा स्टेशन पर पहुँचकर करबद्ध प्रार्थना की, "महाराजजी, दास को भी साथ ले जाने की आज्ञा बख्शें।" इस पर गुरुदेव ने उत्तर दिया, "अभी तू बच्चा है। अभी बाहर जाने के क़ाबिल नहीं। अपनी तरफ़ देख-कैसा नुमायिशी तेरा जीवन है ! सिर पर बाल अंग्रेजों की तरह पटे की मानिन्द रखे हुए हैं। फ़कीरों के साथ ऐसी रहनी वाला आदमी नहीं रह सकता।"

भगतजी तो अपना सांसारिक झमेला समाप्त करके गुरुचरणों में रहने का संकल्प करके आये थे। गुरुदेव के वचन सुनकर बहुत लज्जित हुये गुरुदेव गुज्जरखाँ की बस की प्रतीक्षा कर रहे थे। अवसर पाकर भगतजी बाजार गये और नाई से सिर साफ़ करा आये। जब वापस आये तो गुरुदेव मुस्करा दिये। पूछने लगे, "यह क्या कर आया है ?" भगतजी चुप रहे। फिर प्रार्थना की, "महाराजजी, कृपा कीजिए।" गुरुदेव बोले, "सेवा में रहना कोई आसान काम नहीं।" भगतजी ने अर्ज़ किया, "शायद सेवा करके कुछ बुद्धि निर्मल कर सकूँ ! कृपा करके प्रार्थना स्वीकार कीजिए ! "

महाराजजी अभी उत्तर न दे पाये थे कि बस आ गई। गुज्जरखाँ पहुँच कर गुरुदेव अपनी बहन श्रीमती देवकीदेवी के यहां पधारे भगतजी बाजार गये और खादी खरीद कर अपने लिए एक कमीज और पाजामा बनवा लाये। सोचा, शायद गुरुदेव कृपा कर ही दें। गुरुदेव उनके इस कर्म को देखकर हंस दिये, लेकिन आज्ञा न दी। कहने लगे," अभी साथ नहीं ले जा सकते। फिर समय आया तो देखा जायेगा।"

भगतजी अधिक न बोल सके। चुप होकर बैठे रहे। मन में निराशा छा चुकी थी। अधिक बोलने पर अपने को शायद न सम्भाल पाते। गुरुदेव ने भोजन कराया। उसके बाद आपने उन्हें एक कमीज़, एक पाजामा, एक पगड़ी और पाँच रुपये देकर कहा, "बच्चू, यह प्रसाद रख लो।" कई दफ़ा इन्कार किया। लेकिन गुरुदेव फ़रमाने लगे, "गुरुदरबार से जो कुछ भी मिले, इन्कार नहीं करते इसे तुम नहीं समझते।"

रात साढ़े बारह बजे एक जोड़ा कपड़े, एक काश्मीरी कमली और एक लाठी लेकर आप गाड़ी पर सवार हुए। आपकी बहन और भगतजी आपको स्टेशन छोड़ने के लिए साथ गए। आज्ञानुसार एक ही टिकट लिया गया था। जब गाड़ी के चलने का समय हो गया तब भगतजी चरणधूलि लेकर डब्बे से बाहर आ गये। गाड़ी चल पड़ी। भगतजी उसे देखते ही रहे। रात के अँधेरे में गाड़ी की बत्तियाँ धीरे-धीरे दूर होने लगीं। अन्त में वे बहुत दूर हटकर अन्धकार में लीन हो गयीं। भगतजी की आँखों में आँसू उमड़ आए। बहुत आशा लेकर गुरुशरण में आये थे। सोचा था, शायद गुरुदेव सेवा में रहने की आज्ञा दे देंगे जीवन सफल हो जायगा ! दिन-भर वे बहुत उदास रहे थे - रह-रहकर दिल भर आता था परन्तु गुरुदेव के आँखों से दूर होते ही सारा संयम जाता रहा। आँसू रोके न रुक पाये। श्रीमती देवकीदेवी जी भगतजी की यह स्थिति देख रही थीं। उन्होंने अनेक प्रकार से सान्त्वना दी। लेकिन भगतजी स्टेशन से घर तक—सारा रास्ता रोते ही रहे। घर ले जाकर पूज्यनीया देवकीदेवीजी ने दो दिन तक भगतजी को अपने घर रखा और धैर्य देती रहीं। लेकिन भगतजी की उदासी न मिटी | वापस रावलपिण्डी आकर दिन गिनने लगे। न कुछ करने को जी चाहता था, न बोलने को। दिन-रात गुरुचरणों का ही ध्यान करते रहते थे। बहुत बार एकान्त में बैठकर घंटों प्राण की धारा में अपने मन को लीन करते रहते। लेकिन आसपास के वातावरण से ऊब जाते। कभी ठंडी साँसें लेते और कभी रो देते। इसी स्थिति में उनके दिन कट रहे थे। गुरुदेव के पत्र यदाकदा आते रहते थे। वही उनके जीवन का अब सहारा थे।

कई महीने गुजर गए, परन्तु भगतजी अपने जीवन का कोई कार्यक्रम न बना सके न ही कोई कामधन्धा कर सके। बसन्त का त्यौहार आया। खेतों में पीली सरसों खिली थी। लोग भी बसन्ती कपड़े पहने खिल उठे थे। लेकिन भगतजी की उदासी ज्यों की त्यों बनी थी। तभी उन्हें महाराजजी ने ४० पद अपने करकमलों से लिखकर भेजे। भगतजी गाने लगे :

आई बसन्त उठ सिमर मुरार। दुरलभ देह का कर उद्धार ॥
सिमरो सिमरो सारंग बानी। मानुष देह की करो पछानी ॥
आवे जावे चराचर भूत। इस्थर रहे न रंक और भूप ॥
आसा तृष्णा अगन अपार। चार खानी को करे अंगार ॥
मिथ्या देह मिथ्या तिस भोग। दुरमत भरम का लागा रोग ॥
नित तृखत नित निरास। जतन करे नहीं मिटे पियास ॥
कर सतसंग सत मार्ग पहचान। बिना बसन्त फूले निर्वान ॥
ताँ पर भँवरा करे गुञ्जार। निरमल धुन्न उठे निरंकार ॥
बिनसे अगन सतगुर के परताप। अखण्ड नाद में सुरति थाप ॥
तन मन धन प्रभ आज्ञा में पेख। अबनाश पुरखकासुनसाचालेख ॥
दुविधा व्याध सब भई विनास | भँवरा लुगधिया पाए सच खण्ड वास ॥
मिल सतगुर सुन तत्त ज्ञान। नित घालो यह अमृत खान ॥
सहज भाए मन मगन समाए। साचे शब्द संग मेल मिलाए ॥

बिना बसन्त फूली बन राए, अगम निगम के घाट |
'मंगत' मन निःचल भया, अचरज लखी है बाट ||

अध्याय - ६

'तत्तवाणी परगट भइ'

अहमदाबाद में गुरुदेव फ़रवरी १९३९ ई० तक रहे । वहाँ पर "चिरंजीव गोष्ठ" नामक वाणी प्रकट हुई। अहमदाबाद से आप पचमढ़ी पधारे, जहाँ 'अमर कथा' नामक वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ से आप शुभ-स्थान गंगोठियाँ वापस आ गये आपके लौट आने की सूचना पाकर भगत बनारसीदास चरणों में आ उपस्थित हुये । गुरुदेव ने "अमर कथा" उनके सामने रक्खी और पढ़ने की आज्ञा दी । जो अशुद्धियाँ रह गयी थीं, उन्हें ठीक किया गया । भगतजी ने भी वे समस्त शब्द जो उन्हें गुरुदेव ने लिखे थे, श्रीचरणों में रखे । सुन्दर लेख देख कर गुरुदेव प्रसन्न हुये और कहने लगे, "कौन इन्हें पढ़ेगा ?"

भगतजी बोले, “साधारण भाषा में जो अमृत बखान हुआ है, वह आम लोगों के लिये वरदान है । इस देववाणी द्वारा बहुत से जीवों का भला होगा ।"

इस समय तो भगतजी अपनी मनोकामना व्यक्त किये बिना ही वापस चले गये, लेकिन अप्रैल १९३९ ई० में फिर आ उपस्थित हुये । चार दिन रहने के बाद जाने की आज्ञा माँगने लगे ।

गुरुदेव : प्रेमीजी, किधर जाना है ?

भगतजी : महाराजजी, अभी समझ नहीं आयी कि किधर जाना है ! आप तो अन्तर्यामी और घट-घट के जाननहार हैं। हम नादान अपना क्या प्रोग्राम बना सकते हैं ? विचार तो आपके पवित्र चरणों में ही रहने का है। आगे आप मालिक हैं; जैसी आज्ञा होगी उसका पालन किया जायेगा।

गुरुदेव : साफ़-साफ़ कहो।

भगतजी : इस बार तप में सेवा के लिये ठहरना चाहता हूँ।

गुरुदेव : फ़कीरों के पास ज्यादा ठहरना अच्छा नहीं होता। जाओ, दुनिया के काम-काज करो।

इतना कहकर भगतजी को जाने की इजाजत दे दी। साथ ही कहने लगे, "दो दिन बाद प्रोग्राम लिखा जायेगा।" भगतजी सोचने लगे कि महाराज ठोकर भी लगाते जाते हैं और अपनाते भी जाते हैं। लगा, शायद अब प्रार्थना स्वीकार हो गयी है। खुशी-खुशी प्रणाम किया और चल दिये। चलते-चलते कई बार मुड़कर देखा - गुरुदेव बरामदे में खड़े उन्हीं की ओर देख रहे हैं। क़दम मुश्किल से उठ रहे थे सोचने लगे-घर जाकर क्या करना है ? अभी वापस ही चलो ! लेकिन घर का आकर्षण अभी भी बना हुआ था। रावलपिण्डी पहुँचने के दूसरे ही दिन गुरुदेव का पत्र मिला। लिखा था कि वे भगतजी के घर पधारने की कृपा करेंगे, और फिर वहीं से किसी पहाड़ पर तप के लिये जायेंगे। मारे ख़ुशी के रात भर नींद न आयी। यही सोचते रहे कि कब सुबह हो और अड्डे पर पहुँचूँ।

दूसरे दिन गुरुदेव पधारे। भगतजी उन्हें घर लाकर अपने को कृतार्थ समझने लगे। जब कुछ समय बाद आप कोहाला के लिये चले तो भगतजी

और ठाकुर दीवानसिंह भी साथ हो लिये । जलमादा की कुटिया में जाकर डेरा जमाया। कुछ दिन वहाँ सत्संग का प्रवाह बहता रहा। एक दिन सुबह जब आप एकान्त से लौटे तो कहने लगे, "प्रेमियों ! तप का समय निकट आ रहा है; इसलिये किसी जंगल में चलना चाहिये ।" साथ ही भगतजी से भी पूछा, "सुना प्रेमी, तेरा क्या प्रोग्राम है ?"

भगतजी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की, "महाराजजी, कृपा करके तप के समय सेवा का मौका बख्शा जाय ! यही दास की अभिलाषा है--बेशक़ इस क़ाबिल नहीं हूँ कि आपकी सेवा कर सकूँ ।"

गुरुदेव : हमारी सेवा तो जो इधर से बतलाया गया है उस पर तन, मन से कोशिश करने में ही है। जंगल में पहले तुझे जाने का मौक़ा नहीं मिला । वहाँ तो कई प्रकार के जंगली जानवर और भयानक जगहें होती हैं जिनसे लोग डर जाते हैं ।

भगतजी : जिस जगह आप विराजमान हों, वहाँ मुझे क्या डर ?

भगतजी की इच्छा थी कि गुरुदेव 'हाँ' कह दें, लेकिन ऐसा न हुआ । गुरुदेव मौन रहे । उस दिन संध्या को तप के अनुकूल स्थान की खोज में सोलह जेठ के दिन प्रस्थान करने का निश्चय हुआ। चलने से एक दिन पहले जलमादा निवासियों ने एक विशाल सत्संग और यज्ञ किया। आस-पास के गाँवों के लोग जलमादानिवासियों की उदारता पर आश्चर्य करते थे । उनकी आमदनी भी ज्यादा न थी, फिर भी आये दिन वहाँ यज्ञ होते रहते थे और लंगर तो खैर महाराजजी के रहते चलता ही रहता था ।

यज्ञ के दूसरे दिन गुरुदेव ने कुछ प्रेमियों के साथ दोमेल, मुज्जफ़राबाद के लिये प्रस्थान किया। लेकिन वहाँ कोई जगह पसन्द न आयी । तीसरे दिन हजारा

में गढ़ी हबीबउल्लाह पधारे। सारा का सारा दिन सत्संग में व्यतीत हो गया । सन्ध्या समय गुरुदेव रात बैठने के लिये एक स्थान निश्चित कर आये। जब काफ़ी रात हो गई तब प्रेमियों को विश्राम करने की आज्ञा दी। भगतजी बहुत थके हुये थे-सोने की आज्ञा पाकर बहुत प्रसन्न हुये। सोचने लगे, "किस तरह सत्पुरुष एक आसन पर अठारह अठारह घण्टे बैठे रहते हैं और रात तप में व्यतीत कर देते हैं !" दास किस तरह इनकी सेवा कर सकेगा ?" अभी यह सोच ही रहे थे कि गुरुदेव ने कहा, "बनारसीदास, क्या सोचता है ? एक घण्टे बाद हमारे साथ चलना होगा ! अभी कुछ देर के लिये सो जाओ !"

भगतजी आज्ञा पाकर लेट गये। लेटते ही नींद आ गयी। कोई दो घण्टे बाद गुरुदेव ने उन्हें जगाया और साथ चलने को कहा। सब प्रेमी गहरी नींद में सो रहे थे। उन्हें सोता छोड़कर गुरुदेव बाहर निकल पड़े। पीछे-पीछे भगतजी हाथ में लोटा और अंगोछा लेकर चल रहे थे। गढ़ी हबीबउल्लाह के पास एक नदी बहती थी। उसके पुल को पार करके गुरुदेव एक गहरी खड्ड की ओर तेजी से बढ़ गये। काफ़ी नीचे उतरकर आप रुके और भगतजी से लोटा और अंगोछा लेकर कहा, "अब जाओ, डेरे पर जाकर आराम करो। सुबह आ जाना ।" इतना कहकर आगे निकल गये ।

अंधेरी रात थी। जो लालटेन भगतजी साथ लाये थे वह तेज हवा के कारण बुझ चुकी थी । उस समय अपनी हालत की कहानी भगतजी ने इस तरह कही है :

"मैं हैरान था कि क्या किया जाय ? जब तक महाराजजी साथ थे, निडर था। उनके चले जाने पर अँधेरे में घबराहट होने लगी। सोचने लगा - महाराज जी ने क्या कर दिया है? एक तो डरावनी जगह, दूसरे घना अन्धकार ! बड़ा ही भय महसूस होने लगा। फिर सोचने लगा, 'अब वापस जाऊँ तो किस तरह ? रास्ता भी ठीक मालूम नहीं है-किसी उलटे रास्ते पर पड़ गया तो भी

मुश्किल हो जायेगी; किसी जंगली जानवर ने आ दबाया तो मारा जाऊँगा !' मन की बेचैनी बढ़ने लगी- आज तक ऐसी उलझन में न पड़ा था। फिर महाराजजी की कृपा से एकदम विचार बदला सोचने लगा, 'ऐ मन ! तू किस उलझन में जा फँसा है ? तुझे डर किस बात का है ? जिस महापुरुष की तूने शरण ली है, क्या वह तुझे कोई तक़लीफ़ होने देगा ? दीनदयाल तेरी रक्षा करेंगे।' इस विचार ने मेरा कुछ धीरज बाँधा । महामन्त्र का उच्चारण करते करते वापस चलना शुरू कर दिया । घोर अन्धकार के कारण एक पेड़ की तरह-तरह की शक्ल नजर आने लगी । नदी की साँय-साँय ने भी कुछ डराने में कसर न छोड़ी। लेकिन फिर भी श्री महाराजजी का मन में ध्यान लिये चलता रहा ज्यों ही पुल के पास पहुँचा तो पाँच-छः ऊँचे कदवाले लोग, बगल में बन्दूकें दबाये सामने से आते दिखाई दिये । पास आने पर दास ने उन्हें 'सलामालेकुम' कहा वे 'वाहलेकमसलाम' कहकर पास से गुजर गये । प्रभुप्रेरणा से वे चुप रहे और दास के प्रति कोई जिज्ञासा प्रकट न की ।

"डेरे पर पहुँचकर दास चुपके से चारपाई पर बैठ गया । नींद तो आँखों में थी ही नहीं । सोचने लगा, आज पहले ही दिन महाराजजी ने कितनी बड़ी परीक्षा में डाल दिया फिर विचार आया कि महापुरुष कितने निर्भय होते हैं कितनी ऊँची रहनी है इनकी ! खुद निर्भयता को प्राप्त करके दूसरों को भी निर्भय बना देते हैं । यही सोचते-सोचते सुबह हो गयी । सुबह श्री सेवाराम और श्री बोधराज ने पूछा, 'रात महाराजजी को कहाँ छोड़ आये थे ?" जब मैंने स्थान बताया तो हैरत से उनकी आँखें खुली की खुली रह गयीं । कहने लगे, 'उस तरफ़ तो दिन में भी कोई नहीं जाता, आप कैसे चले गये ? - और फिर वापस भी आ गये !' दास ने केवल यह कहकर टाल दिया कि महाराज जी की दृष्टि अँग-सँग होते हुये किस बात का डर है ?

“सूर्योदय होने के साथ ही हम सब श्री महाराजजी को लेने के लिये चल दिये । वहाँ पहुँच कर देखा कि महाराजजी एक खेत में पेड़ के नीचे समाधि में

बैठे हैं। सब ने दूर से ही प्रणाम किया और एक ओर होकर बैठ गये। थोड़ी देर बाद जब महाराजजी समाधि से जाग गये तब हम लोग उनके पास पहुँचे और प्रणाम करके बैठ गये। महाराजजी कहने लगे, 'प्रेमियों ! यह जगह बड़ी एकान्त है, लेकिन आदमी इस तरफ़ के खूंखार हैं। आधी रात के वक़्त कुछ बन्दूकवाले यहां से गुजरे। पूछने लगे - कौन हो ? इधर से कहा गया – साईंलोग हैं। रियाजत के वास्ते बैठे हैं। इतना कहकर सलाम करके चल दिये। "

स्थान पर पहुँचकर गुरुदेव ने कहा, "कल यहाँ से कहीं दूर चल पड़ेंगे।" इसके बाद बूढ़ा अमरनाथ, मानसहरा, शंक्यारी आदि अनेक स्थान देखे गये, परन्तु कोई भी स्थान तपोनुकूल न मिला। अन्त में निखेतर गाँव चलने का कार्यक्रम बनाया गया निखेतर गाँव समुद्रतल से साढ़े पाँच हजार फुट की ऊँचाई पर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों से घिरा था। मुसलमानों का गाँव था यहाँ हिन्दुओं का केवल एक ही घर था - वह था चौधरी रामदित्तामल का। चौधरीजी ही गुरुदेव को निखेतर गाँव ले आये थे। गुरुदेव के वहाँ पहुँचने पर अनेक मुसलमान प्रेमी दर्शन करने आये, जिनमें एक मौलवी भी थे। एक दिन गुरुदेव ने एक मुसलमान श्रद्धालु से पूछा, "तुम्हारे साथ इन खतरियों का कैसा सुलूक है ?" उसने उत्तर दिया, “जैसे माँ-बाप अपने बच्चों का ख्याल रखते हैं, उसी तरह यह साहूकार भी हमारा ख़्याल रखते हैं। यह सुनकर श्री गुरुदेव बहुत प्रसन्न हुये।"

तीन दिन गाँव में ठहरने के बाद निखेतर पहाड़ पर बाड़ागली नामक जंगल में गुरुदेव ने प्रवेश किया। यह जंगल निखेतर गाँव से आठ मील दूर समुद्रतल से आठ हजार फ़ुट की ऊँचाई पर था। बड़ा ही घना और भयानक जंगल था। आस-पास मीलों तक कोई आबादी न थी। उन दिनों वहाँ पेड़ काटे जा रहे थे और राशन की सप्लाई का ठेका चौधरी साहब ने ले रखा था। कटाई के कारण जंगल में खट-खट की आवाज आती रहती थी। इस कारण गुरुदेव ने वह जगह भी पसन्द न की। तब सब प्रेमी गुरुदेव के साथ पहाड़ की चोटी पर पहुँचे।

वहाँ एक छोटा-सा मैदान था। चारों ओर घने जंगल और पहाड़ थे। आबादी का कहीं नामो-निशान न था। गुरुदेव ने उस स्थान को पसन्द किया। ठेकेदार ने मजदूर लगाकर दो घण्टे में ही कुटिया तैयार करा दी। आसन के समीप ही अग्निकुण्ड बनाया गया। दरवाजे के नाम पर दो पेड़ों के तने लगा दिये। जून का महीना था। पंजाब के मैदान तब गर्मी में झुलस रहे थे, लेकिन इस स्थान पर इतनी सर्दी थी कि आग के बिना एक पल काटना भी असम्भव था। दूसरे दिन सब प्रेमी चले गये और तीसरे दिन आपने भगत बनारसीदास को भी जाने को कहा।

उस समय भगतजी की आयु तो कम थी, परन्तु गुरुसेवा की लगन थी। हाथ जोड़कर कहने लगे, "महाराजजी, दास को चरणों में ही स्थान दें। जितना समय आप यहाँ ठहरें, दास को सेवा का मौका देने की कृपा करें।"

गुरुदेव ने कहा, "प्रेमी, जंगलों में रहने में कष्ट बहुत होते हैं। कभी खाने को मिलता है, कभी नहीं। उधर जंगली जानवरों का भी कोई भरोसा नहीं। तुम अभी बच्चे हो फ़कीरों के पास कभी रहे नहीं। उनके साथ रहना बहुत मुश्किल होता है अच्छा, तेरी पवित्र भावना ईश्वर सफल करे।"

इतना कहकर गुरुदेव चुप हो गये और समाधि में लीन हो गये। काफ़ी समय तक उनकी वही स्थिति रही भगतजी चुपचाप बैठे गुरुदेव को निहारते रहे। तब गुरुदेव ने आँखें खोलीं और कहा, "अपना प्रोग्राम तू आप ही सोच ले- - सुबह से शाम, और शाम से सुबह क्या करना है ! एक-दो दिन तकलीफ़ जरूर होगी, फिर समझ आ जायेगी। इस तरफ़ जो कहा जाये वही करना। किसी चीज के फ़ालतू खाने-पीने को इधर मत कहना। इनके प्रोग्राम में बिल्कुल दखल न देना। समय पर अपने आप ही भोजन खा आया करना और इनके लिये चाय ले आया करना।"

भगतजी ने गुरुदेव की आज्ञानुसार अपनी दिनचर्या निश्चित कर ली। सुबह उठते ही वे कुटिया से डेढ़ मील नीचे एक जलस्रोत पर चले जाते। उसके बर्फ जैसे ठंडे पानी में स्नान करते फिर एक बाल्टी पानी भरते और उसे कपड़े में लपेटकर सिर पर रखकर कुटिया की ओर चल देते। पानी इतना ठंडा होता था कि बिना कपड़े में लपेटे बाल्टी को उठा लाना असम्भव था। उस जल से गुरुदेव को स्नान कराते। गुरुदेव को स्नान कराके एक मील नीचे श्री रामदित्तामल जी के लंगर में खाना खाकर गुरुदेव के लिये चाय बनाते। इस चाय में ढाई पाव पानी और डेढ़ पाव दूध होता था। यही चाय गुरुदेव की दिन-भर का आहार थी। सुबह नौ बजे गुरुदेव चाय लिया करते थे। चाय पिलाने के बाद भगतजी जंगल में लकड़ियाँ इकट्ठी करने को निकल जाते। यह सब काम समाप्त करके श्री चरणों में आ बैठते। इस सारे समय में गुरुदेव समाधिस्थ रहते थे बीच-बीच में गुरुदेव वाणी का भी उच्चारण किया करते थे आँखें बन्द रहती थीं, परन्तु वाणी का गायन होता रहता था कभी-कभी वाणी का प्रवाह घंटों चलता रहता था। भगतजी वाणी का श्रवण करके आनन्द विभोर हो जाते थे कोई पाँच-छः दिन बाद उन्हें वाणी को लिपिबद्ध करने की प्रेरणा हुई जब उन्होंने गुरुदेव को जाग्रत अवस्था में पाया तो अपनी इच्छा उनके सामने रखी। कहने लगे, "आपने ये जो शब्द याद कर रखे हैं इन्हें लिखवाने की कृपा करें।"

गुरुदेव मुस्कराए और कहने लगे, "यह लेख नित नया, नित पुराना हो रहा है। यह प्राकृतिक आवाज है। इनको कुछ याद नहीं रहता कि क्या बोल गये हैं। कुदरती आवाज कुदरती हवा में चली जाती है। ये जो नये से नये विचार निकलते हैं तूने इनके सम्बन्ध में क्या समझा है ?"

भगतजी ने उत्तर दिया, "मेरे विचार में तो ये पद आप बनाकर याद कर लेते हैं और फिर बाद में बोलते हैं।"

उत्तर मिला, "भोले प्रेमी, यह कोई कवि या शायर नहीं है। मालिक की मौज जब अन्दर जोर मारती है, अपने आप ही दरिया (नदी) चल पड़ता है। उसमें इनकी अपनी कोई चतुराई, चालाकी नहीं होती। ऐसी अवस्था वाला अनपढ़ भी प्रभु महिमा का गायन प्रेम से करता रहता है। वह थकता नहीं है इनका हर बोल ज्ञान, विचार और विवेक से भरा हुआ होता है। जिस तरह मुहम्मद पर आयतें उतरी थीं, ऋषियों को वेद प्रकट हुए थे, उसी तरह यह मी अनुभवी वाणी है। तेरी बुद्धि इस बात को जरा देर से समझेगी। जो शब्द इधर से निकले, गीता का श्लोक समझना। अब बात बस से बाहर हो गई है। अन्तर- विखे समाई नहीं हो रही। आनन्द बाहर निकल रहा है। ईश्वर ने तुम्हारे अन्दर जो वचन लिखने की प्रेरणा पैदा की है-जाने इसमें मेरे मालिक का क्या राज छिपा हुआ है ! जंगलों में बैठे-बैठे न मालूम कितने ही वचन निकल गये। तुम्हारी भी ज़िद देखकर हैरान हो रहे हैं। काफ़ी पीछा छुड़ाने की कोशिश की; लेकिन तुम्हारा हठ देखकर मजबूरन इधर ठहरना पड़ा। कितनी कबीर की वाणी हस्तलिखित पर पड़ी है ? कबीर का अपना कहना है :

सोलह अरब ज्ञान हम भाखा, सार शब्द ले अन्तर राखा।
धर्मदास तोहे लाख दोहाई, सार शब्द बाहर न जाई॥

"कबीर का अपना कथन है कि (उनके द्वारा) सोलह अरब दोहे कहे गये थे। कितना कुछ किसी ने लिखा होगा ? चलो, जिस क़दर संसार की सेवा हो सके, करो ! कोई प्रभु का प्यारा पढ़ेगा ही ! तेरी यह यात्रा सफल हो जावेगी। बता तू क्या समझा है ?"

भगतजी ने उत्तर दिया, "दास यह जरूर समझा है कि ये वचन कबीर, दादू और पलटू जैसे सत्पुरुषों के वचनों से मिलते-जुलते हैं। अब समझ आई है कि उन्होंने भी आप ही की तरह उच्चारण किए होंगे।"

सन्ध्या का समय हो गया था। कुटिया में अंधेरा हो रहा था। भगतजी ने आग को तेज किया। गुरुदेव ने उन्हें कोई सन्तवाणी का पद सुनाने को कहा। भगतजी ने बयाबाई, सहजोबाई और कबीर के कुछ वचन लिख कर रखे हुये थे। उन्हीं में से कुछ गाकर सुनाने लगे । समाप्ति पर गुरुदेव ने कहा, "तुम भी यदि ऐसे ही शब्द लिखना चाहते हो, तो लिखो ।"

भगतजी ने झट से कलम-दवात तैयार की। पास एक फटी हुई कापी थी। उसी में लिखने लगे। लालटेन आदि का कोई प्रबन्ध न था । आग को तेज किया गया । गुरुदेव वाणी का उच्चारण करने लगे । भगतजी का विचार था कि गुरुदेव आहिस्ता-आहिस्ता लिखवायेंगे, परन्तु ऐसा न हुआ । समाधिस्थ अवस्था में बैठे गुरुदेव लगातार वाणी का उच्चारण करने लगे। वहाँ न कोई हिचक थी; न कोई सोच । जैसे जल का स्रोत लगातार बहता रहता है, वैसे ही शब्दों का प्रवाह चल रहा था। भगतजी ने भरसक प्रयत्न किया कि उनकी लेखनी वाणी के प्रवाह का समक्रमण कर सके, परन्तु ऐसा न हो सका । दो-चार पद लिखने के बाद ही हाथों ने जवाब दे दिया। डरते-डरते गुरुदेव से आहिस्ता बोलने के लिए प्रार्थना की । गुरुदेव ने आँखें खोलीं और देखा कि वाणी ठीक नहीं लिखी गई थी। कहने लगे, "यह काम तुम से ऐसे न होगा ।"

तब गुरुदेव ने बिना आँखें बन्द किये लिखाना शुरू किया। भगतजी ने देखा कि दो-तीन दिन में ही उनके लिखने की क्षमता में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है । तीसरे दिन उनकी लेखनी वाणी के प्रवाह के साथ एक होकर चलने लगी । गुरुदेव समाधिस्थ होकर उच्चारण करते जाते थे, और भगतजी लिखते जाते थे । लिखते समय वह मात्राओं आदि पर ध्यान न देते थे। बाद में वाणी को साफ़ करके लिखते थे । वाणी का लिखना रात के एक बजे तक चलता रहता । बाहर गहरे अन्धकार में पहाड़ों की डरावनी आकृति दिखाई पड़ती थी। रह-रहकर हिंसक पशुओं की भयानक गर्जन सुनाई पड़ती थी। अक्सर बादल

बरसते रहते थे। बिजली की चमक और बादल की गर्जन वातावरण को और भी भयानक बना देती थी। ऐसे वातावरण में अमरलोक की आवाज़ का अवतरण हो रहा था। वाणी की समाप्ति पर भगतजी गुरुदेव की चरणसेवा करते । तब आज्ञा पाकर सोने के लिये लेटते । परन्तु गुरुदेव फिर भी आसन पर विराजमान रहते और समाधि में लीन हो जाते । भगतजी का कहना है कि जब भी रात को उनकी आँख खुली, उन्होंने गुरुदेव को समाधि-अवस्था में लीन पाया ।

एक रात भगतजी रात के समय एक डरावनी आवाज सुनकर जाग पड़े । कोई आधी रात का समय होगा । कुटिया के पीछे से कोई हिंसक, पशु भयंकर गर्जन कर रहा था । समझ न पाये कि वह चीता था या शेर। लिहाफ़ के अन्दर ही मुँह छिपाये वह उस भयंकर आवाज को सुनते रहे । गुरुदेव समाधि में लीन थे । कुछ समय बाद गुरुदेव समाधि से जागे । उन्होंने जोर से पूछा, "बनारसी, डर तो नहीं लग रहा है ?"

भगतजी ने लिहाफ़ में अपना मुँह लपेटे हुए ही उत्तर दिया, "नहीं प्रभु ! मुझे आप के होते तो बिल्कुल भय नहीं । आपके बिना तो एक पल भी इस जगह नहीं ठहर सकता । ऐसा सिलसिला रोजाना देखने से दिल पक्का हो गया है ।"

एक रात गुरुदेव ने भगतजी को जल्दी सो जाने की आज्ञा दी । उस रात आसमान पर बहुत घने बादल छाये हुये थे रह-रहकर बिजली चमक रही थी अँधेरी रात कालक बरसा रही थी। लेकिन इस वातावरण में भी भगतजी को नींद ने आ दबाया। जब वे कोई दो घण्टे सो चुके तो गुरुदेव ने आवाज दी, "बनारसी उठो, आग तेज करो ।"

आँखें मलते हुये भगतजी उठ बैठे। आग तेज की । बाहर मूसलाधार बारिश हो रही थी। बिजली की चमक उस भयानक जंगल को और भी डरावना बना

रही थी। भगतजी जब पूरी तरह जाग गये तो गुरुदेव ने कहा, "कलम दवात निकालो और मालिक की मौज को लिखो।" गुरुदेव ने बोलना शुरू किया :

अचरज लीला घर में धारी। परगट हुए आप मुरारी॥
उदर-दीप में खुले मनी भण्डारा। अधिक तेज अधिक चमकारा॥
जिस पेखा सो उपरस हुआ। जिस जाना सो जीवत मूआ॥
अपरम अपार नाद किलकारे। कोट रवी सम तेज लखारे॥
गगन कुण्ड में अमृत कूआँ। अपरम शबद लख निरत आ खूआँ॥
बाज बैजन्तर बाजा बाजे। सत्गुरु मिले सरे सब काजे॥
प्रेम मस धुन बाजे तूरा। अधिक चमकार लखे कोई सूरा॥
भयो मतवाला शबद रस खाए। हाट पटन में रह्यो समाए॥
बस्ती जंगल भयो एका। अबगत शब्द का लखयो लेखा॥
विरत शून मन निर्मल हुआ। अखण्ड नाद में जीवन मूआ॥
करो अरदास परम सुखदाये। निज घर ठाकुर लियो मनाये॥
जनम जनम की तपन होई नासा। उदर दीप देखा परगासा॥
दीनदयाल परम आनन्दा। उदय दीप जोत परचण्डा॥
मुश्क फुटी घट अन्तर मांहीं। रग-रग अन्दर धूम मचाईं॥
भई दिवानी सुनी धुनकार। पूरन भाग भया कारज सार॥
उठ रे पण्डित कर बखान। काज़ी बूझ तू अन्तर निधान॥
अजब रंगीला नाद नित बोले। हाट पटन को कोई गुरुमुख खोले॥
शब्द सार शब्द सुख थाना। ऊँचे शिखर में करे ठिकाना॥
अधिक चमकार जोत निरवानी। गुरुमुख पूजे आलख वडयानी॥
काजी मुल्ला पण्डित भुलाए। घर की शोभा नहीं चित्त में पाए॥
कोई गुरुमुख आया उलट का भेदी। ब्रह्म ज्ञान नाद रस छेदी॥
अपने आप में गयो समाए । लखया लेख न किसे आगाए॥
पंछी का मारग कौन दिखलावे। निरवानभेद को कोई गुरमुख पावे॥
अजर दीप परगट घट हुआ जो देखे सो तृप्त समूआ॥

अकथ कथा घट में होवे, उमड़े शब्द हिलोल।
'मंगत' भेदी तत्त ज्ञान का, परसे मन अडोल॥

इतना लिखवाकर गुरुदेव मौन हो गये। फिर भगतजी को कहने लगे, "अब सो जाओ, सुबह उठकर सुनाना।"

प्रातः स्नानादि से निवृत होकर भगतजी ने वह शब्द गुरुदेव को सुनाया। वाणी को उच्चारण करने के एक दिन बाद अक्सर गुरुदेव भगतजी को वह वाणी सुनाने को कहा करते थे। इसका कारण यह था कि गुरुदेव जानना चाहते थे कि वाणी में क्या कहा गया है। इस सम्बन्ध में दिसम्बर, १९४० को शाहपुर - कण्डी (जि० गुरदासपुर) में भगतजी से हुआ एक संवाद विशेष महत्त्व का है।

भगतजी : महाराजजी, आप पढ़े हुए तो उर्दू हैं; लेकिन वाणी लगभग हिन्दी में ही उच्चारण करते हैं ?

गुरुदेव : मालिक की आज्ञा से जैसा प्रसंग आ रहा है वैसा ही तुम्हारे सामने रखा जा रहा है जिस समय तुम दोबारा पढ़कर सुनाते हो तो उस समय इन्हें खुद ही आश्चर्य होता है। [यह नहीं जानते कि] यह प्रसंग किस समय बोला गया था - यह बोलना चाहिए था कि नहीं बोलना चाहिए था। प्रेमी, ये भी मजबूर है। उस मालिक का हुक्म बड़ा सख्त है। जिस तरह बुलाए उस तरह बोला जायेगा। हमारे बस की बात नहीं है। जीवों के कल्याण के वास्ते अमरलोक से वाणी आई है। देशकाल के मुताबिक़ दीनदयाल कृपा किया करते हैं। कहो, तो संस्कृत या अंग्रेजी में भी आ सकती है। लेकिन जैसा प्रवाह आ रहा है, वैसा ही तुम्हारे सामने रखा जा रहा है। तुम्हें पसन्द हो तो रखो। यह ही आसान भाषा आगे देश की भाषा होगी। मिलीजुली भाषा आम लोगों के सुधार के वास्ते है। सत्पुरुष जिस-

जिस देश में होते हैं, उस जगह के लोगों के वास्ते वैसे [उन्हीं की भाषा में] ही उच्चारण फ़र्माया करते हैं। सत्पुरुष हर जमाने में हर जगह होते आए हैं। यह नहीं कि मुहम्मद के बाद या गुरु अवतारों के बाद बन्दिश हो गई है। न बन्दिश हुई है, न होगी। जब-जब भी जीव नेक उसूलों से पतित होने लगते हैं- रजोगुण तमोगुण का जोर बढ़ने लगता है-तब कोई अवतारी पुरुष भी आ जाया करता है । बैठे हुए वे चाहे कहीं हों, लेकिन उनकी आवाज सारे कुर्रा-हवाई (वायुमण्डल) में फैलकर खुद बखुद ही सतोगुणी जीवों के अन्दर जज्ब हो जाती है-और उनके द्वारा भी सब जीवों की भलाई होती है । अब यह समताभाव नये सिरे से प्रकट हुआ है। यह आज इतना असर नहीं करेगा जितना कि दस-बीस पचास वर्ष के बाद। महापुरुषों द्वारा ही संसार को चेतावनी मिला करती है। जो समताभाव को ग्रहण नहीं करेगा वह क़ौम (राष्ट्र) या देश नष्ट हो जायगा। समता के बिना जो कानून बनाया जाएगा वह सुखदाई नहीं होगा।

वाणी के अवतरण के सम्बन्ध में एक और वार्तालाप (नवम्बर १९४१ - स्थान थट्टा, जिला कैम्बलपुर, पाकिस्तान) शिक्षाप्रद है :

भगतजी : महाराजजी, यह क्या बात है कि आप वाणी उच्चारण करते समय तो लगातार ही उच्चारण करते जाते हैं-मिनटों में कितने ही पद बोल जाते हैं, लेकिन दुरुस्ती (शोधन) के समय जरा सी गलती निकालने में दो-तीन मिनट लगा देते हैं।

गुरुदेव : मालिक की मौज का प्रवाह जब चल रहा होता है, उस समय बुद्धि ग़लत-सही विचार के द्वन्द्व से परे होती है। उस समय बेदारी हालत से ग़लत शब्द उच्चारण नहीं होता। तेरी कलम या बेहोशी गलती कर जाती है। उस बेपरवाह हालत का अनुभव वही सत्पुरुष जान

सकता है जिसके अन्दर आनन्दमयी मौज तारी है। जब सत्स्वरूप से अलग बहिर्मुखी होकर विचार होता है, तब ज़ेर ज़बर (मात्राओं) का विचार आता है अन्तर सत्शब्द से लगी हुई बुद्धि के अन्दर अपने-आप आत्म-तत्त्व के सही विचार उठते हैं । उनको जरा भी सोचने के वास्ते कोशिश नहीं करनी पड़ती। अपने आप ही अमृत वाणी प्रकट होनी शुरू हो जाती है । जैसा भी जिस विचार का संकल्प उठा, उसकी महिमा शुरू होने लग जायेगी - कर्तार की भी और संसार की भी। नई से नई बातों का पता चलता है। लेकिन संसार की मालूमात खेदयुक्त होती हैं । इस वास्ते उधर ज्यादा ध्यान नहीं दिया जाता । जिस प्रकार तपे हुए हृदय में ठंडक - शान्ति आवे, वह ही विचार सत्पुरुष प्रकट कर जाते हैं । सबको अपना अपना सत्विश्वास और श्रद्धा से ही इस सत्-अनुराग में उन्नति देने वाली है ।"

वाणी में 'अज्ञेय' 'ज्ञेय' होकर प्रकट हो रहा था, 'अनिर्वचनीय' वाक् बन कर अवतरित हो रहा था। धन्य है भगतजी का भाग्य जो कि मौन सत्ता की आवाज सुन रहे थे बड़े-बड़े विचारक, जिन की बुद्धि अनन्त प्रकार के संशयों से खिन्न रहती है, अनुभवी वाक् को इस प्रकार प्रकट होते देखकर अपने को धन्य मानते । उनकी जीवन-भर न सुलझने वाली उलझनें सुलझ जातीं, कभी न मिटने वाले संशय लीन हो जाते !

पूरन साधू जब मिले, तब पाइए निरना तत्त ज्ञान ।
'मंगत' महिमा सांध करें, कृष्ण धनंजय तांई बखान ॥

धन्न साधु धन्न तिसकी संगत, धन्न तिसका उपकार ।
'मंगत' धूड़ी चरण की, करे कोट पाप को छार ॥
सो वडभागी जीव है, जो सेवे साचा साध ।
'मंगत' दृष्टि दयाल से, छीन भए अपराध ॥

ब्रह्मा विषण, महेश्वर, सब ही सन्त सरूप ।
'मंगत' गुरुमुख साधू आया, धर नारायण का रूप ।।

उस दिन शब्दपाठ करके भगतजी चाय लेने के लिए जब नीचे कॅम्प[१] पर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि वहाँ अभी तक खाना तैयार न हुआ था । चौधरी रामवित्तामल के पुत्र परमानन्द भी वहाँ न थे। पहले ही देर हो चुकी थी । इसलिए स्वयं खाना बनाने का निश्चय करके भगतजी एक कनस्तर उठाकर पानी लेने चल दिए। साथ में कनस्तर बाँधने के लिए एक बोरी भी ले ली। नीचे कोई दो फ़र्लांग के अन्तर पर एक सोता था उसी की ओर चल पड़े। रास्ते में एक बहुत बड़ा पेड़ काटा जा रहा था। जब वह उस पेड़ से कुछ दूर नीचे जा रहे थे तो उन्हें अकारण ही विचार आया कि यदि यह पेड़ उन पर गिर पड़े तो शायद एक हड्डी भी न बचे। उनकी दृष्टि उस समय पेड़ पर ही टिकी हुई थी। रास्ते में पेड़ों के सूखे पत्ते पड़े हुए थे । भगतजी का ध्यान तो पेड़ पर लगा था, इसलिए पाँव फिसल गया। नीचे खड्ड की ओर लुढ़कने लगे । कनस्तर हाथ से छूटकर एक ओर चला गया, बोरी भी जाती रही। साथ ही पेड़ के गिरने की जोरदार आवाज आई। कोई दो-तीन मिनट लुढ़कने के बाद रुक पाये उठ कर देखा तो आश्चर्यचकित रह गये । कोई चोट न आई थी। फिर देखा कि पैर से गर्म खून निकल रहा है। पैर किसी लकड़ी की नोक से कट गया था। ऊपर की ओर देखा तो पेड़ को वहीं गिरा पाया जहाँ से उनका पैर फिसला था। ऊपर कुछ आदमी खड़े थे और कह रहे थे, "किस्मत अच्छी थी जो बच गये ।"

भगतजी यह सब देखकर हैरान रह गये । उन्हें एक ही विचार आया, "सब महाराज जी की कृपादृष्टि है ! सूली की सजा थी, कांटे में बदल गई !

---

१. जंगल की कटाई करने वाले मजदूरों का कैम्प प्रेमी रामदित्तामलजी ने यहीं उनके खाने का प्रबन्ध किया था। यह जगह कुटिया से एक मील दूर थी ।

वाह प्रभु, तेरी अपार महिमा है !"

खून साफ़ करके भगतजी ने घाव पर मिट्टी लगा दी। कनस्तर और बोरी को ढूंढा। फिर सोते से पानी भरकर मजदूरों के कैम्प पर पहुँचे वहाँ दो मक्की की रोटियाँ पकाकर नमक से खा लीं। फिर गुरुदेव के लिए चाय बनाकर ऊपर कुटिया में पहुँचे चाय पहुँचाने में आज बहुत देर हो गई थी रास्ते में सोच रहे थे कि गुरुदेव नाराज होंगे। कुटिया पर पहुँच कर चाय सामने रखी। साष्टांग प्रणाम करके चाय पिलाने लगे। दृष्टि नीचे चरणों पर ही टिकाए रखी। गुरुदेव कहने लगे, "फ़कीरों के साथ रहने में कितना कष्ट होता है !" भगतजी ने सिर उठाकर देखा। लगा, जैसे गुरुदेव क्रुद्ध मुद्रा में हैं। कहने लगे, "होश से सब काम किया करो !" मारे डर के भगतजी ने आँखें नीचे कर लीं। सोच रहे थे कि आज विलम्ब के लिए खूब डांट पड़ेगी। लेकिन गुरुदेव कह रहे थे, "दया भी अंगसंग होती है।" भगतजी ने देखा कि गुरुदेव मुस्करा रहे थे। उनके आंसू निकल आए। वह लिखते हैं, "उस समय की कृपादृष्टि को भुला नहीं सकता। जब भी वह दृष्टि याद आती है, वह पेड़ गिरने का दृश्य भी सामने आ जाता है। बड़े ऊँचे भाग्य से महापुरुषों के चरणों में रहने का समय मिलता है। हम उस दया के पात्र न थे। यह सब गुरुदेव की दयादृष्टि थी जो उन्होंने चरणों में बैठने का अवसर प्रदान किया।"

चाय पिलाकर भगतजी बर्तन साफ़ करने लगे। श्री गुरुदेव बोले, "जाने कितने जन्मों से बर्तन साफ़ करके अब सत्पुरुषों की शरण में आये हो। जरा होश से सेवा किया करो।"

इसी समय जंगल का गार्ड अपने साथ कुछ नमाजी मुसलमानों और एक मौलवी को लिये हुये उपस्थित हुआ। कुटिया में प्रवेश करके सबने बड़ी विनम्रता से सलाम किया। गुरुदेव ने बैठने को कहा। वे कहने लगे; "फ़कीर जी, हमारे लायक कोई खिदमत हो तो फ़रमावें।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "अपने आप को अलग समझना ही कुछ है। सब कुछ उस जात-ए-कमाल[१] का मंजर[२] है। ख़ुदा-परस्ती यही है कि उस जाते ए-पाक[३] को हर शै में देखे और हर जगह उसे मौजूद समझे। सिर्फ़ मन्दिर मस्जिद में ही वह कैद नहीं है। ये तो सिर्फ़ इबादत की जगहें हैं। ग्रंथ, वेद, अंजील, कुरान पढ़ने का मतलब यह है कि अपने अन्दर सच्चाई और सफ़ाई आवे। नफ़रत व रंजिश के जज्बे से पाक होकर अक्ल-ए-सलीम[५] से वहद[६] लाशरीक[७] की पहचान करे। मजहब की फाँसी से निजात पाकर लामहदूद[८] ताक़त को समझे - जिस ताक़त से सब जीव-जन्तु - आदमी से चींटी तक — चलते फिरते नजर आ रहे हैं। उसका जहूर[९] सब दुनिया को जाने। अपनी खुदी[१०] को खत्म करे तब इस जिस्म में मौजूद जान का पता चले और खुलासी[११] हो।"

मौलवी साहब कहने लगे, "पीरजी खुलासी का क्या मतलब है ? आपके कहने के मुताबिक़ और भी जन्म लेने पड़ते हैं। हम आवागमन का मसला नहीं जानते।"

गुरुदेव बोले, "जब तक दिल में स्वाहिश-दर-ख्वाहिश पैदा हो रही है, तब तक अज़ाब[१२] खत्म नहीं होता। अज़ाब यानी सुख-दुःख शरीर द्वारा ही महसूस किये जाते हैं।"

मौलवी कोई दो घण्टे तक वार्तालाप करते रहे। तब कहने लगे, "खुदा की मेहरबानी से आज आपकी ज़ियारत[१३] हो गई है। हमारी बड़ी खुशकिस्मती है।"

बड़े विनम्रभाव से सलाम करके उलटे पाँव मौलवी साहब और उनके साथी

---

१. आश्चर्यमयी सत्ता २ दृश्य ३. पावन सत्ता ४. पूजा ५. सत्बुद्धि ६. एक ७ असंग ८. अनन्त ९. लीला १०. अहंभाव ११. मुक्ति १२. गुनाह की सजा १३. दर्शन।

कुटिया से बाहर निकले। उस समय शाम होने जा रही थी कुटिया में अंधेरा हो रहा था। रोज की तरह आग तेज की गई। जब रात काफ़ी हो गई तो गुरुदेव समाधिस्थ हो गये। वाणी का प्रवाह बहने लगा। भगतजी ने आज भी उसे लिपिबद्ध किया। वाणी की समाप्ति पर धीरे-धीरे गुरुदेव की बाह्यचेतना लौटी। जब वे पूरी तरह जाग गये तो कहने लगे, "इस जगह के लिये इतना ही प्रसंग काफ़ी है। बाक़ी फिर जैसी आज्ञा होगी उस समय फिर देखा जावेगा।"

रात बहुत गुजर गई थी। भगतजी थक गये थे। गुरुदेव ने उन्हें सोने की आज्ञा दी सोने से पहले उन्होंने प्रार्थना की, "प्रभुजी, जैसे तुलसीदासजी के दोहे हैं वैसे शब्द भी कृपा करके बख्शिश करें :"

उत्तर दिया, "ज्यादा लालच नहीं करना चाहिए। चुप करके आराम करो।"

भगतजी गुरुदेव के चरण दबाकर सो गये। प्रातः जब स्नान करके गुरु चरणों में उपस्थित हुए तो गुरुदेव ने कागज के टुकड़े भगतजी की ओर फेंके। कहा, "पहले इन्हें पढ़कर सुनाओ, फिर नहाएंगे।"

भगतजी ने देखा कि उन कागजों पर दोहे लिखे हुए हैं। वह पढ़ने लगे। उनमें से कुछ पहले के दोहे इस प्रकार हैं :

प्रभ का सिमरन सार है, सन्तां करी पुकार।
एक घड़ी न विसरे, सो आनन्द भण्डार॥

छाया बादल की ज्यों, ऐसे जग का खेल।
दुरलभ नाम कमाइयो, कर साचे गुरु संग मेल॥

एह जग भरम गुबार है, केवल मन तुरंग।
सिमरो साचे नाम को, सव मनसा होवे भंग॥

लख चौरासी जन्त में, मानुष देह परवान।
सिमरन साचे नाम का, इसमें मिले निधान॥

साचे सुख को खोजते, बीत गये वरख हजार।
मिली न पलक की शानति, जो भोगे भोग अपार॥

खाली हथीं आया, अन्त जाये खाली हाथ।
जो सम्पत सो छाडनी, रंचक चले न साथ॥

जैसे नीर तुरंग का, छिन में रूप बटाए।
ऐसे जीवन जगत में, जान लेवो गुणी राय॥

नदी किनारे तरुवर, कब लग बांधे धीर।
एक पलक की धार में, जाए बिखर सरीर॥

काठ अग्नी में पड़ा, जल जल होए अंगार।
'मंगत' जीवन जगत में, केवल दिन है चार॥

ऐसे अन्य भी अनेक दोहे थे जो वैराग्य-अंग के नाम से श्री समताप्रकाश में प्रकाशित हो चुके हैं। कुल दोहों की संख्या २०० थी। इन दोहों का आविर्भाव भी उसी सहजता से हुआ था जैसे कि वाणी के अन्य शब्दों का हुआ था। उतने अल्प समय में सोच-समझकर २०० दोहे रचने की कोई सम्भावना नहीं थी। ये दोहे भी उसी निर्विकल्प अवस्था में ही कहे गये थे जिसमें अन्य शब्द कहे गये थे। अन्तर केवल इतना था कि उन्हें गुरुदेव ने स्वयं लिपिबद्ध किया था। सहज समाधि में स्थित सत्पुरुष की दृष्टि में करने और न करने में कोई अन्तर नहीं होता। वह बोलता हुआ भी मौन होता है, विचार करता हुआ भी असोच रहता है और करता हुआ भी अकर्त्ता रहता है। इस सम्बन्ध में श्री गुरुदेव का भगतजी के साथ इसी तप के दिनों का वार्तालाप अत्यन्त महत्त्व का है।

भगतजी : महाराजजी, यह जो वाणी आप उच्चारण फ़रमाते हैं यह कब और किस तरह जल्दी-जल्दी प्रकट होती जाती है ?

गुरुदेव : जब अन्तर शब्द प्रकट होता है और प्रकट शब्द के बाद बुद्धि जब गगन यानी कपाल में स्थिर होती है उस समय सब हालात इसे समझ आ जाते हैं। प्रकृति क्या है ? कहाँ से जीव आया है ? कहाँ जाना है। बन्धन क्या है ? निर्बन्ध क्या है ? सब गुण अवगुण लहमा (पल) भर में समझ जाती है। पद्य और गद्य की कोई बात नहीं हर तरह ब्यान कर सकती है बहिर्मुख होती है या अन्तर्मुख होती है - हर हालत में सत्-चित्-आनन्द में लीन रहती है। वाणी उच्चारण करते समय पद्य में ईश्वर की महिमा इसलिए ब्यान की जाती है ताकि असली भावों को मनमुख जीव तबदील न कर सकें। महापुरुष की नजर में जड़-अजड़ एक ही रूप है। सब जड़-चेतन उसी ब्रह्म का रूप है। लेकिन समझाने के वास्ते सब कहना पड़ता है और मर्यादा को कायम रखना पड़ता है।

वाणी में नाद का वर्णन बार-बार आता था। इन दोहों में भी था। भगतजी ने पूछा, "महाराजजी, नाद की महिमा गाते समय आपने फ़र्माया है कि उस शब्द की बहुत गर्जना है, करोड़ों सूरजों से ज्यादा प्रकाश है। लेकिन पेट में जरा सी वायु गड़गड़ाहट करे तो बाहर सुनाई देती है। दूसरे एक सूर्य की तपन सहन करना कठिन है, तो हजारों सूर्यों का प्रकाश और तपन कैसे सहन हो सकते हैं ? शब्द की घोर गर्जन हमें बाहर क्यों नहीं सुनाई देती; जबकि सत्पुरुष फ़र्माते हैं कि रोम-रोम में उसका अनुभव हो रहा है ?

गुरुदेव : बच्चू, यह मन, बुद्धि और इन्द्रियों का विषय नहीं है बुद्धि उस हालत को अनुभव कर सकती है, ब्यान नहीं कर सकती।"

बुद्धि इस तत्त्वमयी शरीर के लगाव से कुछ तपिश, कुछ ठण्डक

---

१. आत्मतत्त्व का अनुभव बुद्धि आत्मरूप होकर करती है। तब बुद्धि का निश्चयात्मक रूप लीन हो जाता है वह स्वयं चिन्मात्र हो जाती है। इस कारण उस स्थिति का वर्णन नहीं कर सकती।

महसूस करती है। जब उस परमतत्त्व में लीन हो जाती है, न ठंडक का पता रहता है, न तपिश का। वह परमतत्त्व तीनों गुणों के दोषों से अलग है | निर्गुण आत्मतत्त्व को न तपिश तपा सकती है, न हवा सुखा सकती है, न पानी गीला कर सकता है।[१] बाकी उस आवाज को शरीर के कोट से बाहर नहीं निकलने दिया जाता। यह समर्थ सत्पुरुषों में ही होती है। उस भेद को वे ही जानते हैं। ऐसा पुरुष हर समय उठते बैठते, खाते-पीते उस हालत में सरशार (मस्त) रहता है नींद, आलस और भूख—ये तीनों दोष वाली चीजें शब्द के अनुभव के बाद खत्म हो जाती हैं। सिर्फ संसार से बचने के लिए सत्पुरुष थोड़ी खुराक सूक्ष्म रूप से लेते हैं ताकि शक्ति बनी रहे। यहाँ बनावटी काम नहीं है।"[२]

इतना कहकर गुरुदेव ने कुर्ता उठाकर भगतजी को कहा, "पीठ पर कान लगाकर सुनो।"

आगे का हाल भगतजी के अपने ही शब्दों में इस प्रकार है, "दास ने डरते डरते आज्ञा पाते ही पीठ के साथ कान लगाया। ऐसा अनुभव हुआ कि जो सदुपदेश श्री महाराजजी ने दीक्षा में प्रदान किया है-उसकी धुन हो रही है। अनेक प्रकार के सुन्दर रागरु एक ही रूप में नीचे से ऊपर उठते हुए प्रतीत हो रहे थे। जी चाहता था इसी तरह सुनता रहूँ। जितनी देर शरीर के साथ कान लगा रहा, मन बिल्कुल शून्य रहा - संकल्प - विकल्प से रहित हो गया। इतने में श्री महाराज ने हाथ पकड़कर थोड़ी दूर पर बिठा दिया। दास के मन में जो संशय थे सब समाप्त हो गए और दृढ़ विश्वास हो गया कि जो कुछ शब्दों में आपने फ़र्माया है वह सत्य है, असत्य नहीं।"

---

१. तुलनीय : नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
गीता २-२३

२. कृपया अध्याय के अन्त में टिप्पणी देखिये।

गुरुदेव ने तब कहा, "कमाई करो, कमाई ! जब तक इस हालत को अन्तर विखे अभ्यास द्वारा अनुभव नहीं करोगे तब तक वह परम खुशी सिर पर हाथ रखे प्राप्त नहीं होगी। दो मिनट के लिए ऐसी हालत अगर पैदा भी कर दी जाए तो तुम सम्भाल न सकोगे। दौलत कमाओ, सम्भालो और संसार में आने का परमलाभ प्राप्त करो। दूसरों के वास्ते आदर्श बनो। मगर यह मोह-माया का जाल ऐसा है कि इस जीव को जाहरी दृश्य से उपरामता प्राप्त नहीं होने देता, बार-बार संसार की नाशवन्ता (नश्वरता) और शरीर की तब्दीली को विचार में लावें। अभ्यास-वैराग (वैराग्य) द्वारा बुद्धि अन्तर्मुख होकर अपने-आप को समझ सकेगी कि वह मैं ही हूँ। जब तक ऐसा बोध न होवे तब तक खुलासी (मुक्ति) बड़ी कठिन है। और ऐसी एकाग्रता मन, पवन और नाम हो जाने से ही प्राप्त होती है। श्री गुरु नानकदेव कहते हैं :

तीनों बन्ध लगाए के, सुन अनहद् की बैन।
नानक सुन्न समाध में, भोर दिसे न रैन॥

भगतजी : ये परम शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार हर समय जीव को घेरे हुए हैं। इन विकारों को एक-एक करके मारा जाए या ये इकट्ठे ही मर जाएंगे।

गुरुदेव : बहुत बातें न किया करो। सिर्फ़ संसारचक्र को ईश्वर - आज्ञा में चलते हुए देखें। समझें कि तू ही तू है - तू कर्त्ता ! तू हरता ! सर्व तेरी आज्ञा ! ऐसे-ऐसे सत्भावों द्वारा मन को बारंबार इधर से ले जाओ और अभ्यास में लगाओ।

उसी दिन जब भगतजी गुरुदेव को चाय पिला चुके, तो स्वयं गुरुदेव ने बारंबार पूछा, "और क्या विचार है ?"

भगतजी : कुछ गुरु[१] ऐसा कहते हैं कि पहले स्मरण ध्यान का उपदेश लो, फिर भजन-अभ्यास की युक्ति बताई जाएगी। और कई गुरु ऐसा कहते हैं कि स्मरण नाम का करो और ध्यान गुरु की मूर्ति का। आंखों को बन्द कर, कानों में उँगलियाँ डालकर शब्द सुनने को भी कहा जाता है। त्रिकुटी में ध्यान करने को कहा जाता है। वे यह भी कहते हैं कि जो प्रकाश दिखाई देता है वह उसी परम ज्योति का ही प्रकाश है। नीचे के छः चक्रों को छोड़कर एक दम सुरति त्रिकुटी में एकाग्र करने के वास्ते जोर देते हैं। स्वास के स्मरण को ठीक नहीं बताते। मेरी समझ यह लम्बा-चौड़ा किस्सा नहीं आया।

गुरुदेव : आंखें निकलवा दी जावें, कानों में सिक्का डलवा दिया जाए, मुँह सिलाई से सी दिया जाए तब भी मन एकाग्र नहीं होता। मन प्राण करके चलायमान हो रहा है। जब तक प्राणों के निरोध की तरफ़ नहीं आया जाएगा तब तक जुगाजुग (युग-युगान्तर) तक भी असलियत का पता नहीं लग सकता। हाँ, श्रद्धा-विश्वास से सदाचारी जीवन हो जाता है। आदि से जब योगविद्या शुरू हुई थी, तब से प्राण-अपान की सिद्धि द्वारा ही महापुरुषों ने सत्पद पाया है। चाहे मश्रिक (पूर्व) में हैं या मग़रिब (पश्चिम) में; हिन्दू हैं चाहे मुसलमान हक़ीक़त (सत्य) की पहचान का रास्ता एक ही है, — मूर्खों का अलग-अलग है। सब सन्तों - मसलिन, कबीर, नानक, पलटू साहिब, दादूदयाल, दयाबाई, सहजोबाई, चरणदास और भी इस जमाने में जो परोपकारी पुरुष हो गए हैं, सबका एक ही सत्-उपदेश है। अनुभवी सत्पुरुषों के बचनों को सुना-सुनाकर जो गुरु बनते फिरते हैं, वे जूठी पत्तलें चाटने वाले हैं। हाँ, सन्तों के बचनों को श्रवण, मनन और निद्धियासन करके निर्मानभाव से सेवकरूप में विचरने वाले भक्तजन मान प्रतिष्ठा से अलग रहकर कुछ-न-कुछ सुधार कर

---

१. गुरुदेव की शरण में आने से पहले भगतजी ने अपने कुलगुरु से दीक्षा ले रखी थी। इस मत के अनेक अनुयायी हैं। उत्तर भारत में इसकी अनेक गद्दियाँ हैं।

जाते हैं। बाकी इस तरह से सत्पुरुषों के वचनों को गा-गाकर गुरु बनना ज्यादा देर तक नहीं रह सकता। जैसे बरसाती नदी-नाले समय पर खत्म हो जाते हैं वैसे इन लोगों का प्रभाव भी कुछ वर्ष बाद ख़त्म हो जाता है।

उसी दिन संध्यासमय भगतजी को उनके असली कर्त्तव्य की याद दिलाते हुये कहने लगे, "अपने-आपको भाग्यशाली जानो जो सामने बैठे पढ़-लिख रहे हो। सिमरन (स्मरण) करो, सिमरन ! जब तक नाद शब्द प्रगट नहीं होता तब तक असली ध्यान नहीं बनेगा और जब तक ध्यान नहीं बनता तब तक समाधि बहुत दूर है।"

फिर बात जारी रखते हुये कहने लगे :

शाह शरफ़ पौ न तू उतावला।
एक चोट न थीसे चावला॥

नानकजी के एक प्रेमी थे शाह शरफ़। वह हर वक़्त तेरी तरह ही कहते रहते थे कि जल्दी हो जाए। नानकजी ने कहा कि चावल का दाना कई चोटें खाने के बाद साबुत और साफ़ निकलता है। तुम एक चोट भी त्याग-वैराग (वैराग्य) की सहने के क़ाबिल नहीं हो। धीरे-धीरे मर्यादा पूर्वक चलो।

मुक गया लेना देना खू विच पै गइयाँ बहियाँ।[१]

भगतजी ने पूछा, "महाराजजी, इसका क्या अर्थ है ?"

---

१. लेन-देन समाप्त हो गया है बहियाँ (खाते की किताबें) कुएं में गिर गई हैं।

बोले, "फिर किसी समय बतायेंगे; अभी जो तुमने शुरू किया है। अच्छा, यह बताओ कि जो प्रसंग तुमने यहाँ लिखा है उसका क्या नाम रखोगे ?"

भगतजी कुछ सोच न पाये। तब गुरुदेव ने चार नाम लिखकर उन्हें दिए और कहा कि उनमें से जो पसन्द हो उसे रख लो। ये नाम थे (१) प्रभुवाणी, (२) निर्मलबोध, (३) प्राणविद्या और (४) निखेतरपर्वत गोष्ठ। भगतजी ने निखेतरपर्वत गोष्ठ पसन्द किया।

तप का समय समाप्त होने को था। गुरुदेव ने आज्ञा दी कि चौधरी रामदित्तामल को इस सम्बन्ध में सूचना दे दी जाय। दूसरे दिन सुबह जब भगतजी कैम्प पर पहुँचे तो क्या देखते हैं कि श्री रामदित्तामल के लड़के परमानन्द वहाँ नहीं हैं। साहब बकरे का माँस मजदूरों में बाँटने गये थे। भगतजी का मन बहुत खिन्न हुआ। खाने का कोई प्रबन्ध न था। इसलिये उन्होंने स्वयं ही दो मक्के की रोटियाँ पकाकर चाय के साथ खा लीं। जब गुरुदेव के लिये चाय बनाकर चलने को हुये तब परमानन्द भी वहाँ आ पहुँचे प्रार्थना करने लगे कि माँस के सम्बन्ध में गुरुदेव से कुछ न कहें। जब भगतजी चाय पिलाकर रात लिखी वाणी सुनाने लगे तो गुरुदेव ने पूछा, "चुप क्यों हो ? आँखों में गुस्सा भी है ! मूर्ख, किसी से लड़ तो नहीं आया ? सच-सच बता क्या बात है ?"

भगतजी ने सारी बात बतला दी। सुनकर आप नाराज भी हुये और दुःखी भी कहने लगे, "तुमने इन्हें चाय क्यों पिलाई ? जब ऐसी बात थी तो फ़ौरन ऊपर चले आते ! राक्षसों के पल्ले पड़ गये हैं ! चौधरी आ जाय तो कल सुबह ही इधर से चल पड़ो जलमादा जाकर चाय पी लेंगे। यह सब बिस्तर वग़ैरह नीचे जाकर दे आओ। इधर से ही नीचे एबटाबाद की तरफ़ निकल पड़ो। कोई जरूरत नहीं है, अब इधर ठहरने की ! "

इतना कहकर आप चुप हो गये। भगतजी ने देखा कि गुरुदेव की आंखों से आँसू बह निकले हैं। भगतजी बहुत परेशान हो गये। सोचने लगे, "न कहता तो अच्छा था ! आज्ञानुसार भगतजी फिर श्री रामदित्तामल के यहाँ खाना खाने न गये। जिन सज्जन ने जंगल काटने का ठेका ले रखा था उनकी प्रार्थना पर भगतजी उन्हीं की दुकान पर खाना खा आये और गुरुदेव के लिये चाय भी बना लाये।

चौधरीजी को जब संदेश मिला तो सीधे निखेतर गाँव से चल पड़े। कुटिया में पहुँचते ही ऐसी डांट पड़ी जैसी कि उन्होंने आज तक न खाई थी। गले में कपड़ा डाल और हाथ बाँधकर डाँट सहते रहे और क्षमा माँगते रहे। माँस त्यागने का प्रण भी किया। साँझ होने पर गुरुदेव ने उन्हें जाने की आज्ञा दी लेकिन वह न गये। बोले, "आज कठिन तपस्या करनी है, इसलिये रात चरणों में ही रहूँगा।" आगे कहने लगे, "आज पहली बार जिंदगी में डाँट खाई है। घर-घर फिरने वाले गुरु खुद भी ऐसी चीजें खाते हैं और हमको भी खिलाते हैं। आपने तो हमारा सब हुक्का-पानी बन्द करवा दिया है। आप किसी को बोलने भी तो नहीं देते ! बड़ी मुश्किल जगह आकर फँसे हैं।"

इस पर गुरुदेव खूब हँसे कहने लगे, "अभी तुम आजाद हो। तुम्हारे लिये वही गुरुदेव अच्छे हैं जो आप भी चोरी करें और तुम्हें भी राक्षसी खिलायें। अच्छा, अगर वे गुरु तुम्हें डाँटते तो फिर ?"

चौधरी बोले, "महाराजजी, हम असली क्षत्रिय हैं। कहाँ इतना गुस्सा किसी का सहन कर सकते हैं ? अगर वे गुरु ऐसा करते तो उन्हें घर से बाहर निकालकर कहते कि आगे से उगाही लेने न आना।"

गुरुदेव ने पूछा, "इधर ऐसा क्यों नहीं कहते ?"

चौधरीजी ने दोनों कान पकड़ कर कहा, "तोबाह ! तोबाह मेरे ख़ुदाया ! तोबाह मेरे बापदादाओं की ! साल-भर से अधिक हो गया आपकी रहनी को देखते हुये। मुआफ़ करना, आप तो काले नाग से भी अधिक हैं। आपके श्राप से घोर नरक में जा सकते हैं ! मैं तो आज दीक्षा लेकर जाने का इरादा लेकर आया हूँ। पहले दिल ने गवाही न दी थी।"

गुरुदेव ने प्रश्न किया, "अब तेरा दिल क्या गवाही दे रहा है ?"

चौधरीजी बोले, "कल बताऊँगा।"

इस तरह चौधरीजी अपना भक्ति भाव व्यक्त करते रहे गुरुदेव ने तब भगतजी से कहा, "चौधरीजी को मालिक की महिमा सुनाओ !

भगतजी ने "अचरज लीला घर में धारी " का पाठ किया। यह भी बताया कि यह शब्द गुरुदेव ने रात के दो बजे लिखवाया था। चौधरीजी हाथ जोड़कर कहने लगे, "धन्य सद्गुरु ! हम इस क़ाबिल नहीं कि आप के पास बैठ सकें ! आप ही क्षमा कर दें तो कुछ बने।"

इतना कहकर चौधरीजी रोने लगे। गुरुदेव ने बहुत समझाया कि वे नाराज नहीं हैं, परन्तु चौधरीजी का रोना न थमा - रोते ही रहे फिर प्रणाम करके रुक-रुक कर बोले, "महाराजजी, हम आप को उम्र के हिसाब से छोटा समझते थे। अपने-आप को बड़ा ज्ञानी समझ रखा था। कई बार अकड़ में अहंकार वाली बातें की हैं। आप बुद्धिहीन जानकर क्षमा करें। दास यही भीख माँगता है।"

गुरुदेव ने चौधरीजी को धैर्य दिया और सोने की आज्ञा दी। दूसरे दिन चौधरीजी ने दीक्षा भी प्राप्त की और अपने-आप को धन्य जाना।

उस पहाड़ पर ठहरे बत्तीस दिन हो चुके थे। गुरुदेव ने प्रस्थान करने का निश्चय किया चौधरीजी ने वहाँ भी यज्ञ करने का हठ किया, लेकिन गुरुदेव ने केवल सत्संग की आज्ञा दी। कहने लगे, इस जगह और इस मौसम में यज्ञ करना कठिन होगा। सत्संग सोलह सावन के दिन हुआ। आस-पास के गाँवों के हिन्दू और मुसलमान और वन में काम करने वाले मजदूर उसमें सम्मिलित हुये। गुरुदेव ने जो प्रवचन दिया उसका सार इस प्रकार है :

"हर एक जीव नाम, रूप, गुण, कर्म और हिर्स[१] फेल[२] और उम्मीद[४] में फँसा हुआ है। इस कैद से छूटने के वास्ते खुदा की परस्तिश है। जब तक जिस्म के बनाव- श्रृंगार में फँसा हुआ है तब तक ख्वाहिशात में जकड़ा हुआ वहदतपरस्त नहीं हो सकता - बुतपरस्त ही रहता है। जब रूह, जिन्दगी यानी जान की तलाश करता है तब वहदतपरस्त कहलाता है। चाहे हिन्दू है, चाहे मुसलमान, चाहे पारसी है या ईसाई - सब हिर्स करके करते हैं। फ़ेल (कर्म) के नतीजे (फल) लाभ और हानि, खुशी और ग़मी में हर समय (जीव) परेशान रहता है। जब तक हिर्स उठ रही है कभी वह दतपरस्त नहीं बन सकता नबीपैग़म्बरों, गुरु-अवतारों और महापुरुषों की सिख्या (शिक्षा) और तामील को मानकर, अच्छे उसूलों को धारण करके ही निजात की तरफ़ जा सकते हो। पैग़म्बरों और अवतारों की तामील[५] में ही सच्ची खुशी भरी हुई है। उनके शरीर यानी जिस्म की पूजा या परस्तिश लाभदायक नहीं होती।"

सावन की सोलहवीं तिथि थी जबकि आप पहाड़ से नीचे उतरे। रास्ते में वह मुसलमान प्रेमी मिला जो आप के लिये दूध लाया करता था। उसने झुक - कर सलाम किया और पास ही एक पत्थर पर चादर बिछाकर बैठने के लिये

---

१. वासना २. कर्म ३. आशा ४. भक्ति ५. शिक्षा

श्रोताओं में इस्लाम धर्म के अनुयायी ही अधिक थे। इसलिये गुरुदेव ने इस्लाम धर्म की शब्दावली में यह उपदेश दिया।

अर्ज किया। बैठने पर गुरुदेव ने कहा, "फ़कीर खाँ, साईलोक बहुत खुश है। माँगो, क्या माँगते हो ?"

प्रेमी : पीरजी, दूआ करें खुदा ईमान बख्शे।

गुरुदेव : दुनिया की दौलत और बाल-बच्चे क्यों नहीं मांगते ?

प्रेमी : खुदा की मेहरबानी से गुजर हो रही है। दुनिया की चीजें फ़कीरों से नहीं माँगी जातीं। ईमान हुआ तो सब कुछ मिल गया।

गुरुदेव : खुदा यक़ीन-ए-पाक देवें। बनारसी, इसको दो रुपये बच्चों के लिये दे दो।

प्रेमी ने रुपये लेकर सिर झुकाकर माथे से लगाये और कहने लगा, "आज मैं हर चीज़ से मालामाल हो गया।"

टिप्पणी – देखिये पृ० ९६, फुटनोट २ – गुरुदेव के आहार की चर्चा तो पहले कर आये हैं। उनकी प्यास की हालत यह थी कि वे वर्ष में केवल तीन-चार बार पानी पीते थे और वह भी केवल तीन चार घूंट।

अध्याय - ७

कातिलों के बीच

तप के बाद गुरुदेव की यात्रा फिर आरम्भ हो गई । निखेतर गाँव, जलमादा, कोहाला, नथ्यागली, नवाँशहर (जि० ऐबटाबाद) आदि स्थानों से घूमते हुये आप तक्षशिला पहुँचे वहाँ आपने पुराने अवशेष और म्यूजियम देखा । म्यूजियम में बौद्धकालीन कला की कृतियाँ पड़ी थीं । उनको देखकर कहने लगे, "किधर गये यह साजोसामान बनाने वाले ? किसी समय ये चीजें बहुत मेहनत से बनाई गई थीं- बड़े शौक़ से व्यवहार में लाई गई थीं ! आज न बनाने वाले रहे ; न इन को बरतने (व्यवहार में लाने वाले ! न ही ये चीजें रहेंगी ! वाह ! अस्चरज (आश्चर्यमयी) प्रभु की माया है !"

म्यूज़ियम से बाहर निकले तो एक चपरासी को खड़ा पाया। पूछा, "कितनी तनख्वाह मिलती है ?"

"ख़ुदा की मेहरबानी से बाईस रुपये मिलते हैं।"

"गुजारा कैसे चलता है ?"

चपरासी - (हाथ उठाकर) : अल्लाह राजिक़ है ।

यह उत्तर सुनकर आप बहुत प्रसन्न हुये और उसे दो रुपये दिलवाये। तक्षशिला से पंजासाहिब जाने का कार्यक्रम बना। गुरुदेव तो म्यूजियम से सीधे स्टेशन पर चले गये; लेकिन बिस्तर और ट्रंक लेने के लिये भगतजी को उस मन्दिर में जाना पड़ा, जहाँ कि वे ठहरे हुये थे। भगतजी अभी-अभी बुखार से उठे थे, इसलिये बोझ उठाने में बड़ा कष्ट हुआ बड़ी मुश्किल से स्टेशन पहुंच पाये। बिस्तर और ट्रंक नीचे रखा। बैठने लगे तो आँखों के सामने अंधेरा छा गया। बैठते-बैठते रुक गये। गुरुदेव ने पूछा, "बैठता क्यों नहीं, और मुँह क्यों लाल है ?" भगतजी ने उत्तर दिया, "बिस्तर उठाने से लाल हो गया है।"

उत्तर सुनकर गुरुदेव समाधि में प्रवेश कर गये। कुछ देर बाद बोले, "बच्चू, प्रभु तुझे सुमति दे ! खुदा की दरगाह में तेरा नाम लिखा गया है। अब तू चाहे चूँ करे, चाहे चां करे, जाना पड़ेगा। फ़कीरों की सेवा खाली नहीं जाती। दिल में तंगी महसूस न किया कर। खुले दिल से हर हालत में गुजरने की कोशिश करो।"

भगतजी ने हाथ जोड़कर कहा, "महाराजजी, इस तुच्छ बुद्धि को समझ नहीं आई कि कैसे और किस जगह नाम लिखा गया है ! न ही सेवा करने की अभी समझ आई है।"

गुरुदेव ने तब मौज में आकर शब्द उच्चारण करने आरम्भ कर दिये।[१] उन्हें सुनकर भगतजी का रोना शुरू हो गया। गुरुदेव बोले, "रोने से काम नहीं बनता, विचार की आँखें खोलो। संसार क्या है ? किधर से आए हैं ? किधर जा रहे हैं ? तुम्हारे माता-पिता किधर गये, जिन्होंने तुझे बनाया था ?"

इसी समय गाड़ी आ गई। गाड़ी पर बैठकर फ़र्माने लगे, "टिकट सम्भाल

---

१. जो शब्द गुरुदेव ने उस समय उच्चारण किये थे उन्हें लिखा नहीं गया था।

कर रखना ! यही हाल सत्मार्ग का भी है। नाम रूपी टिकट सम्भाल कर रखने से आसानी रहती है ! निर्भयता से सफ़र कट जाता है।"

कोई बीस मिनट में गाड़ी पंजासाहिब पहुँच गई। पंजासाहिब सिक्खों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। वहाँ सरोवर में अनेक तीर्थयात्री स्नान करते हैं। भगतजी ने प्रश्न किया, "महाराजजी, लाखों लोग यहाँ मुक्ति के लिये स्नान करते हैं ! क्या ये ग़लती करते हैं ? "

गुरुदेव बोले, "इस तरह मुक्ति नहीं मिलती। ऐसी रीतियाँ लोकसंग्रह के लिये सत्पुरुष बना जाते हैं। एकत्र होने में कई दुनियावी दुःखों से छुटकारा मिलता है। पानी शरीर की मैल साफ़ करता है। मन की मैल मन - पवन की संधि से और गुरु के वाक्य से हुआ करती है मन की मैल इन रिवाजों से नहीं जाती। सत्पुरुष जिस जगह बैठते हैं उस जगह से संसारी जीव ख़्वाह - मरवाह ही प्रेम बना लेते हैं यह जगह आज की नहीं बनी हुई है। पुरातन वक्त से यह स्थान चला आया है। यहीं पाणिनि ऋषि का आश्रम था। यहाँ उस ऋषि के समय में हर वक़्त दस हजार विद्यार्थी व्याकरण पढ़ने के वास्ते रहते थे। यह जल उस जमाने में भी था। फिर यह जगह बौद्धों के क़ब्ज़े में रही। तक्षशिला बड़ी भारी यूनिवर्सिटी थी। पेशावर परशुराम का स्थान था। जमरोद जमदग्नि ऋषि का आश्रम था। इस तरह जमाना बदलने पर इन जगहों का रूप-रंग बदल जाया करता है। इस तरह श्री गुरु नानकदेव का बाबा वलीकन्धारी से संवाद हुआ था। वलीकन्धारी बड़ा ही ऋद्धि-सिद्धि का मालिक था। गुरु नानक बड़े ही सत्पुरुष थे। उनके पंजे से वह निकल न सका। आख़िरकार बड़े नम्रभाव से सेवा में पेश आया। यह पंजा महाराजा रणजीतसिंह के समय खुदाया गया था। उसने सोचा इससे हिन्दू धर्म में जाग्रति होगी और इलाके पर हमला करते वक़्त आते-जाते एक-दो दफ़ा उसका क्याम भी यहाँ हुआ था। सुन्दर जगह देखकर उसे पक्का कर दिया और इतिहास में भी यह जगह आ चुकी थी। जिसका जोर होता है वह कुछ न कुछ कर ही लेता है बाकी वली-

कन्धारी की जो पत्थर फेंकने की बात है, वह ग़लत है । पत्थर उसके स्थान से सत्पुरुषों के वचन इधर आने का सवाल ही पैदा नहीं हो सकता । पीरों के मुरीद ऐसी बातें उड़ाते रहते हैं । इन बातों में जीवों का कल्याण नहीं । कल्याण मानने में है। इस संसार का चक्कर चलता है। वक्त आने पर यह भी तबदील हो जायेगा। सदा एक जैसी प्रकृति की हालत नहीं रहती । तबदीली होती रहती है । एक रस केवल निरंकार (निराकार) आत्मा ही है । "

पंजासाहिब में गुरुदेव केवल एक ही दिन ठहरे । जिस दिन यह वार्तालाप हुआ था उसी दिन वहाँ से चल दिये । इस आकस्मिक प्रस्थान का भी एक कारण था। दोपहर को आप सरोवर से उस बाग़ में पहुँचे, जहाँ कि आपने रात काटी थी । किसी से जान-पहचान तो थी नहीं । अतः आपने भगतजी को बाज़ार में खाना खा आने को कहा । भगतजी बड़ी देर से लौटे। पूछने पर कहने लगे, "अधिकतर दुकानों में महाप्रसाद बना था । वैष्णव भोजनालय ढूंढने में समय लग गया ।"

"महाप्रसाद क्या होता है ?" गुरुदेव ने पूछा । भगतजी ने उत्तर दिया, "बकरे के माँस को महाप्रसाद कहते हैं ।" यह सुनकर कहने लगे, "अन्दर स्नान करके आते हैं, बाहर सिर पर छाई (राख) डालते हैं । यह सत्पुरुषों की तालीम नहीं - मनमुखों की तालीम है ! सत्पुरुषों ने अपना बलिदान देकर धर्म को खड़ा किया था। उनके शिष्य माँस और शिकार पर खड़े हैं। शराब और माँस ही इन्हें डुबोयेंगे चलो, यहाँ ठहरना धर्म नहीं है ।"

बस अड्डे पर जाने के लिये बाजार से होकर जाना पड़ता था । आपने बाजार के रास्ते जाने से भी मना कर दिया और एक दूसरे रास्ते से बस की सड़क पर पहुँचे और वहीं शहर के बाहर बस की प्रतीक्षा करने लगे । उसी दिन रावलपिण्डी चले गये ।

रावलपिण्डी में एक प्रेमी - श्री लक्षमणदासजी - गुरुदेव को एक दिन अपने घर ले गये। खाने का समय आने पर उनकी पत्नी एक थाल परोस कर लाई। भारतवर्ष का अतिथि सत्कार तो यों ही प्रसिद्ध है। कोई सन्त, फ़कीर की भिक्षा हो रही हो तो आतिथ्य की कोई सीमा ही नहीं रहती। प्रेमाहारी गुरु को अक्सर शिष्य अन्न-पानी की सेवा करके प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं। उनके लिये दो ग्रास का भोजन बनाने के लिए घण्टों रसोईघर में चहल-पहल होती रहती है कोई ग्यारह कटोरी का थाल सजाता है, कोई इक्कीस का। आडम्बर की इन्तहा हो जाती है उस दिन भी ऐसा ही हुआ। तरह-तरह के पकवान थाल में सजे थे गुरुदेव ने केवल एक ही ग्रास स्वीकार किया। साथ ही भगतजी को आज्ञा दी, "आज के बाद भोजन के लिए किसी की प्रार्थना स्वीकार न करना। बेकार लोग इतना कष्ट उठाते हैं। सन्तों के भोजन ने दुनिया वालों को हैरान कर रखा है न खायें तो वे नाराज़, खायें तो अपनी बर्बादी ! " पण्डितजी और उनके परिवार ने खाने के लिए बहुत प्रार्थना की, लेकिन आपने और खाने से इन्कार कर दिया। कहने लगे, "आपस में बाँट लो।" मनुष्य की वासनाओं का बन्धन भी अजीब है सर्वत्यागी गुरु को पाकर भी जीव उस जैसा त्यागी बनने का प्रयत्न नहीं करता; बल्कि गुरु को भी उन्हीं विषयों से प्रसन्न करने की कोशिश करता है, जिनसे कि वह स्वयं प्रसन्न होता है। वह प्रेम का सौदा न करके व्यापार का सौदा करना चाहता है।

गुरु तो पाया प्रेम आहारी, नित ही प्रेम को खाये।
अन्न पानी की सेवा करके, शिष गुरु को पतियाये॥
कह विधि साँझ बने दोनों की, नहीं मोल तोल चुकाये।
वस्त कहीं ढूंढे कहीं, जतन अकारथ जाये॥
सीस लिये बिन नहीं गुर पतियाये, कठिन साँझ यह भारी।
गुरमुख होके रमज़ पछाने, तब लेखा सुखकारी॥
गुरमुख जीवन जग में पाओ, साँझ को तोड़ निभाओ।
'मंगत' कीरत निर्मल जग में, लख लख तृप्त समाओ॥

उस दिन से आपने अन्न का ही त्याग कर दिया। केवल चाय पर ही जीवन चलने लगा। वर्षों चाय ही आपका एकमात्र भोजन रही। वैसे अन्न का त्याग तो पहले ही हो चुका था। आज उस त्याग को केवल औपचारिक रूप दिया गया था ताकि गृहस्थ लोग गुरुदेव के आगमन पर पाकशाला को ही मन्दिर न बना बैठें। यह सब तो सांसारिक जीवों के कल्याण के लिए हुआ, लेकिन गुरुदेव के इस निर्णय ने उनके स्वास्थ्य की बर्बादी कर दी। आखिर चाय ने एक दिन अपना रंग दिखाया। गुरुदेव का जीवन तक संकट में पड़ गया। लेकिन इस बात की चर्चा समुचित समय पर की जायगी।

रावलपिण्डी से आप गंगोठियाँ पधारे। सम्मेलन का समय निकट आ रहा था। इस वर्ष भी सम्मेलन में वही पुरानी चहल-पहल रही - प्रेम और उत्साह की धारा निरन्तर बहती रही। गुरुदेव के प्रेम और आशीर्वाद से तृप्त होकर सभी प्रेमी भारी हृदय लेकर घरों को लौटे। यज्ञ की समाप्ति पर आपके शिष्यों में एक होड़ सी लग गई। सभी चाहते थे कि आप उनके गाँव या शहर पधारें। गुरुदेव उनकी प्रार्थनायें मुस्कराते हुए सुनते रहे। एक प्रेमी के बार-बार कहने पर कहने लगे :

तुम प्रेमियों को काफ़ी सत्संग का समय मिल चुका है। लेकिन तुम लोग फ़कीरों के वचन मानने वाले नहीं हो - केवल देखा-देखी चाल करते हो कुछ आमिल बनने की कोशिश करो बेकार इनका समय नष्ट न करो, और भी जनता है जो फ़कीरों के वचन सुनने की हक़दार है। अब सत्संग का समय किसी को नहीं मिलेगा। ये किसी एकान्त स्थान पर तप के लिए जायेंगे।

स्वतः ही आपके मन में मटोर जाने की प्रेरणा हुई कार्तिक की समाप्ति पर आप वहाँ पहुँचे मटोर से कुछ दूर बमयालाँ गाँव था जो कि एक पहाड़ी पर बसा था। आप उस पहाड़ की ओर चल दिये। जो मार्ग आपने चुना वह नियमित मार्ग

नहीं था। जगह-जगह झाड़ियाँ फैली पड़ी थीं, पत्थर बिखरे पड़े थे। खड़ी ढलान थी। कहीं भी पैर फिसल सकता था। इस कठिन रास्ते से आप बमयालाँ पहाड़ की चोटी पर जा पहुँचे। सर्दियों का सूरज ढल रहा था। चोटी पर भी पत्थर और कंकड़ बिखरे पड़े थे इधर-उधर घूमकर आपने जगह देखी। एक जगह बबूल का पेड़ दिखाई दिया। उसी के तले जा बैठे। उधर गाँव से एक व्यक्ति की गुरुदेव पर नजर पड़ गई। एक अजनबी को देखकर कौतूहल हुआ। वह एक अन्य आदमी को साथ लेकर पहाड़ की चोटी की ओर बढ़े। वहाँ जाकर देखते हैं कि गुरुदेव पेड़ के नीचे पत्थरों और कंकड़ों के आसन पर बैठे हैं। इन सज्जन का नाम हीरानन्द था। पेशावर में गुरुदेव के दर्शन कर चुके थे। तंदूर वाली घटना इनके सामने ही हुई थी। उनकी मानसिक स्थिति उस समय कैसी रही होगी—इसका अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

उन्होंने गुरुदेव से पूछा, "महाराजजी, आप किस रास्ते से यहाँ आये हैं ? रास्ता तो हमारे गाँव से होकर आता है ! "

गुरुदेव ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "प्रेमी ! रास्ता दिखलाने वाला भगवान् है। उसकी कृपा से यहाँ पहुँच गये हैं।"

हीरानन्द जी हाथ जोड़कर बोले, "आप हमारे घर चलिये। कुछ दिन वहीं ठहरिये। यदि आप एकान्त में ही रहना चाहते हैं, तो आपके लिये कुटिया तैयार कर दी जायेगी। आपके पास केवल एक चादर और कमली है ! "इस सर्दी में यहाँ कुटिया के बिना गुजर नहीं हो सकती।

गुरुदेव कहने लगे, "प्रभुकृपा से सब ठीक होगा। आप चिन्ता न करें यहाँ केवल मग्घर (मार्गशीर्ष) का मास बिताकर दूसरी जगह चले जायेंगे।"

हीरानन्दजी ने बहुत विनती की, लेकिन गुरुदेव गाँव में रहने के लिये सहमत

न हुये हीरानन्दजी ने गाँव में जाकर अन्य लोगों से चर्चा की। गाँव से अनेक लोग गुरुदेव के पास आए और गाँव चलने की प्रार्थना करने लगे, परन्तु गुरुदेव न माने। कहने लगे, "आप लोगों को सर्दी की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अगर इन्हें सर्दी का डर होता तो यहाँ न आते। ये तो रब्बी रश्क़ (ईश्वरप्रेम) में मस्ताने हो चुके हैं। आप लोगों के दर्शन करने से सर्दी इनके नजदीक नहीं आएगी। ये तो केवल प्रेमभाव के भूखे हैं। और किसी वस्तु की चाहना नहीं है।"

गाँव वालों का आग्रह जब फिर भी जारी रहा तो आप बोले, "अगर आप इनके समझाने पर भी जिद करेंगे तो ये कहीं और चले जायेंगे। ये तप के लिए यहाँ जंगल में आये हैं इसलिए कोई सज्जन यहाँ न आये। सिर्फ़ एक प्रेमी को सेवा का अवसर मिलेगा। इसलिये सब माताओं, सज्जनों और बच्चों से प्रार्थना है कि यहाँ आने का कष्ट न उठावें और न ही किसी और को यहाँ आने की इजाजत दें। तप के बाद कुछ दिन सत्संग का समय आप लोगों को मिल जाएगा। ये तो चाहते हैं कि इनके आने से लोग कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करें। अब रात्रि का समय हो चुका है सब लोग अपने-अपने घर जायें।"

विवश सब को लौटना पड़ा। गाँव वालों ने गुरुदेव के तप में कोई बाधा न पहुँचाई प्रेमी हीरानन्द प्रातः गुरुदेव के स्नान के लिये जल ले जाते थे और नौ बजे चाय यह एक बार की चाय ही तप में उनका एकमात्र आहार थी।

कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी। पहाड़ की चोटी पर बर्फ-सी ठण्डी हवाएं चलती रहतीं थीं एक चादर और कमली के सहारे गुरुदेव की रातें कटने लगीं नीचे कोई आसन न था। पच्चीस वर्ष की आयु से गुरुदेव सोये न थे बचपन से ही उनकी रातें भी खुले आकाश के नीचे ही बीती थीं। परन्तु यह तपस्या तो जैसे अति का भी अतिक्रमण कर रही थी। यह स्वाभाविक ही था कि उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैल जाती अनेक लोग उनके दर्शन करने को

उत्सुक थे। परन्तु गाँव के लोग इसकी इजाजत न देते थे।

मानव-स्वभाव भी अजीब है। मनुष्य दूसरे के सुख और वैभव से ही नहीं, उसके तप और त्याग से भी ईर्ष्या करने लग जाता है। इस ईर्ष्या के साथ यदि धर्मान्धता आ मिले तो मनुष्य में बसा पशु हर सीमा का उल्लंघन कर जाता है। मटोर के पीर बहुत प्रसिद्ध थे। उस इलाके की मुसलमान जनता उन्हें बहुत मानती थी ये पीर इतने धर्मान्ध थे कि किसी भी हिन्दू सन्त का उस इलाक़े में आना सहन न करते थे। जो भी हिन्दू सन्त भूला भटका उधर आ जाता, उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़ते थे। जब इन पीरों ने गुरुदेव की बढ़ती हुई ख्याति सुनी तो मुतअस्सिब की आग में जलने लगे। उन्होंने गुरुदेव को भी मरवा डालने का निश्चय किया।

एक शाम अँधेरा होने पर सात आदमी कुल्हाड़ियाँ लेकर पहाड़ की ओर बढ़े। आगे की घटना का विस्तृत ब्यौरा उपलब्ध नहीं है। स्वयं गुरुदेव ने ही एक प्रेमी[१] के सामने इसका इशारा भर किया था। आपने कहा था, "जब वे लोग इनके निकट पहुँचे और कोई आठ फ़ुट का फ़ासला रह गया तो उन्हें लगा कि अगर एक भी क़दम आगे बढ़ाया तो काल के मुँह में चले जायेंगे। उन्होंने आगे बढ़ने की बहुत कोशिश की, लेकिन ऐसा न कर सके। आखिर मजबूर होकर वापस चले गये। तीन दिन लगातार वे इनको खत्म करने के लिये आये, लेकिन वही दशा उनकी हुई।"

तीन दिन के अनुभव ने उन हत्यारों के मन में भय उत्पन्न कर दिया। उन्होंने अपने पीरों को सारी घटना कह सुनाई। उन्हें भी घबराहट हुई प्रायः निर्दयी भय से ही अपने पाप के प्रति जागरूक होते हैं। वे कहने लगे, "यह कोई सच्चा फ़कीर है। हमने बहुत बड़ा गुनाह किया है।" वे उन हत्यारों के साथ

---

१. श्री भीमसेन, बरेली।

गुरुदेव के पास पहुँचे। चरणों में सिजदा किया और कहने लगे, "साईंजी, हमने बहुत बड़ा गुनाह किया है । इसलिये आपके क़दमों में हाजिर हुये हैं । अपने रहमोकरम से गुनहगारों को बख़्शें ।"

गुरुदेव बोले, "प्रेमियों, आप ने तो कोई गुनाह नहीं किया, जिसके लिए फ़कीर तुम्हें बख्श दें।"

उन लोगों ने तब पिछले तीन दिनों की कहानी सुनाई और फिर क्षमा याचना करने लगे । सुनकर गुरुदेव बोले, "प्रेमियों, ये तो सब को एक ही दृष्टि से देखते हैं । सब को अपना ही रूप समझते हैं ।"

पीर : पीर जी, इतना भारी गुनाह बेसमझी से हुआ है आगे ऐसी ग़लती न होगी ।

गुरुदेव : क्या क़ुरानशरीफ़ में वही लिखा है जो तुम करते हो ?

पीर : ऐसा कुछ नहीं लिखा । यह हमारी ही ग़लती है ।

गुरुदेव : जो क़ुरानशरीफ़ में लिखा है उसके मुताबिक़ चलो। वही एक ज़ात सब में है इसलिए भेदभाव बिल्कुल न रखो। सबको एक नज़र से देखो और सबका भला चाहो ।

पीर और उनके अनुयायी चरणों में गिर पड़े। मन की मैल धुल गई । पाकिस्तान बनने तक वे लोग हर वर्ष गंगोठियाँ में यज्ञ में सम्मिलित होते रहे ।[१]

---

१. यह वार्तालाप भी प्रेमी भीमसेन जी द्वारा भेजी सामग्री पर आधारित है ।

बाद में एक अन्य प्रेमी[१] ने गुरुदेव से प्रश्न किया, 'महाराजजी, जब वे लोग आपकी हत्या करने के विचार से आते थे, तो क्या आप भयानक रूप धारण कर लेते थे ?'

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "नहीं प्रेमी ! फ़कीर लोग कुछ नहीं करते। वे तो ब्राह्मीस्थिति में मग्न रहते हैं। लेकिन उनके अन्दर से एक कर्रन्ट-सी निकलती रहती है जो अशुद्ध भावना वाले मनुष्यों पर ऐसा असर करती है कि उनका मन ही उनके सामने उनकी अशुद्ध भावना के मुताबिक़ शक्लें खड़ी कर देता है।"

इस घटना के पश्चात गुरुदेव की ख्याति और भी अधिक फैलने लगी। गाँव-गाँव में इसकी चर्चा होने लगी। मुसलमान जनता पर तो विशेष प्रभाव पड़ा। लोग गुरुदेव के दर्शन के लिए दबाव डालने लगे। 'न न' करते हीरानन्द जी थक गये। अन्त में हीरानन्दजी ने जनता की इच्छा को गुरुदेव के सामने व्यक्त किया। गुरुदेव कहने लगे, "फ़कीरों के दर्शन करने से लोगों का क्या भला हो सकता है ? लोग खुद तो करनी से हीन हो चुके हैं। केवल दर्शन से मुक्ति चाहते हैं।"

हीरानन्दजी की सतत प्रार्थना पर गुरुदेव ने रविवार (२५ मार्गशीर्ष) तीन बजे सत्संग करने की अनुमति दे दी। उस दिन हर धर्म के अनुयायी सत्संग में सम्मिलित हुए। आई हुई संगत को गुरुदेव ने उपदेश देकर कृतार्थ किया। उपदेश का सार इस प्रकार है :

जीव हर समय तृष्णा की आग में जलता रहता है। यह पाँच तात्त्विक शरीर तृष्णा का ही सागर है। लेकिन जितनी तृष्णा अधिक है

---

१. महता अमोलकराम।

उतना ही कष्ट अधिक है, जितनी तृष्णा कम है, उतना ही आराम अधिक है। तृष्णा से छूटने के लिए ही साधना है, ज्यों-ज्यों साधना में दृढ़ता प्राप्त होती है, त्यों-त्यों तृष्णा से मुक्ति मिलती जाती है। साधना की दृढ़ता से मतलब है किसी सत्पुरुष से प्राप्त नाम का चिन्तन करना और उसके आधार पर ही जीवन व्यतीत करना। ऐसा दृढ़ निश्चय ही तृष्णा से छुटकारा दिला सकता है। मानुष जीवन की कोई निश्चित मियाद नहीं-पता नहीं कब दम निकल जाये ! इसलिए प्रभु का भजन - बन्दगी करना बहुत जरूरी है। बगैर इबादत और रियाजत के इस अमोलक (अमूल्य) समय को खोकर जीव कई जन्म धारण करेगा और तृष्णा की आग में जलता रहेगा। जितने भी ईश्वर के प्यारे हुए हैं वे असली खुशी को प्राप्त करके सदा के लिए तृप्त हुए और संसारी लोगों के सुधार के लिए प्रयत्न करते रहे। ऐसे महापुरुषों का जीवन ही पूर्ण है। वे ही रहनुमा या गुरु की पदवी के अधिकारी हैं।

संसारी लोगों ने अनेक मज़हब और सम्प्रदाय धारण कर रखे हैं। लेकिन ईश्वर के प्यारों का एक ही रास्ता होता है। वे सबके लिए एक ही हुक्म लाते हैं - नफ़्स और तृष्णा को मारने का हुक्म। उन्होंने ही हक़ीक़त को जाना है। तुम लोग खुशनसीब हो जो सत्संग में शामिल हुए हो। कृपा करके अपने जीवन को पवित्र बनाओ - अपने आदर्श के सही रक्षक बनो। पाप, कपट और दुराचार से तब ही मुक्ति हासिल कर सकोगे जब सत्संग से प्रेम पैदा करोगे महापुरुषों की पुस्तकों द्वारा शुभ विचार ग्रहण करो ताकि सही धर्म, ईमान को जान सको।

सत्संग की समाप्ति पर जब प्रसादवितरण होने लगा तो कुछ लोगों ने प्रसाद लेने में आनाकानी की। इसका कारण सतसंग में भारी संख्या में मुसलमान जनता की उपस्थिति थी। गुरुदेव इन लोगों के मनोभावों को समझ गये। कहने लगे :

एक दूसरे का मुँह क्या देख रहे हो ? प्रसाद क्यों नहीं लेते ? यहाँ फ़कीरों की दृष्टि में सब एक हैं । अन्धविश्वासों को छोड़कर पवित्र जीवन की तरफ़ आओ। विचार करो दूसरों से घृणा करना कितनी बड़ी जहालत है !

इस डाँट को खाकर सबने सिर झुका कर प्रसाद ग्रहण किया । मुसलमान प्रेमी तो इन वचनों से द्रवित ही हो गये । उन्होंने कभी सोचा भी न था कि कोई हिन्दू फ़कीर इतना उदार हृदय हो सकता है । उन दिनों का वातावरण ही ऐसा था- विशेषकर पंजाब में । सत्संग के बाद मटोर शहर के मुसलमानों ने आपसे मटोर में सत्संग करने की प्रार्थना की । परन्तु आपने कहा :

इनका स्वभाव शुरू से ही एकान्त में रहने का है। शहरों और आबादियों से दूर ही ठहरते हैं । आप लोगों के अच्छे ख्याल हैं जो फ़क़ीरों के वचन ग्रहण कर रहे हैं। हमारी यही प्रार्थना है कि अपने जीवन को ख़ुशबूदार बनाओ। दूसरों की खिदमत करो । दुनिया में दुर्लभ पदार्थ खुदा का नाम है । उस नाम में अपने आप को ख़त्म करके असलियत की तहकीकात करो। जो कुछ सुना है उस पर अमल करो । ईश्वराज्ञा से यहाँ एक हफ़्ता और ठहरेंगे तप के बाद गाँव में यज्ञ होगा । उस समय सब दर्शन देवें ।

आपके इन वचनों को सुनकर संगत ने उस निर्जन वन में ही सत्संग करने की प्रार्थना की। गुरुदेव ने इस प्रार्थना की भी स्वीकार नहीं किया। कहने लगे :

यहाँ ये एकान्त में तप के लिए ठहरे हुए हैं । इसलिए प्रोग्राम के मुताबिक ही अमल करना है । यहाँ जगह भी दूर है । लोगों को आने-जाने में कष्ट होगा आप मजबूर करते हैं तो बमयालाँ गाँव में तप के बाद एक हफ़्ता और ठहर जायेंगे । आप लोगों को सत्संग का अवसर मिल जायेगा । फ़क़ीरों को ज्यादा मजबूर नहीं करना चाहिए। अगले इतवार

(रविवार) को सम्मेलन है। सब लोग दर्शन देवें।

यज्ञ के दिन उस गाँव में भारी भीड़ एकत्रित हो गई। मटोर शहर और दूर-दूर के गाँवों के लोग यज्ञ में सम्मिलित हुए। रात भर खाद्य-पदार्थ तैयार होते रहे सुबह साढ़े दस बजे गुरुदेव ने एकत्रित संगत को उपदेश दिया जिसका सार-संक्षेप इस प्रकार है :

यह मानुष शरीर कर्मों का यन्त्र है। हर समय मानुष कोई न कोई कर्म करता ही रहता है और उन किये हुए कर्मों का अभिमानी हो जाता है। कर्म - अभिमान को धारण करके जीव कई शरीर धारण करता है और जन्म-मरण के रोग से छूट नहीं पाता। विचार कीजिए कि यह शरीर जन्म के वक्त कितना था ? अच्छे-बुरे का इसे विवेक न था। ज्यों-ज्यों शरीर की अवस्था बढ़ती गई तृष्णा का रोग भी लगता गया। रोग ऐसा लगा कि जिन्दगी भर उसका इलाज न हो सका। जवानी में मन के मनोरथ पूरे करने के लिए दौड़-धूप की। मगर सब रायगाँ (निरर्थक) ! मन में जैसे संकल्प उठते रहे उनके मुताबिक़ ही दौड़-धूप लगी रही और चित्त में खेद बने रहे। जीव सुख-दुःख, लाभ-हानि, रोग-सोग में अति लाचार रहता है बजाते खुद यह शरीर जीव के लिए एक गहरा अज़ाब है। इस अज़ाब से छूटने की खातिर यत्न करो काल हर समय गूंज रहा है। आपके बुजुर्ग, जिन्होंने आपको जन्म दिया था, कहाँ गये ? उन्हीं की तरह हर एक ने इस बग़ीचे को छोड़कर जाना है। इस भ्रमजाल से छूटने का उपाय करो और सत तत्त को प्राप्त करने का यत्न करो। जिस शक्ति करके देह में जीवन है, उसकी पहचान करो। न रहने वाले शरीर से कुछ लाभ प्राप्त करो। इस अज़ाब से छूटने की खातिर एक उपाय प्रभुनाम - सिमरण (स्मरण) ही है। नाम-सिमरण से चंचल मन स्थिर होता है और जीव नौ द्वारों के भागों को छोड़कर तृप्त हो जाता है। सिमरण से दृढ़ता हासिल होती है और जीव त्रिगुणी माया से अबूर पाकर बिस्राम (विश्राम) पाता है।

मानुष शरीर में ही ऐसे मार्ग को पा सकता है।

प्रेमी सज्जनों ! इस न रहने वाले शरीर के भोगों से क्या तृप्ति हासिल हो सकती है ? महापुरुषों के वचनों पर विश्वास रखो। ईश्वर सिमरन में प्रेमभाव रखते हुये अति यत्न - प्रयत्न से समय व्यतीत करो । इस संसारसागर में बिना नामसिमरन के अति दुःख प्राप्त होते हैं और जीव बार-बार अनेक योनियों में भरमता[१] रहता है जन्म-मरण गहरे अज़ाब से छुटकारा हासिल नहीं कर सकता। इसलिए कृपा करके आप लोग अपने जीवन को सुखदाई बनाओ और नस्लों के रक्षक बनों।

यज्ञ की समाप्ति पर सब लोग वापस लौट गये । बमयालाँ गाँव के प्रेमियों की प्रार्थना पर आप एक सप्ताह गाँव में भी रहे। वहीं पर 'विज्ञानमात्रा' वाणी प्रकट हुई जिसे वहीं के प्रेमियों ने लिपिबद्ध किया। वाणी के कुछ शब्द इस प्रकार हैं :

खोल किवाड़ गगन का, जोति लख निरंकार।
'मंगत' कीजे सत आरती, भवजल उतरे पार॥

ऐसा सन्तो करो विचार | बोलनहारा पुरख निरधार॥
हाड़ माँस नाड़ी और खाल प्राण पुरख बीच करे निहाल॥
तिस पुरख की जाने जानाई। दुरमत जाल सकल मिट जाई॥
प्रान बन्ध सरूप करतार। गुरमुख कीजे उलट विचार |
उलटे मारग मिले भगवन्ता। संकट जाए पाए चित्त परसन्ता॥
खोजो खोजो वस्त तत्त ज्ञान। दो तलवार धरो एक मियान ||

---

१. भरमता = भ्रमित रहता है, अथवा भटकता रहता है।

पूरे सतगुरु का वड प्रताप। उलट मारग कीना प्रभु जाप ॥
इरध उरध प्राण का बन्ध। राखे सुरती जोति परचण्ड ॥
परमानन्द सरूप अगाध। गुरुमुख लखे अनुभवी समाध ॥
जीवन जीवे सत नाम कमाये। निज धर बसे नहीं जमपुर जाये ||
अमरत खानी यह प्राण की धारा। जो जन सोधे उतरे भव पारा ॥
घर में अमृत बाहर बिख खाए। अन्तकाल जम देवे सजाए ॥

लेखा लखयो सरब दुःखदाई। जन्म गँवायो न हाथ कछु आई ||
इस नगरी में रहन न पाए। जतन अनेक करे गुणीराए ॥
उठके सिमर तू नाम अमोल। प्रेम प्रीत से हिरदे तोल ॥
अमृत कुण्ड घर में भरया। गुप्त द्वार में है सो धरया ॥
मिल सत साधू लख सत लेख। बोलनहार का सुन सत भेख ॥
दुरमत रोग सकल मिट जाये। साचा नाम जो मन माहीं कमाये ॥

और उपाय छाड़ रे गुणिया। सुपन समान सकल है दुनिया ॥
न कोई तेरा न तू काहू काए। सुख के कारण बहु साथ बनाए ॥
साचा सुख एको प्रभ नाम | सबके अन्तर करे बिसराम ॥
निरमल सुरती प्रानतत्त खोजो। सत्गुरु पूरे का निर्णय बूझो ॥
अन्तर माहीं आनन्द भण्डार। पल-पल खोजो रूप मुरार ॥
नित आनन्द-घन रूप स्वामी। विधन रहित सो रहे अनामी ॥

घट खोजो निज आपना, पियो प्रेम की धार।
'मंगत' मिले सत शान्ती, जीते जम दरबार ॥

अध्याय-८

समताज्ञान का अवतरण

तप की समाप्ति पर मटोर से गुरुदेव गंगोठियाँ पहुँचे। कुछ दिन यहाँ ठहरने के बाद आप आस-पास के गाँवों में विचरण करते रहे। मई १९४० ई० में आपने फिर काश्मीर की ओर प्रस्थान किया। जलमादा स्थित कुटिया में आपका ठहरना स्वाभाविक ही था वहाँ के प्रेमियों का प्रेम ही ऐसा था। वहीं पर १५ ज्येष्ठ सं० १९९७ विक्रमी (२७ मई १९४०) को "सत्सार प्रकाश" नामक वाणी प्रकट हुई। 'ओ३म् ब्रह्म सत्यम् सर्वाधार' महावाक्य भी यहीं प्रकट हुआ।

जून १९४० ई० में आपने काश्मीर की आगे की यात्रा आरम्भ की। रास्ते में एक छोटी सी नगरी, चिनारी, पड़ती थी। नगरी पहाड़ों से घिरी थी। पास ही जेहलम नदी बहती थी। वहाँ का भूदृश्य अपनी अनुपम सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध है। १० जून १९४० ई० को आप चिनारी पहुँचे। साथ में भगत बनारसीदास और कोहाला-निवासी सेवाराम जी थे। संध्या हो रही थी। वहाँ मन्दिर में डेरा जमाया। मन्दिर के पुजारी तम्बाकू के विशेष प्रेमी थे-लगातार तम्बाकू का धुआँ उगलते जा रहे थे। कहने लगे, "महात्माजी, यहाँ कोई भी आपकी बात नहीं सुनेगा। सब माँस खाने वाले, शराब पीने वाले और जुआ खेलने वाले लोग हैं। यहाँ आपको कोई भेंट नहीं मिलेगी।"

चिनारी के लोगों के विचार में धर्म का अर्थ सप्ताह में एक-आध बार मन्दिर

में जाकर प्रसाद चढ़ाने और आरती करने, और विशेष पर्वो पर कुछ कर्मकाण्ड करने के सिवा और कुछ न था। अधिकतर लोग विचारहीन, आचारहीन और संस्कारहीन थे। जवानों में संयम न था, बूढ़ों में शालीनता न थी। दिन भर रुपया कमाना और शाम को माँस और शराब उड़ाना—यही उन लोगों का जीवन था। विवेक और वैराग्य की बातों से तो उनका दूर से भी कोई सम्बन्ध न था। वे लोग सत्संग में कैसे रुचि लेते ? बुलाने पर भी न आए। रही-सही कसर पुजारी महोदय ने पूरी कर दी। उन्होंने यह गप्प उड़ा दी कि गुरुदेव क्षयरोगी हैं और जलवायु के परिवर्तन के लिए आये हैं। गुरुदेव के तपस्वी शरीर को देखकर लोगों ने सहज ही इस अफवाह पर विश्वास कर लिया।

गुरुदेव ने जेहलम नदी के किनारे एक कुटिया में ठहरने का निश्चय किया। इस कुटिया के मालिक-गोकुलशाह क़सबे के उन इने-गिने लोगों में थे, जोकि सत्विचारों में कुछ रुचि रखते थे और आए-गए लोगों की भी देख-भाल किया करते थे। चिनारी के लोगों की इस बेरुखी को देखकर गुरुदेव ने एक दिन फिर सत्संग करने का निश्चय किया। ठाकुर दीवानसिंह, जो उस समय सेवा में थे, दुकान-दुकान जाकर सबको सत्संग में सम्मिलित होने के लिये प्रार्थना कर आए। फलस्वरूप कुछ लोग सत्संग में उपस्थित हुए। सत्संग की समाप्ति पर एक सज्जन ने गुरुदेव से कहा कि उन्होंने जो पैसे प्रसाद पर व्यय किये थे, वे उनसे ले लें।

गुरुदेव ने मुस्कराकर उत्तर दिया, "कोहाला में तो फ़कीरों ने अपना खून पिलाया था। आप लोगों को तो प्रसाद ही खिलाया है। आप लोग इनके नजदीक आने से क्यों डरते हैं ? फ़कीर तो घर-घर जाकर नया जीवन दे रहे हैं। आगे आप लोगों का भाग्य है !"

बुझी हुई राख में भी कहीं-कहीं कोई चिंगारी छिपी रहती है। तमस् की उस नगरी में भी दो-चार प्रेमीहृदय पल रहे थे। चिनारी पहुँचने के तीसरे दिन की सुबह की बात है। गुरुदेव एक एकान्त स्थान में भगतजी और सेवारामजी

से बातें कर रहे थे। बातें तप के लिये अनुकल स्थान की खोज के सम्बन्ध में हो रही थीं। इतने में एक वृद्ध वहाँ आ पहँचा। लम्बी सफ़ेद दाढ़ी से चेहरा ढका हुआ था। कपड़े मटमैले थे । आयु ने अपना असर दिखाना शुरू कर दिया था। सिर पर दूध का बर्तन था और एक चादर में कुछ जंगली फल बँधे थे। बाबा मुसलमान था । चरणों में नमस्कार करके कहने लगा, "साईंजी, इसे क़बूल कीजिये "

गुरुदेव : प्रेमी बाबा, किसके लिये लाये हो ? किसने कहा था लाने को ?

वृद्ध : बाजार में पता चला था कि आप अल्लाह को याद करने वाले हैं । अनाज नहीं खाते । खुदा के हुक्म से दिल ने कहा, 'हज़रत की जियारत करो।' सो चला आया। मेहर करें।

वृद्ध आशीर्वाद पाकर वापस हुआ। उस दूध से गुरुदेव की चाय बनी और फल प्रेमियों ने प्रसाद के रूप में ग्रहण किये। गुरुदेव का उसकी भेंट को इस आसानी से स्वीकार करना वृद्ध की पवित्र श्रद्धा का द्योतक था । किसी अनजान व्यक्ति की वस्तु को इस प्रकार ग्रहण करना एक अनोखी घटना थी। बहुत ही कम लोग ऐसी कृपा को प्राप्त कर सके थे।

उपर्युक्त सत्संग के बाद कुछ लोगों का झुकाव सत्संग के प्रति अवश्य हआ, परन्तु अधिकतर चिनारी-निवासी अपनी पुरानी आदतों में ही कैद रहे। अतः कुछ दिन बाद एक प्रेमी की प्रार्थना पर आपने चिनारी से सात मील दर नड़धज्जियाँ नामक गाँव के लिये प्रस्थान किया। यह गाँव चारों ओर से काले रंग के पहाड़ों से घिरा था। वहाँ एक नदी के किनारे एक एकान्त कुटिया में ठहरकर आपने तपस्या आरम्भ कर दी। इसी स्थान पर 'निर्बन्धजीवनप्रकाश' वाणी प्रकट हुई।

इस वाणी के अवतरण की भी एक कहानी है। एक दिन निखेतर गाँव से चौधरी रामदित्तामल और अमीरचन्द गुरुचरणों में हाज़िर हुए और एक पत्र सामने रखा। यह पत्र कोहाला की संगत की ओर से लिखा गया था, जिसमें गुरुदेव से प्रार्थना की गई थी कि संगत का कोई नाम होना चाहिए। गुरुदेव नाम रखना नहीं चाहते थे। उनका विचार था कि ऐसा करने से लोग यही समझेंगे कि एक नया मत खड़ा कर दिया है । इस पर प्रेमी रामदित्तामल बोले, "हमारी यही प्रार्थना है कि संगत का एक ऐसा नाम रखा जाये जो सर्वप्रिय हो और एकता पैदा करने वाला हो ।"

गुरुदेव कहने लगे, "प्रेमी, नाम तो आ जाएगा, लेकिन छोटी बुद्धि वाले समझ न पायेंगे । अच्छा, जो ईश्वराज्ञा।"

तीन दिन के पश्चात गुरुदेव ने चार नाम प्रेमियों के सम्मुख रखे। १. समतावाद २. समता सत्संग ३. समतासमाज ४. संगत समतावाद ।

प्रेमियों ने समतासमाज पसन्द किया। (परन्तु अन्त में 'संगत समतावाद' नाम अपनाया गया ।) नाम रखने के बाद गुरुदेव बोले : "इस समता शब्द से ऊँचा नाम अनुभव नहीं हो सका। तीन बार यही पवित्र नाम अनुभव हुआ। समता के बिना इखलाकी और रूहानी[१] उन्नति नहीं हो सकती और यह समताभाव आज से कुर्रा-हवाई (वायुमण्डल) में फैल गया है। आहिस्ता-आहिस्ता पवित्र अन्तःकरण वालों के हृदय में असर करेगा। समता के आधार पर ही देश और दुनिया तरक्की (उन्नति) कर सकेंगे। और कोई रास्ता नज़र नहीं आया। आगे तुम जीवों का भाग्य ।"

गुरुदेव कुछ देर मौन रहकर भगतजी से कहने लगे, "बनारसी, अब समता

---

१. नैतिक और आध्यात्मिक ।

के अनुरूप लेखा आवे तो नाम पक्का हो। इस जगह रात को सत्संग के बाद आ जाना। फिर जो ईश्वराज्ञा से आवाज़ आये, लिखकर संगत तक पहुँचाना।"

रात-वाणी लिखाने से पहले गुरुदेव ने भगतजी को आज्ञा दी, "पहले ऊपर 'समतत्त विचार' लिखो। जब उन्नीसवाँ शब्द आये तो आवाज़ दे देना।" वाणी का प्रवाह शुरू हो गया।

सत करनी से मन निरमल होये। सत विश्राम हरि चरण में जोये॥
जब विश्वास प्रभचरण में पाया। भगती प्रेम का लेख लखाया॥
पूरण भगतो जब हृदय समाई। समतत्तज्ञान की लखी प्रभताई॥

समताज्ञान मूल ठिकाना। सब जग वहाँ जाये समाना॥
समताज्ञान अनाद सरूपा। जरामरण नहीं व्यापे कूपा॥
समताज्ञान आनन्द की धारा। जो जन परसे हरे दुःख सारा॥
समताज्ञान नेहकरम सरूप। बिस्मय बिस्माद तत्त अनूप॥
समताज्ञान नित निरवानी। आवागवन वहाँ नहीं निशानी॥

समताज्ञान सरब आधार। समपद बूझे पावे निस्तार॥
समताज्ञान यह ब्रह्मसरूप। अच्छर अवगत शकत सुखरूप॥
समताज्ञान सब जीवों की जान। शबद सरूप पसरे सब थान॥
समताज्ञान धरम का रूप। ऊँच नीच की हरे सब कूप॥
समताज्ञान केवल निज आप। समस रूप जल थल वियाप॥

समताज्ञान आद से आदी, विस्माद सरूप समाये।
'मंगत' यह ही परमगत, जो सकले ताप मिटाये॥

---

१ कुटिया से कुछ दूर एक शिला पर गुरुदेव रात्रि में तप किया करते थे।

'समतातत्त्व' की व्याख्या तो अन्यत्र[१] की जायेगी, परन्तु पाठकों को सुविधा के लिये यहाँ एक उद्धरण श्री समताविलास से दिया जा रहा है:

'समता' का असली अर्थ यह है कि हर हालत में एक रस रहना ग्रहण और त्याग की कामना से मुक्ति हासिल करनी"। "समता ईश्वरीय शक्ति का यथार्थ स्वरूप और गुण है। समता स्वरूप ईश्वरीय सत्ता सदैव काल एकरस होकर विचरती है। किसी वस्तु का विखेप (विक्षेप) उसको स्पर्श नहीं कर सकता-यानी त्रिकाल आनन्दसरूप है। इसी समताभाव को जब जीव अन्तरविखे अनुभव करता है, तब उसके सब बन्धन कर्म नाश हो जाते हैं और अचल शाँति को प्राप्त होता है।"[२]

उस रात तीन सौ पद लिखाये गये। दूसरे दिन सबेरे जब भगतजी उस वाणी का पाठ कर चुके तो गुरुदेव उनके पाँव पर हाथ रखकर कहने लगे:

मुक गया लेना देना, खू विच पै गइयाँ बहियाँ।[३]

यह लीला देखकर भगतजी लज्जा से गड़ गये और भावविहल होकर चरणों में गिर पड़े। आँखों से आँसू बहने लगे। गुरुदेव बोले, "गुरु नीवें शिष चरण में, उलटा धारे पंथ।" ये सब बातें भगतजी की समझ के बाहर थीं। सिर उठाकर गुरुदेव की ओर देखने लगे। गुरुदेव के मुखमण्डल पर हल्की सी मुस्कान खिल उठी थी। कहने लगे "प्रेमी, क्यों हैरान होता है ? तू समझता नहीं है। बस यही अन्तर है तुझ में और इनमें। तेरा और इनका सम्बन्ध आज का नहीं। ये जानते हैं, तू नहीं जानता..."वह पिछला लेना-देना खत्म हो रहा है।"

---

१. देखिये अध्याय-"समतासिद्धान्त"।

२. समतानिधान (समताविलस) ३७, ५८।

३ लेना-देना समाप्त हो गया है। बहियाँ (हिसाब-खाते की किताबें) कूएँ में जा गिरी हैं।

भगतजी : हमारा आप का कैसा सम्बन्ध चला आ रहा है ?

गरुदेव : इस बात को पूछने का नाम न लो। समय निकालते चलो। स्वयं ही
पता चल जायेगा। सारी बात बता देंगे तो तू अभिमानी हो जायेगा
और जो सेवा करनी है वह कौन करेगा ?

भगतजी यह सुनकर चुप हो गये। फिर डरते-डरते पूछने लगे, "यह विकारी बुद्धि कैसे इस आश्चर्यमय भेद को जान सकेगी ?"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "यह सुधार धीरे-धीरे हो जायेगा। इसका इलाज निष्काम सेवा और निष्काम सिमरन (स्मरण) है। यह जल्दी का काम नहीं है। अच्छा अब बाक़ी के शब्द पूरे करो।" इतना कहकर सौ पद और लिखवाये। भगतजी की प्रार्थना पर कर्म और निष्कर्म, 'मंगलाचरण' और 'ईश्वरमहिमा' के शब्द भी लिखवाये। वाणी-उच्चारण की समाप्ति पर गुरुदेव बोले, "यह विद्या हर मनुष्य मात्र के लिए है। जो भी प्रेम से सुनेगा, पढ़ेगा और अमल करेगा उसे परमसुख मिलेगा। जब तक सूरज-चाँद है, यह विद्या जाग्रत रहेगी। युग-युग तक तुम्हारी महिमा होती रहेगी।"

भगतजी ने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहने लगे, "आपकी दयादृष्टि है जोकि इस मढ़जीव को चरणों में जगह दे रखी है। आपने स्वयं आकर पहाड़ को कन्दरा में से निकाला है। बन्धनों से छुड़ाकर सेवा में समय व्यतीत करवा रहे हैं। आपकी महिमा इस मुख से बन ही नहीं सकती। न विद्या है, न ही बुद्धि। आपकी दयादृष्टि से ही इस जन्म में सफलता प्राप्त हो सकेगी।"

भगतजी जब इस प्रकार बोल रहे थे तो गुरुदेव ने आज्ञा दी, "प्रेमी ईश्वर महिमा का पहला शब्द सुनाओ।"

रात के दो बज चुके थे। लालटेन की रोशनी में उस सुनसान जंगल में भगतजी ने गाना शुरू किया :

तू करता करतार है, सब जग सिरजनहार ।
पल पल कीजू बन्दना, तू साखी पुरख अपार ॥

बार-बार करूँ बन्दना, तू दीनानाथ दयाल ।
नेहमानियाँ का मान तू, सरब काल रछपाल ॥

अपनी कला को धार के, रचियो जगत पसार।
अनंक भाँति उस्तत करूँ, तूं दीनबन्धु दातार ॥

सरब जगत का रखयक, नित ही करे प्रतिपाल ।
निमखनिमख सिमरन करो, गोबिन्द सरब किरपाल ॥

चार वेद जस गाँवदे, गुनी मुनी जन अनेक ।
सब जग तुमरा खेल है, नित राखू तुमरी टेक ॥

अनमत मूढ़ा आया, प्रभ तोरे दर भीखार ।
दीजो भगती दान प्रभ, नित मन करूं पुकार ॥

आठ पहर तुम प्रेम में, मनुआ रहे लवलीन ।
दीन दयाल दया करो, हरियो बुद्ध मलीन ॥

शेष सहँस मुख गाँवदा, पल - पल नाम अपार ।
महमा तेरी क्या कथं, तू आपे सरब आधार ॥

पाप कप भसमत करो, दीजो सत विचार।
नित सिमरूँ तेरे नाम को, नित चरनी सुख धार ॥

कलयुग घोर आ वरतिया, सत धरम भयो नास ।
कूड़ कपट की सम्पता, सब घट कियो परगास ॥

राखनहार अपार तूं, नित ही तेरी आस ।
'मंगत' नित सरनागती, हरियो भरम की प्यास ॥

शब्द पढ़कर भगतजी ने प्रणाम किया और चरणामृत के लिए प्रार्थना की।

कहने लगे, "कहता है बुद्धि नहीं है ! यह सोझी (सूझ) कहाँ से आई ?"

भगतजी ने उत्तर दिया, "महाराजजी, बुद्धि निर्मल करने के लिए आप ही प्रेरणा दे देते हैं।"

गुरुदेव ने नड़धज्जियाँ में कोई एक मास तक वास किया। उस एकान्त स्थान में आपका अधिकतर समय तप में ही व्यतीत हुआ। गुरुदेव के तप का प्रभाव स्वतः ही उस इलाके की जनता पर पड़ने लगा। चिनारी के लोग भी इस प्रभाव से बच न सके। उन्हें अपने किये पर पश्चाताप होने लगा। बहुत से लोग सात मील का कठिन पहाड़ी रास्ता पैदल चल करके उस निर्जन जंगल में पहुँचे । चरणों में गिरकर क्षमा माँगी और बार-बार चिनारी चलने की प्रार्थना की। दयासिन्धु गुरुदेव ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की। आप चिनारी में अठारह दिन तक रहे। प्रतिदिन सत्संग होता था जिसमें लगभग सारा ही कसबा भाग लेता था। अन्तिम दिन तो आस-पास के गाँवों की जनता भी सत्संग में सम्मिलित हुई। आज गुरुदेव प्रस्थान करने वाले थे। सभी प्रेमी चुप थे। वह पहले वाली चहल-पहल न थी। दिलों में उदासी लिए प्रेमी गुरुदेव को निहार रहे थे। तभी गुरुदेव बोले, "प्रेमियों, यह फ़कीर बीमार हैं। सेहत के वास्ते आए थे। इनकी बीमारी छूत की बीमारी है। जो इनके पास आएगा उसे भी लग जायेगी। इनके नज़दीक सोच-समझकर आना चाहिए। प्रभु आपको सत्बुद्धि दे । फ़कीर तुम्हारी बेहतरी (भले) के वास्ते ही आये थे।"

इतना सुनते ही प्रेमी प्रेमविह्वल हो गये। आँखें भर आई। किसी के मुख से एक शब्द भी न निकला। गुरुदेव ने भगतजी को वाणीपाठ की आज्ञा दी। भगतजी ने पाठ आरम्भ किया :

विख बीजे नर बिख ही खाए। बिख की आस में जन्म गंवाए॥
अमरत नाम बिन रोए दिन राती। एक पलक नहीं चित्त शांत समाती॥

कूड़ झंझट में नित गरसीना। काल का बाँधा नित भरमीना ।।
अनेक विकार चित्त माहीं चितारे। खावे बिख पावे दुःख अपारे ।।
जितनी सम्पत उतना दुःख भारी । नित ही दुःख में फिरें परिवारी ।।
बड़े-बड़े धन माल के वाली । अन्त चले नर ले हथ खाली ।।
अपना सब कुछ नित बनावे । होवे बेगाना जब जम गरसावे ।।
कौड़ी - कौड़ी जोड़े धनवादी। छाड़ खज़ाना चले अपराधी ।।
दुष्ट करम कमाए दिन राती। बिना भगत मन पाप ही थापी ।।

विषय भोग भोगे मन माने । मरन विसार भयो ग़लताने ।।
कूड़ देही का बहु साँग बनाए । निकले प्राण छिन राख समाए ।।
तुच्छ जीवन का क्यों करे गुमाना। रहन न पावे कोउ राजा राना ।।
कहाँ दुर्योधन छत्तर सिर धारी । सोलह जोजनजाँकीझलकझलकारी ।।
कहाँ शिशुपाल भीम बलवान । कहाँ अर्जुन कहाँ तिसके बान ।।
कहाँ रावण जिस काल बँधायो । कहाँ राम जिस अवतार कहलायो ।।
कहाँ धनन्तर कहाँ अश्वनी कुमारा । कहाँ कंस कहाँ जरासंध दुलारा ।।
कहाँ भीषम कहाँ दोण आचारी । कहाँ करण अति बलकारी ।।

कहाँ विकरम सिकन्दर दारा । कहाँ मुग़ल कहाँ गौर बल धारा ।।
कहाँ ज्ञानी ज्ञान तत्तवादी । कहाँ योगी जो लायें योग समाधी ।।
जो आए सो गए समाए । चक्र काल का अगम अथाए ।।
समय पाये विरंच विनासे । समय पाए शिव को काल गरासे ।।
समय पाए विष्णु देह त्यागे । छूट सके ना कोई काल के आगे ।।
धरती जाए पवन और नीरा । जाए अम्बर पावक खीरा ।।
समय आए सब लीन समाए । साचा रूप रह्यो राम अगाए ।
सब जग काल सरूप है, छिन - छिन रूप वटाए।
'मंगत' साचा सो प्रभ मेरा, जो वाध घाट नहीं पाए ।

शब्द की समाप्ति पर गुरुदेव ने चलने की आज्ञा दी और स्वयं हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए। सब प्रेमियों को आशीर्वाद दिया। सबने चरणधूलि माथे पर लगाई। गुरुदेव तांगे पर सवार हो गये। तांगा चल पड़ा। चिनारीनिवासी एक टक जाते हए तांगे को देखते रहे। सबकी आँखों से आँसू बह रहे थे। धीरे-धीरे तांगा आँखों से ओझल हो गया।

चिनारी से छः मील दूर हटिट्यां नामक गाँव में गुरुदेव का चार दिन ठहरने का कार्यक्रम था । वहाँ से फिर आप जलमादा पधारे । जलमादानिवासी गुरुदेव के आने पर यज्ञ किया करते थे। इस बार भी यज्ञ किया गया। भाद्र मास के अन्त में आप शुभस्थान गंगोठियाँ चले आये। वार्षिक सम्मेलन आ रहा था। इस वर्ष भी सम्मेलन धूमधाम से मनाया गया। संगत की संख्या पिछले वर्ष से भी अधिक थी। सम्मेलन का अपना निजी वातावरण होता था। शरीर से अथक परिश्रम करते हुए भी मन विश्राम करता रहता था। यज्ञ का विस्तृत वर्णन पहले हो चुका है। इस वर्ष का यज्ञ भी वैसा ही प्रेममयी और सुखद् था । इसकी अलग से चर्चा करने की ज़रूरत नहीं है ।

•

अध्याय – ९

महामंत्र की महिमा

यज्ञ की समाप्ति के कुछ दिन बाद आप एकान्तवास के लिये शाहपुरकण्डी पधारे। यह स्थान पठानकोट से सात या आठ मील की दूरी पर स्थित है। यहाँ रावी नदी के किनारे एक प्राचीन किला है। किले के अन्दर ऍक कमरा बना था-साथ ही एक कुटिया भी थी। पूर्ण एकान्त था वहाँ। गुरुदेव को यह जगह खूब पसन्द आई। अन्न तो पहले ही छूट गया था; यहाँ फल और सब्जी का भी त्याग कर दिया। केवल एक प्याली चाय सुबह और शाम पर ही गुजर होने लगी। लगभग चौबीस घण्टे ही समाधि लगी रहती थी। बीच-बीच में वाणी का भी अवतरण होता रहता था। गाँव वालों का विचार था कि इस वीरान किले में भूत-प्रेत बसते हैं इसलिए गुरुदेव के एकान्त में बाधा पहुंचाने कोई न आता था।

इस जगह "जीवगति सिद्धान्त", "सतनामप्रबोध मार्ग", "सत् अनुराग सरोवर", "समतानिधान" और "महामन्त्र की व्याख्या" का अवतरण हुआ। महामंत्र तेरह अक्षरों का मंत्र है जो कि आपको, जैसा कि पाठकों को विदित है, तेरह वर्ष की आयु में प्रकट हुआ था। इस मंत्र में ब्रह्म के साकार और निराकार, सगुण और निर्गुण, सर्वव्यापक और सर्वातीत-दोनों रूपों का वर्णन है। ओ३म् से वाचित ब्रह्म ही चराचर जगत् के रूप में प्रकट हुआ है-वही पिण्ड है, और वही ब्रह्माण्ड है। प्रत्येक वस्तु का आकार भी वही है और उस

का आत्मा भी। वही गुण है और वही द्रव्य। इतना होते हुए भी, वह सर्वातीत अद्वैतरूप है। उसी की शरण में जाकर जीव कल्याण को प्राप्त होता है। गुरुदेव का कहना है :

त्रयोदश अक्षर मंत्र यह, सरब सिद्ध दातार।
जो सिमरे नित प्रेम से, मंगल पाये अपार॥

जनम जनम जाये भरमना, प्रभ चरण पाये विश्वास।
मोह माया संकट मिटे, सब कारज होवें रास॥

महमा सतसरूप की, सब अक्षर पहचान।
चार वेद और सिमरती, सब का सार निधान॥

परम शकत परकाश अत धारे, कोट पिण्ड ब्रह्माण्ड।
सरब न्यारा आप रहे, तत्त नाद रूप अखण्ड।

रिखी मुनी और देवते, गायें गुरु अवतार।
महिमा अवगत रूप की, पल पल करें विचार॥

ज्ञानी कथा विचारते, जुग जुग पूरण सार।
ओड़क निरणा पाया, सरब रूप **'ओंकार'**॥

कथा विचारें वेदान्ती, देवें अनक भांत परमाण।
'ब्रह्मसत्यं' तत्त रूप का, निरणा करें बखान॥

शबद रूप को पूजते, जो तीन काल निरदोख।
त्रै गुण से नित भिन्न है, **'निरंकार'** शबद तत्त मोख॥

उतपत परले जो होये, सो असत माया विकार।
'अजन्मा' कर प्रभ पूजते, जुग जुग गुणी अपार॥

केवल सत्ता तत्त रूप को, पूजें सिद्ध बुद्ध अनेक।
दृश्यमान सब भरम है, प्रभ केवल रूप **'अद्वैत'**॥

परम शकत संसार में, ज्ञान मात्रक सार।
सरब आधारी तत्त सो, करें **'पुरखा'** विचार॥

लाख चौरासी जन्त में, जो समरस रह्या व्याप।
'सर्व-व्यापक' जान के, हरजन करते जाप ॥

राग द्वेष जाँ को नहीं, शुद्ध सरूप त्रैकाल।
'कल्याणमूरत' तत्त ध्यान से, तन मन होये निहाल ॥

सरब शकत आधार जो, अतुल शकत निरधार।
'परमेश्वर' कर पूजिये, ताप तपन होये छार ॥

नमो नमो प्रभ रूप को, जाँ की महिमा अपरमपार।
अनन्त शकत तत्त शबद को, **'नमस्तं'** बारमबार ॥

तत्त मन्तर महिमा अपार है, ज्ञान सागर अथाह।
जिस विध जो सिमरन करे, भवदुस्तर तरे असगाह ॥

तत सरूप परमात्मा, सब अक्षर महमा जाँ।
जो सिमरे चित्त प्रीत से, कलह न व्यापे ताँ ॥

सत मन्तर सिमरन करे, उठत बैठत नर जोये।
जाये भरम की दूषना, चित्त शाँत परापत होये ॥

विजय पाये संकट मिटे, सतगुन ले सुखसार।
आध व्याध जाय कल्पना, पाये सूझ धरम अपार ॥

जो ध्याये नित प्रेम से, परसे नहीं पखवाद।
समता तत्त रसना मिले, मोह ममता मिटे मूल परमाद ॥

कलह कलेश सब दूर होये, पाये ज्ञान तत्त योग।
'मंगत' तत्त अक्षर नित गाइये, प्रभ दरशन होयें संजोग ॥

इस वाणी से स्पष्ट है कि महामंत्र जगद्दीक्षा के रूप में अवतरित हुआ था। ईश्वर कभी शरीर रूप में प्रकट होकर जिज्ञासु का मार्गदर्शन करते हैं। उस समय वे गुरुरूप होते हैं। कभी ऐसा समय आता है कि वे शब्दरूप परमेश्वर मंत्ररूप में अवतार लेकर जीवों की तपन बुझाते हैं। परन्तु ऐसी कृपा कभी कभी ही हुआ करती है। ऐसे महामंत्रों में शक्तिपात की क्षमता निहित रहती है। बिना दीक्षा लिये ही महामंत्र के द्वारा जिज्ञासु दीक्षित हो सकता है। यही

इसकी महिमा है। प्राण-अपान की साधना के लिये तो कामिल गुरु की जरूरत रहती है, क्योंकि उसे गुप्त रखा गया है। लेकिन महामंत्र सबके लिये है। इसके जाप के लिए दीक्षा की जरूरत नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित संवाद शिक्षाप्रद है।[१]

प्रेमी : जब सब जगह आश्रम खुल गये हैं तो आपको एक सही गुरु तो बिठाना ही पड़ेगा। ....

गुरुदेव : ...गुरु बनाया नहीं जाता...। इधर तालीम में कोई कमी नहीं रखी गई। महामंत्र अपने-आप में गुरुमंत्र है। सहज-सहज अंगों में समाधि में अनुभव होता रहा। जैसे-जैसे आया नोट करते रहे। अब मुकम्मिल रूप में यह रूहानीमंत्र अर्थ सहित समताप्रकाश में लिखा है। गीता में भी जपयोग की बड़ी महानता बतलाई गई है। यह मंत्र सर्वसिद्धिदातार है।

प्रेमी : ...जनता को कुछ लोगों द्वारा गुमराह किया जा सकता है और महामंत्र की जगह गुरुमंत्र का लालच दिया जा सकता है।

गुरुदेव : ...जैसे 'रोटी' शब्द पढ़ने से भूख की निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही कामिल गुरु के बगैर युक्ति और शक्ति नहीं मिलती।

प्रेमी : फिर महामंत्र से आपकी अनुपस्थिति में कैसे सन्तोष होगा ? वह भी तो "रोटी" शब्द की तरह ही तो समझा जायेगा?

गुरुदेव : "प्रेमीजी, कामिलपुरुषों की तहरीर (लेख) व तक़रीर (वचन) में कोई अन्तर नहीं होता।

---

१. दिसम्बर, १९५३, अबोहर मण्डी में यह संवाद हुआ था।

इस वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है कि प्राण-अपान की साधना के लिये किया गया गुरुमंत्र तो उन्हीं के लिये लाभदायक होगा, जिन्हें कि यह गुरुदेव द्वारा दिया गया है, लेकिन महामंत्र खुला रखा गया है और इसी कारण इसका जाप करने वाले पर गुरुकृपा स्वतः होने लगेगी। इस वार्तालाप से निष्कर्ष यह निकलता है कि वही साधना सफल होती है जो कि किसी ब्रह्मनिष्ठ पुरुष की कपा से प्राप्त हो। इसलिये जो लोग महामंत्र का जाप करेंगे वे तो परमसिद्धि को प्राप्त होंगे और जो किसी अधूरे गुरु से गुरुमंत्र लेंगे वे कभी मंजिल पर नहीं पहुंच सकेंगे; क्योंकि वह उन्हें किसी सिद्ध पुरुष से प्राप्त नहीं हुआ । वास्तव में दीक्षा का अर्थ किसी मंत्र-विशेष को प्राप्त करना नहीं है, न ही किसी साधना पद्धति को । दीक्षा का अर्थ है ईश्वर-कृपा- चाहे वह किसी भी साधनापद्धति के रूप में प्रकट हुई हो। वही युक्ति सफल होगी जो कि आत्मरूप गुरु से प्राप्त होती है। महामंत्र के द्वारा गुरुकृपा सर्वसंसार पर हुई है। इसीलिये यह मंत्र साधारण मंत्र न होकर 'महामंत्र' कहा गया है।

जो स्वयं सिमट जाता है उसकी कीर्ति दुनिया फैलाने लगती है। गुरुदेव की भी यही स्थिति थी। शाहपुरकण्डी में आप एकान्त में तपस्या कर रहे थे, लेकिन आपके तप की चर्चा नित्य ही फैल रही थी। यदि शाहपुरकण्डी के लोगों को भूत-प्रेत का भय न होता तो लोगों की भीड़ किले में उमड़ आती। लोग गुरुदेव के दर्शन तो करना चाहते थे, लेकिन उनके पास आने से डरते थे। गाँव के कुछ समझदार लोग किले में आये और प्रार्थना करने लगे कि वे स्वयं ही गाँव में पधारें। गुरुदेव ने कृपा करके गाँव में जाकर उपदेश दिया और अन्धविश्वास त्यागने की हिदायत दी। हमारे गाँवों में भूत-प्रेत सम्बन्धी विश्वास इतने व्यापक रूप में फैले थे कि गुरुदेव को समताविलास में इस विषय पर एक स्वतन्त्र अध्याय लिखने की ज़रूरत महसूस हुई।

उस इलाके में हिन्दू और मुसलमानों के बीच भी मनमुटाव बना हुआ था। मुसलमान प्रेमियों की प्रार्थना पर गुरुदेव स्वयं मस्जिद में गये और उपदेश दिया

जिसके फलस्वरूप घृणा के भावों में कमी आई। वहाँ इकट्ठे हुये हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख लोगों को जो आपने उपदेश दिया, उसका सार इस प्रकार है:

एक ही वाहिद[१] जात का ज़हूर[२] यह सब दुनिया है। समय-समय वली-अल्लाह लोग इस तब्दील होने वाली दुनिया में आकर अपना अमली ज़िन्दगी द्वारा भूली भटकी रूहों को सच्चाई का रास्ता दिखाया करते हैं। उनके फ़रमाये हए नेक उसूल ही बाद में रिवाज की सूरत अख्तियार कर लिया करते हैं। जिस्म के ज़ाहरी भेसों के धारण करने में इस जीव को निजात नहीं है। जनेऊ पहनना, धोती लगाना, तिलक लगाना, रुण्डमुण्ड रहना, केश या जटा धारण करना, तस्बीह के दानों की माला बनाकर धारण करना, कानों में कुण्डल डालना-और भी कई प्रकार के भेस बनाकर फिरना धर्म या ईमान नहीं है ! राहत-ए-अबदी (नित्य आनन्द) तो उनके सत् उसूलों को धारण करने में है। नेक उसूलों को धारण करने वाली रूहों यानी जीवों के अन्दर तास्सुब[३] नाम को भी नहीं होता। जहाँ तास्सुब होता है वहाँ खुदा की बंदगी यानी ईश्वरभक्ति हुआ ही नहीं करती। जीव महज़ अपनी-अपनी खुदग़र्जी को पूरा करने में लगे रहते हैं। जब यह खुदग़र्जी पूरी होती दिखाई नहीं देती, तब ये आपस में लड़ते झगड़ते हैं। यह ही दुनिया का चक्कर है। तमाम मज़ाहिब (धर्मों) के रहनुमा दो रास्तों की हिदायत करते आये हैं-एक लाग़ज़ फ़ेल यानी निष्काम कर्म का; दूसरा जात-ए-आला का तस्सवुर। एक परमात्मा की आज्ञा यानी रज़ा में समय व्यतीत करना है, दूसरा है हालते बेख्वाहिशी प्राप्त करना खुदी से निजात पाने के लिये। ये दो रास्ते ही सभी बंदगान-ए-खुदा के रास्ते हैं। जब खुदी (अहंकार) रियाज़त यानी तप करते-करते खत्म हो जाती है तब आप ही खुदा यानी मालिक हो जाता है :

---

१. एक २. लीला ३. धर्मान्धता।

मन तू शुदम तू मन शुदी
मन तन शुदम तब जाँ शुदी
ताकस न गोयद बाद अज़ीं
मन दीगरम तू दीगरी।
मैं तू हो गया, तू मैं हो गया
मैं तन हो गया, तू जान हो गया
ताकि बाद में कोई यह न कहे
मैं और हूँ, तू और है।

खुदावंद आप सब को यक़ीन-ए-पाक बख्शे।

इस इलाके के ब्राह्मणों ने अपना अलग पाखण्ड फैला रखा था। महाजनों और वैश्यों से दान-दक्षिणा लेने में तो उन्हें कोई आपत्ति न थी-वही उनकी जीविका थी, लेकिन उनके हाथ की बनी रसोई वे ग्रहण न करते थे। जब भी किसी वैश्य या महाजन के घर से आमन्त्रण मिलता तो ब्राह्मण लोग पहले तो उनकी रसोई को पवित्र करते, फिर अपने हाथ से रसोई पकाते। उस समय किसी महाजन को रसोई में प्रवेश करने की इजाजत न थी। अपने ही घर में वे बेघर हए भटकते रहते थे। जब रसोई तैयार हो जाती तो पहले शुद्ध की हुई भमि पर ब्राह्मणों की पंक्ति बैठती। जब ब्राह्मण ब्रह्मभोज से तृप्त हो जाते तब वैश्यों और महाजनों के हवाले रसोई की जाती थी। इस पाखण्डजाल को देखकर गुरुदेव ने ब्राह्मणों को अच्छी खासी डाँट पिलाई। कहने लगे, "यह क्या स्वांग बनाया हुआ है ? उनके घर की सब चीजें भी ले लो ! रुपया-पैसा और दक्षिणा भी ले लो ! और उनके हाथ की बनी रोटी न खाओ ! ये कैसे-कैसे बन्धन ब्राह्मणों ने डाल रखे हैं ! अभी तक इनका राज उसी तरह चला आता है। कोई भी इनकी नीति को नहीं तोड़ सकता ! कितने सन्त भी जोर लगा गये, लेकिन यह अछूतपना (छूआछूत) जाता ही नहीं। अब राज का डण्डा ही ठीक करेगा।"

ये वचन सुनकर एक पण्डितजी बोले, "महाराजजी, यह पुरानी रीति चली आ रही है। न हम खुद तोड़ने की कोशिश करते हैं न ही यह वहम निकलने में आता है। आप जैसे सन्तों की कृपा से ही यह अन्धकार दूर हो सकता है। आपके तेज के आगे हम इन्कार नहीं कर सकते ! क्या मजाल यहाँ कोई बोल पाये ?"

गुरुदेव कहने लगे, "प्रेमियों, सबके साथ प्रेमभाव पैदा करने की कोशिश करो। किसी को अछूत न समझो। यह वैरभाव क्या-क्या तबाही लावेगा। ईश्वर ही सबको सुमति देवें।"

जब महाजनों और वैश्यों के साथ ऐसा व्यवहार किया जाता था, तो हरिजनों की क्या स्थिति रही होगी ? फरवरी सन् १९४२ में जब आप शाहपुरकण्डा फिर पधारे तो एक ब्राह्मण प्रेमी ने पूछा, "महाराजजी, हरिजनों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ? हम लोग उनसे दान तो ले लेते हैं, लेकिन विवाह शादियों में उनके यहाँ नहीं जाते।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "प्रेमी, इसी बात ने इस देश का बेड़ा डुबो दिया है। जो भी बाहर के देश से आते हैं वे इस जगह के मालिक बन जाते हैं। वे हरिजनों को अपने में मिलाते जा रहे हैं हम धिक्कारते जा रहे हैं। बेटी-रोटी का सम्बन्ध यदि नहीं रखना चाहते तो भले न रखो, लेकिन मंत्र पढ़ने में तुम्हारा क्या जाता है ?"

तब एक प्रेमी बोले, "महाराजजी, आज एक विवाह हो रहा है। हरिजनों ने विवाह-संस्कार के लिये हमें बुलाया है, परन्तु हमारे बुजुर्ग हमें जाने नहीं देते। आप हमें आज्ञा दें कि क्या करें ? वे कहते हैं कि यदि तुम लोग नहीं आओगे तो हम मुल्ला-काजी को बुलाकर विवाह कर देंगे। हमें क्या करना चाहिये ?"

गुरुदेव ने कहा, "प्रेमी, एक मिनट की भी देरी न करो। किसी की न सुनो ! विवाह कराके उनसे कोई दान-दक्षिणा न लो। निष्काम भाव से सेवा करो। आपस में प्रेम बनाये रखो । जो बिल्कुल शुद्ध भावना वाले हैं, राम-कृष्ण का नाम लेने वाले हैं-तुमने उनको अलग कर रखा है ! यह कहाँ की नीति है ?"

आपके इन वचनों को सुनकर दो ब्राह्मण युवक हरिजनों की बस्ती में गये। वहाँ जाकर पता चला कि उन्होंने कहीं और जगह से पण्डित बुलाकर विवाह संस्कार करा लिया है। इन युवकों ने गुरुदेव से हुई अपनी बातचीत की चर्चा उन हरिजनों से की । वे इससे बहुत प्रभावित हुए और दूसरे दिन बड़ी संख्या में आपके दर्शन करने के लिये आये । उनमें से एक ने कहा, "महाराजजी, हमारा क्या कसूर है जो कि आप लोग हमें पास भी बिठाना नहीं चाहते ? क्या हम राम-कृष्ण का नाम नहीं लेते ? आज तक हिन्दू जाति की जितनी रक्षा हरिजनों ने की है, उतनी बड़ी जात वालों ने नहीं की। जब गुरु गोविन्दसिंह ने पाँच प्यारे बनाये थे तो उनमें कितने बड़ी जात वाले थे ?"

गुरुदेव ने वहाँ बैठे पण्डितों से कहा, "सुन रहे हो ? जवाब दो ! ..प्रेमियों, अब जमाना रोशनी का है ! कुछ अंग्रेजों ने कृपा की और बहुत-सा झमेला साफ़ कर दिया; कुछ गांधी बाबा भी मरणव्रत रखकर आपस में मिला रहे हैं। यह पकिस्तान वाला झगड़ा जो जिन्नाह ने खड़ा किया है-यह भी कुछ अक्ल ठिकाने लायेगा। इनको तसल्ली दो ताकि ये लोग आराम से समय काट सकें ।'

वहाँ उपस्थित पण्डित दीनानाथ ने उन सबको आश्वासन दिया कि फिर कभी उन्हें इस प्रकार की शिकायत का अवसर नहीं आयेगा। इतना सुनकर वे प्रसन्न होकर चले गये । हरिजनों के चले जाने के बाद आपने ब्राह्मणों से कहा, "कितना भयानक समय आ रहा है ! जो बन्धन तुम लोगों ने डाल रखे हैं वे कहाँ कोई प्रेम-सम्बन्ध बनने देंगे! ये लोग असल में सेवादार हैं । जो तुम लोग

गुरु बनकर हलवे-माण्डे खा रहे हो, तो इन्हीं के सिर पर ! तुम लोगों को गुरु इसलिये बनाया गया था कि सत् और असत् का निर्णय करो और उसे क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों को समझाओ। तुम लोगों को तो तप में समय बिताना चाहिये ! "रक्षा करने वाले क्षत्री (क्षत्रिय) थे, धन से सेवा करने वाले महाजन लोग थे, छोटा-मोटा कारज (कार्य) करने वाले ये हरिजन हैं। पाँव जो हर समय अच्छी-गंदी जगह पर चलने वाले हैं हरिजनों के समान हैं। क्या इन्हें अलग कर सकते हो? तुम लोग तो महाजनों को भी घृणा करते हो ! पण्डितजी, अब वह जमाना नहीं रहा। आँखें खोलो ! सबको मिलाने वाला पाठ पढ़ाओ! ईश्वर आपको निर्मल बुद्धि बख्शे !"

उस दिन पण्डितों ने आपसे क्षमा माँगी और आगे से अपने को सुधारने का प्रण लिया।

●

अध्याय- १०

श्मशान में अमृतनिर्झर

गुरुदेव अब निरन्तर विचरते ही रहते थे। जहाँ भी ठहरते वहाँ अपनी स्थायी याद छोड़ जाते थे लेकिन स्वयम् कहीं भी स्थायी रूप में न रहते थे। वर्ष भर भ्रमण करने के बाद केवल यज्ञ के लिये गंगोठियाँ आते थे। यज्ञ के दिनों वह छोटा-सा गाँव आबाद हो जाता था। प्रेमियों के लिए वह भूमि तीर्थ स्थान थी, परन्तु गुरुदेव का उससे कोई लगाव न था। यज्ञ के दिनों जब गाँव में चहल-पहल होती थी, गुरुदेव अपनी रातें वीराने में काटा करते थे। यदि कोई प्रेमी गुरुदेव को एक स्थान पर तप करते देख लेता तो वे दूसरी रात किसी दूसरे स्थान पर आसन जमा लेते। "तुम पत्थरपूज लोग हो। कल को उस स्थान की ही पूजा करने लग जाओगे।" जगह को बदलने का कारण बताते हुए एक बार उन्होंने कहा था।

शाहपुरकण्डी छोड़ने के बाद भी आपकी यात्रा का क्रम पहले ही की तरह चलता रहा। लाहौर, गंगोठियाँ, कोहाला और चिनारी होते हुए आप गोपीतीर्थ पधारे। यह स्थान श्रीनगर से सात मील दूर स्थित है। यहाँ पर रहकर आपने ढाई मास तक तपस्या की। इस तप में ठाकुर दीवानसिंह आपकी सेवा में उपस्थित थे। बाद में ठाकुरजी बटवारे की साम्प्रदायिक आग में होम हो गए। अत: उस तप के सम्बन्ध में कोई विस्तृत ब्यौरा उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य उल्लेखनीय है कि "अथ भक्तिमार्ग प्रसंग" इसी तप के दिनों प्रकट हुआ था।

इसे श्री मणिराम कोहाला निवासी ने लिपिबद्ध किया था।

सन् १९४१ के सम्मेलन के बाद गुरुदेव ने थट्टा नामक स्थान में जाने का निश्चय किया। यह शहर जिला कैम्बलपुर में सिन्धु नदी से कुछ मील दूर बसा हुआ था। थट्टा से एक वृद्ध प्रेमी ने गुरुदेव को पत्र लिखकर अपना भक्तिभाव व्यक्त किया था। यह प्रेमी रोगी थे और यात्रा करने में असमर्थ थे। इन्होंने गुरुदेव के दर्शन तो अभी तक न किए थे-केवल उनके सम्बन्ध में सुन रखा था। पत्र में प्रार्थना की थी कि गुरुदेव थट्टा पधारने का कष्ट करें। सम्मेलन के बाद गुरुदेव ने प्रेमी की इच्छा पूरी करने की कृपा की। आप ७ नवम्बर सन् १९४१ को शाम के पाँच बजे के लगभग थट्टा पहुँचे। भगत बनारसी दास साथ थे। बाजार बन्द हो चुका था। सड़कें वीरान-सी पड़ी थीं। बड़े-बड़े किले के आकार वाले मकान दिखाई दे रहे थे, लेकिन आदमी जाने कहाँ जा छिपे थे ! इन मकानों के द्वारों पर गोरखा लोग बन्दूकें लेकर पहरा दे रहे थे। शहर के पास ही कबाइली इलाक़ा पड़ता था। दिन-दहाड़े भी डाके पड़ते थे-हत्याएँ-क़त्ल हो जाते थे। साँझ के बाद कोई घर से बाहर न निकलता था। शहर में रेशमी और सूती लुंगियों की मण्डी थी।

यह सब जानकारी तो भगतजी को बाद में मिली। अभी तक तो शहर की नीरवता उन्हें हैरान कर रही थी। शहर पहुंचकर गुरुदेव ने उन्हें प्रेमी का घर खोजने की आज्ञा दी। प्रेमी का नाम चाणनशाह था। संग्रहणी के रोग से पीड़ित थे। भगतजी के आने पर घर से निकल पड़े और पैदल चलकर गुरुचरणों में हाज़िर हुए। प्रार्थना करने लगे कि गुरुदेव रात-भर उनके घर पर ही रहें, कल वह तप के लिए कोई उपयुक्त स्थान का प्रबन्ध करेंगे। रास्ते में चाणनशाह थट्टा शहर की अरक्षित स्थिति की चर्चा करने लगे। उनकी बातें सुनकर गुरुदेव कहने लगे, "प्रभु हर जगह हर जीव का रक्षक है। हर जीव कोई न कोई साधन अपने सुख और बचाव का बनाकर ही रहता है। डर की बात न करो। हर जगह मेरा मालिक रक्षा करता है।"

उस रात दो बजे गुरुदेव ने भगतजी को जगाकर साथ चलने की आज्ञा दी। घर के दरवाजे बहुत बड़े आकार के थे। वे सब बड़े-बड़े कुण्डों और जन्जीरों से बन्द थे। भगतजी ने दरवाजा खोला। दरवाजा ऊँची आवाज करता हुआ खुला। आवाज़ सुनकर चाणनशाह जी जाग गये। देखकर हरान रह गए कि उस कृष्णरात्रि में गुरुदेव और भगतजी बाहर जा रहे हैं। लेकिन गुरुदेव के मौन तेज के आगे उनकी क्या चलती ? उन्होंने द्वार बन्द कर दिया। बाहर घना अन्धकार फैला था। सारे शहर पर वीरान-बीयाबान का-सा मौन छाया हुआ था। उस गहन अन्धकार में गुरुदेव अपनी स्वाभाविक तेज चाल से चले जा रहे थे और पीछे भगतजी हाथ में लोटा और अंगोछा लिए किसी प्रकार उनका अनुकरण कर रहे थे। थोड़ी ही देर में वे नगरी की सीमा को पार कर गये। अन्धकार में मिट्टी के टिब्बों की काली आकृतियाँ दिखाई दे रहीं थीं। कहीं झाड़ियाँ थीं और कहीं मिट्टी-पत्थरों के ढेर–अन्धकार की काली चादर ओढ़े हुए। एक निर्जन स्थान में गुरुदेव ने अपना आसन बिछवा कर भगतजी को वापस जाने की आज्ञा दी। भगतजी ने अनेक रातें बीयाबानों और घने जंगलों में काटी थीं। लेकिन इन्सानी पशु का डर अलग ही तरह का होता है। रास्ते में अनेक प्रकार के विचार आने लगे। परन्तु भगतजी का मन मजबूत हो चुका था। घर में चाणनशाह अभी तक जाग रहे थे। उनकी हैरत का कहीं अन्त न था। समझ ही न पा रहे थे कि किस प्रकार कोई मनुष्य अपने जीवन से इस कदर बेपरवाह हो सकता है ? चाणनशाह तो एक ही दिन में सदा के दास बन गए। दूसरे दिन सुबह भगतजी के साथ गुरुदेव के पास पहुँचे। चाणनशाह उस जगह गुरुदेव को देखकर हैरान हो रहे थे, लेकिन गुरुदेव उस जगह के एकान्त को देखकर प्रसन्न हो रहे थे। मगर वह स्थान एकान्त होने पर भी तपोनुकूल न था। दिन में वहाँ तालाब में लोगों का आना-जाना लगा रहता था। इसलिए किसी और स्थान की खोज होने लगी, लेकिन आस पास कोई उपयुक्त जगह न मिली।

दो दिन बाद गुरुदेव ने तपोभूमि की खोज में सिन्धु नदी की ओर प्रस्थान

किया। रास्ते में बारह मील के अन्तर पर नारासगरी नामक कसबा पड़ता था। उसके आगे घना जंगल शुरू हो जाता था। सगरी में गुरुदेव घोड़े पर सवार होकर आगे निकल गये। उनके साथ कोहाला के एक प्रेमी रामचंद्र भी थे। भगतजी पीछे रह गये। आगे दो रास्ते दिखाई दिये। कुछ सोचकर भगतजी ने एक रास्ता पकड़ लिया। कुछ दूर चले तो एक गाँव दिखाई दिया। गाँव में पहुँचकर सिन्धु नदी का रास्ता पूछने लगे। लेकिन कोई भी उनकी बात न समझ पा रहा था। न ही भगतजी को उनकी भाषा समझ में आ रही था। भगतजी का माथा ठनका। उलटे पैर लौट आए और उसी जगह पर पहुचे जहाँ पर दो रास्ते शुरू होते थे। उधर प्रेमी रामचन्द्र भी उनकी खोज में उसी स्थान पर लौट आये। जिन लोगों के आतंक से सारा थट्टा शहर काँपता था, भगतजी उन्हीं के गाँव हो आये थे। खतरा टल जाने पर उन्हें अपनी परिस्थिति का ज्ञान हुआ। एक बार तो उनके पसीने छूट गये।

थोड़ी देर में जंगल पार करके वे एक पहाड की चोटी, जहाँ तीन कमरे बने थे, पर पहुँचे। नीचे सिन्धु नदी की धारा बह रही थी। नदी के पार पर्वतों की श्रृंखलायें दूर-दूर तक फैली हई थीं। नदी के इस पार कहीं पहाड़ थे, कहीं मदान। आस-पास कोई आबादी न थी। सारा भूदृश्य अपनी अनुपम शोभा से आँखों को तृप्ति प्रदान कर रहा था। कमरे यात्रियों के लिए बनाये गये थे। पूर्णिमा, अमावस्या और संक्रान्ति के दिन हिन्दू लोग यहाँ आकर स्नान करते थे। पुरातन सत्पुरुषों ने ठीक ही इस स्थान को तीर्थ घोषित किया था।

एक कमरे में एक वैरागी रहता था। कड़ा कलेजा रखकर ही उस निर्जन स्थान में रहता होगा। जब गुरुदेव वहाँ पहुँचे तो वैरागी बाबा भोजन बना रहे थे। उन्होंने किसी से कोई बात करने की तकलीफ़ न उठाई। खा-पीकर सगरी की ओर चल दिये। प्रेमी भी खाना पकाने लगे। उधर गुरुदेव कुछ लिखने लग गये। पाँच मिनट में उन्होंने प्रेमियों के सामने एक काग़ज़ फेंका, जिस पर लिखा था:

तूँ बे-अन्त परमेश्वर मेरा, नित जाऊँ बलिहार।
अचरज कौतुक जगत का रचया, सत क़ादिर करतार॥

कुदरत देखी तेरी क़ादिर, जल थल तू भरपूर।
देख देख तृप्त चित्त भया, मनसा भई काफूर॥

अन्तर सबके परगट स्वामी, नहीं रूप वरण आकार।
जाँ पर किरपा तेरी होवे, सो सिमरे सचियारा॥

नदियाँ नीर चले असगाह, अत ही वेग को धारी।
कोट वरख यह खेल खलन्ता, तू साहिब बनवारी॥

घाट न पावे महिमा तेरी, सत् ठाकुर सुख देवा।
जल थल अन्दर पूर समाया, तू देवन का देवा॥

तपन बुझावें शीतल करें, रूप धार उपकारी।
एह विध जीवन जग में पावे, ज्यों नदी नीर वरतारी॥

अपना आप त्याग करें, तूं परसुख देवन ताईं।
धड़ रमावें जगत की, तब परसें सुख थाईं॥

सेवक रूप हो विचरें जग में, सब का हेत लखाएँ।
तीरथ रूप तू ही जग आया, सब ही सेव कमाएँ॥

पलक घड़ी का खेल है मीता, खोज जीवन सुखरासी।
पर उपकार मारग को सोधो, सब भरमन मिटे चौरासी॥

सतगुरु सेव साध की संगत, साचा नाम विचारो।
तन मन धन तीनों को अर्पो, पर की सेवा धारो॥

औगुणकारी मनुआँ धोइयो, निमख-निमख पल सार।
परमारथ परतीत में, तन मन दीजो वार॥

मानुषजनम अमोलक जग में, नित खोजो कल्यान।
अन्त काल सब भये विछोड़ा, जब होवें धूड़ समान॥

उठत बैठत भज गोविन्दा, सत शरधा चित्त लाये।
निर्मल उधम यह जग माहीं, संत वेद बतलाये॥

पर उपकार तीरथको परसो, प्रेम नीर से नहाई ।
जनमजनम की तपन विनासी, मारग गुरु दिखलाई ॥
साचा तीरथ पर की सेवा, निष्कामभावो चित्तधारी ।
'मंगत' जिस जन जुगत कमाई, तिस चरण बलिहारी ॥

प्रेमियों ने जब यह वाणी पढ़ ली तो गुरुदेव कहने लगे, "प्रेमियों, यह शब्द इस जगह के लिए काफ़ी हैं। बाक़ी अब दूसरी जगह लेखा बाहर आवेगा। इस जगह के स्नान हो गए हैं। हमारे ठहरने से वैरागी खुश नहीं है। केवल एकान्त को ही नहीं देखना और भी हालात देखने हैं। अच्छा, जो ईश्वराज्ञा ! अब थट्टा पहुंचकर ही विचार होगा ।"

थट्टा वापस पहुंचकर आपने श्मशान भमि में ही तप आरम्भ कर दिया। प्रथम मार्गशीर्ष संवत् १९९८ की रात्रि थी। एक बज चुका था। सारा भूदृश्य अन्धकार में खोया हुआ था। प्रत्येक आवाज़ बन्द हो चुकी थी। गुरुदेव ने श्मशान पर उस समय पहुँचकर भगतजी को जल लाने की आज्ञा दी । जल श्मशान से कुछ दूर एक ऐसी भयानक जगह पर था जहाँ दिन में भी लोग आने से डरते थे। एक गुफ़ा-सी थी। उसके अन्दर काफ़ी दूर जाकर पानी मिलता था। भगतजी उस भयंकर गुफा से रात के एक बजे पानी लाये। हाथ मुँह, धोकर उस श्मशान भूमि में एक लालटेन की रोशनी में वाणी लिखने बैठे। आशीर्वाद की भीख माँगी, चरणामृत का पान किया। गुरुदेव ने आज्ञा दी, "प्रेमी, ऊपर महामंत्र लिखो। फिर 'सत्गुरु प्रसाद अमृत' लिखो। यही सत्पुरुषों का प्रसाद है जो जुगा-जुग (युग-युगान्तर) तक चलता रहता है। इससे ही बेख्वाहिशी (निष्काम) हालत पैदा होती है। यानी सँसारी भोगों से जीव उपराम होता चला जाता है।.. प्रभु ने तुमको लिखने का भाग्य बख्शा है। लिखकर समझो भी और अमल भी करो।"
गुरुदेव ने प्रथम यह दोहा उच्चारण किया :

समता अखण्ड शान्ति, कुल विघन दोख से न्यार।
'मंगत' रूप नारायण का, तत्त समता विचार॥

फिर 'नादविवेक' का प्रसंग आरम्भ किया। कहने लगे, "जब उन्नीस पद हो जायें तो एकदम 'दोहा' बोल दिया करो।" भगतजी ने लिखना आरम्भ किया। आगे वे कहते हैं : "सर्दी बहुत अधिक थी। हर मिनट के बाद लैम्प पर हाथ गर्म करने पड़ते थे। पूरे दो बजे वाणी का प्रवाह आरम्भ हआ। महाराज जी सुबह छः बजे सूर्योदय तक एक ही आसन पर बैठे रहे। दास को भी केवल दो-तीन बार ही आसन बदलने का अवसर मिला। नींद भी जैसे उड़ गई थी। सुबह पाँच बजे के बाद ही उसका ध्यान आया। वाणी सोते की अगाध धारा की तरह बाहर आ रही थी। कोई भी मानवीय शक्ति उस आत्मतत्त्व को इस तरह प्रकट नहीं कर सकती। उस समय मन ही मन अपने ऊँचे भाग्य की सराहना कर रहा था। सोच रहा था : दीनदयाल तेरी अपार कृपा है जो कि अपने चरणों में स्थान देकर इस प्रकार सेवा ले रहे हैं।"

उधर वाणी की धारा बह रही थी :

तृखा मिटी संसार की, परम शाँत घर पाई।
'मंगत' अबगत नाद को, कोई बिरला गुणी ध्याई॥

आलख नाद सरूप बिशम्भर। पवन पावक धारे नीर और अम्बर।
धरत परकाश कर खेल रचाई। पँज भूत की कला बनाईं॥
सरव के भीतर आप परगासी। चेतन पुरख परम सुखरासी।
सरव जियाँ को करे प्रतिपाला। अजर पुरख जय सिरी गोपाला॥
अपनी महिमा आप बिस्तारी। अपना कौतक आपे धारी।
अपनी लीला आप ही देखें। गुण माया का चक्कर परेखे॥
जाननहार सो ही इक देवा। पल पल कीजे रे मन सेवा॥
माया देख न भर में भूल। भज करतार जगत का मूल॥

नाद विचार सकल भ्रम नासे । दृढ निश्चा परसे सुखरासे ॥
भरम विकार चक्कर संसार । नाद धियाये उतरे पार ॥
खाज खोज के जानी सार । अवगत नाद सरन आधार ॥
अपनी शकत आप बिस्तारी। पुरण पुरख चरण बलिहारी ॥
तेज पुंज अत जोत अपारा । नाद सरुप आलख निरंकारा ॥
सत सोझी मारग की पाओ। परम पुरख के चरण ध्याओ।

मन के दोख उतरें नहीं मीता। बिन सत ज्ञान नहीं होयें पूनीता ॥
इक परमेश्वर निश्चय धार । अन्तर बाहिर करो विचार ॥
माया झूट केवल सत नाद । भाओ भगत से नित आराध ॥
नाम रूप गुण करम संसार । खप खप मरे जीव अन्धियार ॥
सत कीरत इक नाद धियाई । भरमन त्याग सतरूप समाई ॥

साधन सार है जगत में, अबगत नाद विवेक ।
'मंगत' सत परतीत से, गुरमुख राखे टेक ॥

सुबह छः बजे वाणी का प्रवाह रुका। गुरुदेव ने आँखें खोली, कहने लगे, "सूरज देवता का पहरा शुरू हो गया है। स्नानादि कर लो। फिर इसे सुनाओ।" भगतजी की इच्छा थी कि गुरुदेव सोने की आज्ञा दे दें। लेकिन तालाब का ठण्डा पानी पड़ते ही हड्डी-हड्डी हिल गई। नींद का प्रभाव जाता रहा। श्री चरणों में बैठकर वाणी को पढ़ने लगे। जब पढ़ चुके तो गुरुदेव ने पूछा :

गुरुदेव : प्रेमी क्या लिखा-पढ़ा है ?

प्रेमी : महाराजजी, नाद स्वरूप शब्द की महिमा है, जिस करके यह सब कुछ दिखाई दे रहा है। इसी की खोज सब देवी-देवता, ऋषि, मुनि करते आये हैं । सबके अन्दर यही ज्योति प्रकाश कर रही है। लेकिन ऐसा

भ्रम पड़ा हुआ है कि उस परमानन्दमयी हालत को न तो समझ सकते हैं और न ही उस ओर जाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा मोह-माया का जाल है।

गुरुदेव : प्रेमी, पहले इस बात का पता लगे कि वह क्या वस्तु है जो नजर नहीं आती लेकिन जिस करके संसार का सब चक्कर चल रहा है। पहले बुद्धि द्वारा विचारना है, फिर दृढ़ होकर उसके बोध के लिये अधिक से अधिक यत्न करना है। इस माया के बन्धन से छुटकारा पाना कोई आसान थोड़े ही है ! लेकिन आसान भी है। जो प्रभु-शरणागत हो गये वे जल्दी ही छुटकारा पा गये। सत्पुरुषों के मिलाप से ही सत् की कीर्ति का पता लगता है, और फिर दृढ़ विश्वास से सत् यत्न द्वारा परमलाभ प्राप्त होता है। आहिस्ता-आहिस्ता कोशिश करो। छलांग न मारो।"

गुरुदेव के रात और दिन इस श्मशान भूमि में ही कटने लगे। केवल शाम को वे शहर में जाकर सत्संग किया करते थे। भगतजी भी दिन में वहीं बिखरी हड्डियों पर ही सो जाते थे-रात तो उनकी वाणी को लिपिबद्ध करने में व्यतीत हो जाती थी। दूसरे दिन शाम के तीन बजे भगतजी जब सोकर उठे तो क्या देखते हैं कि उस निर्जन श्मशान में कुछ लोग चले आ रहे हैं। पीछे-पीछे एक अरथी आ रही थी। शव की अन्तिम क्रिया करने के बाद सबने स्नान किया और गुरुदेव के पास आकर बैठने लगे। एक प्रेमी समदर्शनयोग से वाणीपाठ करने लगे :

रलमिल संङ्गत गाइयो, साचा नाम करतार।
खबर नहीं किस पलक में, यह तन होवे छार॥
सुन्दर जग को देख के, चित्त को मत ललचाये।
सिम्बल फूल समान है, भोगन से पछताये॥

चार दिन की चाँदनी, ओढ़क होए अन्धकार।
खिज़ाँ तो सिर पर है खड़ी, मत भूलो देख बहार॥

दीरघ ऊँचा होइया, जैसे पेड़ खजूर।
करो पहचान उस वक्त की, जब काल करे सिर चूर॥

धन जोबन को पाए के, गहरा करें अभिमान।
छिन में भई विनाश सब, उड़ गई धूड़ समान॥

जिस दर बैठ बैजन्तरी, नित गायें छत्तीसों राग।
सो दर सूने हैं पड़े, बोले वहाँ पर काग॥

अपनी अपनी ग़रज़ से, बहुते बन गये साथ।
चला अकेला अन्त को, खाली लेके हाथ॥

साचा साहिब विसारिया, जग का हूआ ढोर।
करे मज़दूरी निस दिन, बिना दाम के मूढ़।

पलक-पलक दम जा रहा, तीन लोक जाँ मूल।
साच न चित्त में पाया, औध गँवाई भूल॥

लोक कटुम्ब न संग चले, माल धन इक़बाल।
चले निमाना जगत से, जब आन पछाड़े काल॥

सत सरूप पहचान कर, करम विलक्खन त्याग।
ऐसा समाँ न पायेंगा, उठ भरम की नींद से जाग॥

झूठ भरम को छेद के, सत की राखो ओट।
'मंगत' कहे समझाय के, ना पाये काल की चोट।

वाणीपाठ के पश्चात् गुरुदेव बोले, "प्रेमियों, यह ही सबका ठिकाना है। चाहे कोई अमीर है, चाहे गरीब। जो भी संसार में राजा, राणा, ज्ञानी, अमीर, फ़कीर आया है उसकी यही अन्तिम गति है। यह जीव तृष्णा की आग में नित तप रहा है। जिस दुःख को लेकर आया था उसी दुःख को लेकर चला जाता है। दुःख के निवारण का उपाय हर जीव करता है। लेकिन फिर पहले से भी

अधिक अशान्ति पाता है। इस जीव को सबसे बड़ा रोग जन्म-मरण का लगा हुआ है। बिना सत् परतीत (सत-प्रतीति) के इस से खुलासी नहीं मिलती। जितना भी यत्न इस जीव का होता है सब अकार्थ (निरर्थक) चला जाता है। मानुषजन्म की उच्चता यह ही है कि जिन्दगी में ही अपने असली ठिकाने की खोज कर लेवे। तब इस दीर्घरोग से छुटकारा मिलता है। प्रारब्धकर्म अनुसार जीव को दुःख और सुख मिलता ही रहता है। फिर भी शुभ-अशुभ कर्म करके नये से नये फलों की माँग करता रहता है जो कि इसके लिये फिर आवागमन का कारण बनते हैं। जब तक सत्पुरुषों के कहने के मुताबिक़ जीव नहीं चलता तब तक इसे अशान्ति के जाल से छुटकारा नहीं मिलता। ईश्वर आप सबको सुमति देवे। यह दो घड़ी का वैराग्य शहर पहुंचने पर खत्म हो जायेगा। यह फ़क़ीर आपकी सेवा के लिये आये हैं। समय निकालकर सत्संग में आया करो।"

एक प्रेमी बोले, "इस ओर तो लोग दिन के समय भी नहीं आते। आज मजबूरी में आना पड़ गया है और आपके दर्शन हो गये।"

गुरुदेव : इधर आने का नाम न लो। अपने आप ही ये लोग कभी न कभी ले आयेंगे। यह जगह सबक (शिक्षा) देने वाली है। डरना किस बात से ? तुम लोग शरीर के पुजारी हो। प्रभुचरणों में प्रेम हो तो फिर इस तरफ़ आया जावे। तुम्हारे लिए हम शहर में ही ठहरे हुए हैं। सत्संग भी रात को होता है। समय निकाल कर वहाँ तो आ सकते हो ! खैर, तुम्हारी अपनी मर्जी !

उस रात जब गुरुदेव और भगतजी वापस श्मशान को लौटे तो एक बज चुका था। चिता की आग अब भी हल्के-हल्के जल रही थी। चारों ओर अन्धकार फैला था और सख्त सर्दी पड़ रही थी। भगतजी के हाथ बर्फ हो रहे थे। वाणी लिखने का कार्य आरम्भ होने जा रहा था। लेकिन हाथ अकड़ रहे थे। भगतजी

चिता के पास बैठकर अपने हाथ गर्म करने लगे। गुरुदेव के पुकारन पर बरामदे में पहुचें । बरामदा चारों तरफ़ से खुला था। ठण्डी हवा से कोई बचाव न देख भगतजी ने अपने-आपको अच्छी तरह कम्बल में लपेट लिया। गुरुदेव समाधिस्थ होकर 'नाद-उपासना' नामक वाणी का उच्चारण करने लगे। लगातार वाणी का बहाव चल रहा था। भगतजी को इतना भी समय न मिल रहा लालटेन पर हाथ गर्म कर लें। उस रात वे लगातार लिखते गये। आज उन्होंने बहुत कम खाया था । अतः नींद भी दूर ही रही। आज का प्रसंग योगसाधन से सम्बन्धित था। इसलिए सुबह इस साधना के सम्बन्ध में ही वार्तालाप हुआ। उस वार्तालाप का सार इस प्रकार है :

भगतजी : नाम जपते समय कई बार श्वास और नाम दोनों ही भूल जाते हैं।
मन अपने ही संकल्पों में खो जाता है। इसका यह खेल कब समाप्त होगा ?

गुरुदेव : सुरति[१] (बुद्धि) कैसे एकदम एकाग्र हो सकती है ? जन्म-जन्मान्तर से वासना को पूर्ण करने में लगी यह बुद्धि निर्वास होने की कोशिश ही नहीं करती ! बड़े भाग्य से गुरुमुख जीव को जुगति (युक्ति) प्राप्त होती है। जब तक इसमें चित्त न दे कैसे एक आधार पर आ सकती है ? हर समय नाक की नोक पर दृष्टि जमाकर आने-जाने वाले श्वास के साथ नाम उच्चारण करो। मुँह बिल्कुल बन्द रहे ! रीढ़ की हड्डी बिलकुल सीधी रहे । आसन ठीक तरह बिछाकर बैठना चाहिए। गर्दन बिल्कुल न झुकने पाये। गर्दन का झुकना ग़फ़लत की निशानी है। बाहर से दृष्टि हटाकर नासिका के अग्र भाग पर रखकर बार-बार श्वास और नाम में वृत्ति लगावे । गर्दन उस समय झुक जाती है जब अभ्यास के समय आलस, निद्रा आ घेरते हैं ।

---

१. सुरति शब्द का वास्तविक अर्थ है : 'अवधान'।

भगतजी : महाराजजी, आप भी तो किसी समय बिल्कूल झुक जाते हैं। बड़ी देर के बाद फिर सामान्य स्थिति में आते हैं।

गुरुदेव : प्रेमी, यह अवस्था और चीज है। यह जल्दी नहीं आती। यह ही निर्देह अवस्था है। जब सुरति बिल्कुल शरीर को भूल जाती है यानि पिण्ड को छोड़कर ब्रह्मण्ड में स्थित हो जाती है, तब आनन्द में मग्न होकर प्राकृत (प्राकृतिक) मण्डल से परे हो जाती है। उस समय ऐसा होता है।

भगतजी : (किसी प्रेमी का नाम लेकर) वह भी ऐसे ही करता है और कभी कभी गर्दन हिलाता है।

गुरुदेव : वह अपने साथ भी ठग्गी करता है और दूसरों को भी धोखा देता है। जब सुरति नाम और श्वास के आने-जाने को अच्छी तरह समझकर आ-जा रही है, और नाम उच्चारण कर रही है, तब झुकने का मतलब ही क्या है ? जब किसी समय भाग्य से बड़ी मेहनत करके नाद शब्द प्रकट होता है तब जाकर शरीर को भूलने वाली अवस्था आने लगती है । अभ्यास के समय चौकन्ने होकर, कमर सीधी रखकर होश से नाम उच्चारण करना चाहिए। न ज्यादा खाने वाले, न ज्यादा सोने वाले, न ज्यादा जागने वाले से ही यह यत्न पूरा होता है। जिसका खान-पान, चलना-फिरना, बैठना-सोना-यानी आहार, व्यवहार और संगत मर्यादा की है, वह इस परमसुख (रूप) समता शान्ति को कभी-न-कभी प्राप्त कर सकता है[1]।

---

१. तुलनीय :　　नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहार विहारस्य युक्तचेषस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
गीता ६-१६, १७

भगतजी : महाराजजी, कुछ प्रेमी सत्संगों में भी समाधि लगाकर बैठ जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी सुरति दसवें द्वार से भी आगे निकल गई है। इस सम्बन्ध में क्या मर्यादा है ?

गुरुदेव : प्रेमी, भरा हुआ घड़ा छलकता नहीं। थोड़े पानी वाला ही आवाज दिया करता है। यह सब दिखलावा है। सत्संग में बाहोश होकर निर्मान चित्त से बैठना चाहिए। भूलकर भी सत्संग में दिखलावे वाली बात नहीं करनी चाहिए। अभ्यास बिल्कुल गुप्त रूप में करना चाहिए। वर्षों बीत जायें लेकिन किसी को पता भी न चले कि यह क्या करता है।

भगतजी : महाराजजी, आप ही कृपा करेंगे तब ही इस मन की चंचलता समाप्त होगी। ऐसा करना तो हम लोगों के लिए बहुत कठिन है।

गुरुदेव : अल्लाह कहो न कहो, सूरज सेतीं सच्चा रहो।

भगतजी : महाराजजी, इसका क्या अर्थ है ?

गुरुदेव : प्रेमी, एक उच्च कोटी के महात्मा पुठवार के इलाका, चोहा भगताँ, में हुए हैं। उनका नाम था बाबा सूरज। अब भी उनका कुल भगतों का कुल कहलाता है। बाबा सूरज की सेवा में एक मुसलमान सेवादार दूध लाया करता था और उनकी खिदमत में ही रहता था। एक दिन कहने लगा, "साईंजी, मुझे भी अल्लाह वाला रास्ता बतायें।" तो उन्होंने कहा :

नाम शाहानी ज़ात अहीर, सूरज मिलिया सच्चा पीर।
अल्लाह कहो न कहो, सूरज सेतीं सच्चा रहो ॥[१]

---

१. दोहा पंजाबी में है। नाम शहानी है, जाति अहीर है। [तुम्हें] सच्चा गुरु सूरज मिला है।
अल्लाह को भले न याद करो। केवल सूरज के प्रति सच्चे रहो।

मतलब यह कि तुम अल्लाह को याद करो, न करो। जितनी देर हमारे पास रहते हो सच्चे दिल से रहा करो। तुम्हारी सच्चे दिल से की हुई खिदमत तुम्हें निज़ात बख्शेगी। तुम्हारी यह ही इबादत और बन्दगी है।

सच्चे जिज्ञासु को चाहिए कि मन, बचन और कर्म से गुरुभक्ति कमावे। उसका नाम शाहानी था। गायें चराने का काम करता था। और दूध बेचना उसका रोजगार (व्यवसाय) था। सच्चे गुरु उसे मिल गये थे। गुरुपरायणता का ही उसे उपदेश दिया। उसकी क़ौम के लोगों ने उसकी काफ़ी मुखाल्फ़त (विरोध) की। लेकिन वह आखिरी दम तक साबित क़दम रहा। आशिक हमेशा पक्के ही रहते हैं। ऐसी बातों से सबक़ (शिक्षा) लेना चाहिये।

भगतजी : महाराजजी, आप अत्यन्त दीन भाव के शब्द उच्चारण करते हैं। आपने तो परमस्थिति प्राप्त कर ली है। फिर भी आप फ़रमाते हैं :

ऐसी दात करो दातार। मांगनहार खड़ा दरबार॥
पुरण सेवा सबने पाई। तुद दरबार मांगन जो आई॥
अब की बारी तोड़ निभाओ। करूँ अरदास सुनो प्रभराओ॥
दया करो प्रभ अत किरपालू। साची भगति तेरे चरण दयालू॥

माँगूँ भगति दीख्या, तुद दर भया भिखारी।
'मंगत' तेरी दात से, नित जाऊँ बलिहारी॥

इतने दीनभाव के शब्द जिज्ञासु को उच्चारण करने चाहिए, न कि किसी सिद्धपुरुष को।

गुरुदेव : प्रेमी, इनका हिसाब-किताब खत्म है । यह सब तुम्हारे लिये ही बोला जा रहा है। जो प्रभुप्रेमी सत्मार्ग में विश्वास करने वाले होंगे वे सब हमारा ही रूप हैं। इस देववाणी को पढ़कर अपना आना-जाना बन्द करेंगे। इन शब्दों के द्वारा ही प्रेमी के अन्दर प्रेम पैदा होता है। परमपद प्राप्ति के बाद और भी निर्मान भाव प्रकट करना ही उचित है।

भगतजी : महाराजजी, यह नींद भी एक बड़ा भारी विकार है जिससे छुटकारा मिलता ही नहीं।

गुरुदेव : खाना, पीना, सोना, विषयविकार, पैदा होना, बढ़ना, जवान होना, कुबड़ा होना, फिर गिरना-सब ही जीव को दुःख देने वाले हैं। इनकी तब्दीली में अपनी तब्दीली मानकर जीव दुःखी-सुखी होता है। जब तक ज्ञान में प्रवेश नहीं करता, तब तक इस चक्कर में पड़ा ही रहता है। जब तक यह विचार नहीं आता कि यह शरीर क्या है ? यह कब से है ? इसमें कौन सी तब्दीलियाँ होती हैं और कैसे होती हैं ? इसमें बोलने वाला कौन है ? किस चीज़ के जानने से यह निर्विकार हो सकता है ? किस तत्त्व के जान लेने से इसे और कुछ जानने की जरूरत नहीं रहती-जब तक इन विचारों को बुद्धि विचार नहीं करती, तब तक सत्मार्ग में दृढ़ नहीं होती । सत्मार्ग में दृढ़ होने पर किसी समय जाकर सब विकारों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

उसी दिन आप जब शहर में सत्संग के लिए पहुंचे तो चाणनशाह ने प्रार्थना की :

प्रेमी : महाराजजी, हमको भी किसी रास्ते पर डालने की कृपा करें।

गुरुदेव : पहले जो कुछ कर रहे हैं क्या वह ठीक नहीं है ?

प्रेमी : महाराजजी, पहले क्या कर रहे हैं ? साल में एक बार कलगर स्थान पर जाकर प्रणाम कर आते हैं। वहाँ ग्रन्थ के दर्शन करने हों तो १०१) रुपये भेंट करने पड़ते हैं। जाने पुरातन गुरु क्या मर्यादा बना गये हैं ? पढ़ना तो दूर, दर्शन भी इस जुर्माने के बिना नहीं हो सकते। आप भी ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं। इसकी ऐसी मर्यादा स्थापित न कर जाना।

गुरुदेव : प्रेमी, यह विद्या खुली ही रहेगी। भेंट आदि के सम्बन्ध में सब नियम लिख दिये जायेंगे। इस तरह वाणी उच्चारण होगी जिस तरह रोज सत्संग में सुनते हो। बाकी आपके लिए यही भजन-बन्दगी है कि इस महामन्त्र को सुबह शाम अन्तर ही अन्तर जप लिया करो। ज्यादा बैठना आपसे बन नहीं सकता। कोई टेक (सहारा) लेकर जैसे भी हो समय पूरा कर लिया करो।

उस रात चाणनशाहजी के घर से रात के एक बजे चल दिये। श्मशान भूमि पर पहुंचकर गुरुदेव कहने लगे, "यह जगह भी कहाँ इन्तजार कर रही थी? किस क़दर शुन्न (शून्य) स्थान है। तुझे डर तो नहीं लगता ?"

भगतजी बोले "आपके निर्भय जीवन को देखकर ही दास नहीं डरता। वैसे रात के समय इस ओर अकेले आना तो अपने बस की बात नहीं।"

गुरुदेव बोले, "इनके सामने डर वाली बात न किया कर। सब अपने मलिन मन का ही डर होता है। तुम तो प्रभुचरणों में बैठे हुए हो। शुरू करो मालिक की मौज को।"

इतना कहते ही गुरुदेव ने 'निष्कामकर्म साधन' प्रसंग आरम्भ करवाया। सुबह पौने छः बजे तक आधा प्रसंग समाप्त हो गया। उस सुबह वाणी पढ़ते हुए भगतजी ने निष्काम कर्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया। इस पर गुरुदेव ने उत्तर दिया :

एक कर्म करके जीव बन्धन में पड़ता है, दूसरा कर्म उसे छुटकारा दिलाता है। जीव एक पल के लिए भी कर्म-क्रीड़ा से छूट नहीं पाता । मन में फल की आशा रखकर जो कर्म किया जाता है, उसे सकामकर्म कहते हैं । सकामकर्म ही उसे आवागमन के चक्कर में ले जाते हैं। बार-बार अनेक प्रकार के शरीर धारण करके कर्मफल को भोगता हुआ दुःख-सुख, राग-द्वेष से अशान्त रहता है। भाग्य से सत्पुरुषों की संगत द्वारा सोझी (सूझ) पाकर निष्काम कर्म के भेद को जानकर सत्मार्ग में दृढ़ होता है। इधर से वृत्ति को हटाकर उधर लगाना है। यानी जो भी कर्म इससे बन आवे, उसे ईश्वराज्ञा में समझते हुए फल की आशा से रहित होकर करे। तब बुद्धि निर्मल होते-होते सत्-तत्त (तत्त्व) को जानने लगेगी। असली निष्कामता उस समय आती है जब नाद स्वरूप परमेश्वर को अपने घट में प्रकट देखता है । तब उससे कोई सकामकर्म नहीं बन सकता। तब जीव निष्कामकर्म का ही स्वरूप हो जाता है। दुर्मति से सुमति प्राप्त होती है। आकारमयी बुद्धि निराकार में बदल जाती है। फिर उसके अन्दर किसकी इच्छा उठे ? जब सब में अपने-आपको देखने लगा तो होना, न होना प्रभु-आज्ञा में विचारने लगा। अब तू बता किस धारणा को मन में धारण करके सेवा कर रहा है ?

भगतजी : मैं आपका मतलब नहीं समझ पाया।

गुरुदेव : किस धन-दौलत, मान-बड़ाई और संसारी पदार्थों की इच्छा रखकर सेवा कर रहा है ?

भगतजी : महाराज जी, दास तो किसी दुनियावी पदार्थ की इच्छा रख के शरण में नहीं आया। बल्कि उस शांति की खोज में है जिसे पाकर राम, कृष्ण, कबीर, नानक, बुद्धादि अवतार कहलाये। इसके अलावा और कोई भाव नहीं।

गुरुदेव : प्रेमी, विचार तो तूने बहुत ऊँचा धारण कर रखा है। हाँ, कोई गोल (उद्देश्य) जब तक सामने न रखा जाये तब तक मन उधर नहीं जाता। उसके लिए बड़े त्याग की ज़रूरत होती है। बाकी, इधर से जो कृपा करनी थी सो कर दी गई है। अब तुम्हारी अपनी मेहनत है। यह सेवादि भी इस सत्मार्ग में सहायक ही होती है। पहुँचाने वाला अपना अभ्यास है। 'तू कर्ता' इस पवित्र निश्चय को दृढ़ करो। इसी से शरू होना है, इसी में खत्म होना है। ऐसा भाव चिरकाल के बाद समझ में आता है। पूछने से अच्छा है कि मन में विचार बिठाओ।

उस दिन शहर में सत्संग के बाद आपने इकट्ठे हुए प्रेमियों से पूछा कि क्या वाणी समझ में आती है या नहीं ? इस पर एक प्रेमी ने उत्तर दिया, "महाराजजी, वाणी बहुत सरल है परन्तु भाव मुश्किल हैं। इन वचनों को अपनाने के लिए आपकी कृपा की जरूरत है।

गुरुदेव : कोई सुनने वाला बने तो सही ! इनका आना तो आप लोगों की जागृति के लिए ही हुआ है। लुंगियों के व्यापार के लिए तो इधर आए नहीं ! ये तो गुरुमुख जीवों की तलाश में हैं। यहाँ के लोग तो बहुत ही मोहमाया में घिरे हुए हैं ! इन्हें सत्संग से कोई प्रेम नहीं। ईश्वर की माया अपार है। जिस जगह पर सत्संग, सेवा नहीं होते वह जगह उजाड़ का रूप जानें।

वाणी का प्रवाह निरन्तर बह रहा था। प्रतिदिन रात्रि के पौने दो बजे

वाणी का स्रोत आरम्भ होता था, और सुबह पौने छः बजे तक चलता रहता था। उन दिनों को याद करके भगतजी कहते हैं, "रात पौने दो बजे से पौने छः बजे तक का समय पता नहीं कब व्यतीत हो जाता था। अब न कोई नींद सताती थी, न थकावट। वाणी की गति एक धारा पर रहती थी। प्रत्येक पद नये रूप में बोला जाता था। जो पद एक बार बोल दिया वह दूसरी बार कभी न बोला जाता था। हमारी तरफ़ से भले ही कोई पद ग़लत लिखा जाए, लेकिन बोलते समय कभी वाणी का कोई वाक् ग़लत न होता था। सात मार्गशीर्ष की सुबह को जब वाणी का दोबारा पाठ समाप्त कर लिया तो दास ने अर्ज़ किया, 'महाराजजी, आप हिन्दी, संस्कृत और ज़ाहरी इल्म तो जानते नहीं, लेकिन बड़े ऊँचे-ऊँचे हिन्दी के शब्द फ़र्माते हैं।' " तो कहने लगे :

'प्रेमी, जब दिल की तख्ती साफ़ और निर्मल हो जाती है तो इल्म का भण्डार स्वयं ही सामने आ जाता है। अभी तो मुश्किल अल्फ़ाज (कठिन शब्द) बोलने की आज्ञा भी नहीं है। एक-एक भाव को कई तरीकों वास्ते समझाया जाता है ताकि परमार्थ का मार्ग छोटी बुद्धि वालों को समझ में भी आ जाये। प्रभु-आज्ञा से जो तेरे आगे आ रहा है उसे अच्छी तरह विचारने की कोशिश किया कर। परमपद की प्राप्ति तो पीछे होती है। इन विचारों को समझकर अभ्यास में रुचि बढ़ती है। मोह-माया का जाल ऐसा है कि समझते हुए भी जीव भ्रम में फंस जाता है। ख्वाह-मख्वाह कर्म का अभिमानी बनकर इच्छाचक्र में गिरफ्तार हो जाता है। कर्म करके फल को प्राप्त करता है, फिर उसे भोगकर राग-द्वेष की अग्नि में तपायमान होता रहता है। अनेक प्रकार के जतन करने पर भी मन का कर्त्तापन खत्म नहीं होता। सन्त सत्पुरुषों ने दीन-ग़रीबी का मार्ग अल्पज्ञ जीवों के वास्ते निकाला है। जो जिज्ञासु निर्मल प्रीति से सत्मार्ग पर चलता है, उसका कर्त्तापन आहिस्ता-आहिस्ता निवृत्त हो जाता है। जो भी प्रभु-आज्ञा यानी उसकी रजा में रहने वाले भले जीव हैं, एक-न-एक दिन चित्त की ठण्डक को प्राप्त कर लेंगे। ...."

प्रत्येक रात्रि के सम्बन्ध में भगतजी के पास कुछ-न-कुछ कहने को है । उनका वर्णन सजीव चित्रों की एक लड़ी-सी प्रस्तुत करता है। उसी रात के सम्बन्ध में कहते हैं : "सात मार्गशीर्ष की रात थी। पिछला दोहा आज्ञा पाकर पढ़ा गया। चौथा प्रसंग 'शून्यकर्म साधन' का नया दोहा लिखकर चौपाई शुरू की गई। सर्दी दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। उस दिन दास दिन के समय कुछ लकड़ी इकट्ठी करके रख गया था। आते ही पहले आग जलाई । आग के कारण लिखने में कुछ अन्तर पड़ने लगा। महाराजजी फ़र्माने लगे, 'एक हफ्ता (सप्ताह) और सर्दी सहन करने का व्रत धारण करो।'

"उसी समय सब लकड़ी उठाकर बाहर फेंक आया। बेफ़िक्र होकर लिखने बैठ गया। सुबह पौने छः बजे के स्थान पर साढ़े छः बज गये। जब वाणी का प्रवाह बन्द हो गया, तो गुरुदेव बोले, 'प्रेमी एक समय पर एक ही काम सही तौर पर हो सकता है । भोग और योग इकट्ठे नहीं चल सकते।'

"फिर उठकर पानी के किनारे पहुँचे। महाराजजी पाँच मिनट में स्नान करके आसन पर आ बैठते थे। बड़ा ही खुश्क पानी था। उसमें स्नान करते रहने से महाराजजी के शरीर की चमड़ी फटनी शुरू हो गई थी। बहुत जगह से खून चलना शुरू हो गया था। उस दिन बार-बार प्रार्थना करके कुएं के जल से स्नान करने के लिए महाराजजी को राजी किया।" .

उस दिन स्नान करने के बाद जब वाणीपाठ समाप्त हो गया तो गुरुदेव ने पूछा, "प्रेमी, आज क्या लिखा है ?"

भगतजी : आज के प्रसंग में पहली अवस्था का वर्णन है। जब बुद्धि पूरी तरह अन्तर्मुख हो जाती है, तब निष्कर्म यानी शून्यावस्था को प्राप्त होती है -- जहाँ कोई संकल्प-विकल्प नहीं उठता और अपने आत्मस्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है । इस हालत की प्राप्ति के वास्ते ही सब यत्न प्रयत्न

है। फिर आगे तो आसानी हो जाती होगी ?

गुरुदेव : बेईमान, आसानी ढूंढता फिरता है ! शरीर का अभिमान क्या आसानी से जाता है ? कोई ही करोड़ों में एक इस अवस्था तक पहुंचता है। इस जगह पहुँचकर मान-प्रतिष्ठा में पड़ गया तो फिर गया ! फिर मेहनत करता है। ज्यों-ज्यों स्थिति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों संसार से अलग होता जाता है। कुछ तो केवल अवधूत अवस्था में ही रहते हैं। बहुत कम ही संसारी जीवों को सत् उपदेश से कृतार्थ करते हैं। तुमको इनकी स्थिति का क्या पता लगे ! बुद्ध या कृष्ण ही हों तो इन विचारों की कद्र करें।

भगतजी : एक शंका है। ग़लत ढंग से कहूँ तो क्षमा कीजिए। आप पुरातन सत्पुरुषों का जिक्र केवल नाम लेकर ही करते हैं और सब दुनिया पहले 'भगवान', 'गुरु' आदि सम्मानार्थक शब्दों सहित उनका नाम लेती है।

गुरुदेव : (हँसकर) आत्मस्थिति में वे न इनसे बड़े हैं, न छोटे हैं। तुम भी तो अपने हम-उमरों का पूरा नाम नहीं लेते-उनका आधा नाम ही उच्चारण करते हो। फिर भी वे तुम से प्रेम बनाये रखते हैं। इसी तरह इनका उनसे सम्बन्ध है। वे सब उस समताधाम के निवासी हैं। तुम फ़िक्र न करो, खाली नाम उच्चारण करने से वे सत्पुरुष इन पर नाराज नहीं होंगे।

दूसरे ही दिन भगतजी को पुरातन सत्पुरुषों के प्रति उनके प्रेम का प्रमाण मिल गया। सुबह जब वह शहर से खाना खाकर लौटे तो क्या देखते हैं कि एक मुसलमान प्रेमी गुरुदेव को राबिया नामक एक मिश्री महिलासन्त की कथा सुना रहा है। कथा दुःख और करुणा की लम्बी कहानी थी। अनाथ राबिया बचपन में बेसहारा थी-सूखी रोटी तक मिलने का कोई ठिकाना न था।

यौवन में दासी की मजबूरियों से लाचार थी। स्वामी अय्याश और निर्दयी था। तन से टूटी हुई, मन से निराश राबिया मौत की प्रतीक्षा में दिन गिन रही थी। आखिर एक दिन अपने स्वामी की हवस और जुल्म से तंग आकर राबिया घर से भाग निकली-मरने के लिए। तभी उसके अन्तर के पट खुल गये और ज्ञान की ज्योति चमक उठी। प्रेमी राबिया की कहानी को विस्तार से सुना रहा था। उसके प्रेम और विरह को इस तन्मयता से वर्णन कर रहा था कि सुनते-सुनते गुरुदेव की आँखों से आँसू बह निकले। जब तक उसकी कथा चलती रही, तब तक गुरुदेव की अश्रुधारा भी बहती रही। जब वह प्रेमी कहानी कहकर चुप हो गया तो गुरुदेव कहने लगे, "अल्लाह को याद करने वाले चाहे मशरिक में हों चाहे मग़रिब (पूर्व और पश्चिम) में सबका ऐसा ही हाल चला आया है। बंदगानेखुदा मजबूर हो जाता है-बेबस हो जाता है ! बगैर उसकी रजा के कुछ नहीं देखता।"

सिजदा करके जब वह प्रेमी चला गया तो गुरुदेव कहने लगे, "देख प्रेमी किस क़दर सत्विश्वास वाले लोग हैं ! बुजुर्गों के इतिहास को किस प्रेम से वर्णन कर रहा था ! जिस राबिया का प्रसंग उसने सुनाया है वह इसी शून्य-अवस्था में स्थित थी जिस अवस्था को पाकर फिर और कुछ पाना बाक़ी नहीं रहता। सबसे बड़ी बन्दगी प्रभुमाने यानी खुदा की रजा (ईश्वरेच्छा) में रहना ही है। आज उस प्रसंग को तू भी लिख रहा है जिसमें अल्लाह वाले लोग स्थित रहते हैं। खुद खुदा यानी ब्रह्ममय हो जाते हैं। वहाँ यह कहना ही नहीं रहता कि मैं खुदा हूँ, -ब्रह्म हूँ। सम-अवस्था इसी का नाम है।"

जिस रात 'नादध्यान' का प्रसंग आरम्भ हुआ उस रात भी एक चिता जल रही थी। रात के सन्नाटे में सब कुछ मौन हो चुका था। उस शून्यस्थान में अविगत शून्य से आवाज़ आने लगी :

शून्यंग शून्यंग् शून्न समाया। अनहद नाद रतन जब ध्याया॥

ज्यों-ज्यों अन्तर राखे मनुआँ। शान्त अगाध परसे तन आँ॥
नाभ कँवल से अमरित झरिया। सुखमन नाली में सो भरिया॥
सो अमरित उठ चढ़े आकास। गुरमुख विरले कियो विलास॥
चढ़े आकास करे टंकोर। नाद ध्यान पावे जन सूर॥
शबद गुंजार करे अत भारी। तिरवैनी अत लेख विचारी॥
सुन्न कपाली आसान धारी। विमल शबद का लेख विचारी॥
रोम - रोम में ठाँड उपजायी। तपन विनास शांत घर आयी॥
भरम अन्धकार जीव का नासी। चौदह चन्दर कला परगासी॥
दरस पाये मन भयो निहाल। बन्धन नासे गुरु भये दयाल॥
अजर पुरुष घर अन्तर पाई। सरब नियारा नित वरताई॥
नित परकाश परम कल्यान। पाया ठाकुर साहिब ध्यान॥

साचे नाम की कीरती, मन तन आई समाये।
'मंगत' भयो निहाल तब, जब शबद भेद अर्थाये॥

वाणी लिखते समय अब भगतजी इतने तल्लीन हो जाते थे कि समय की गति का उन्हें ध्यान ही न रहता था। उस समय को याद करके वे कहते हैं, "वह समय भी एक आश्चर्य था। उनकी विशेष कृपा से ही ऐसी अमृतमयी वाणी लिखी जा सकती थी। हम कहाँ इस योग्य थे ! आरम्भ में तो काफ़ी कठिनाई होती थी, परन्तु अब समय का पता ही न लगता था। झट सुबह हो जाती थी। नींद, आलस्य कोई विकार न सताता था। क्या प्रभु की लीला थी !" रोज़ वाणी लिखते थे, लेकिन रोज उसकी अविच्छिन्न धारा को देखकर हैरत में पड़ जाते थे। यह लीला पुरानी होने पर भी नयी थी। एक दिन गुरुदेव के सम्मुख अपने भावों को यों व्यक्त किया, "महाराजजी हर पद नये रूप में आता है। यह बड़ी आश्चर्य की बात है। वाणी बड़ी आसान है। भाव बड़े गुह्य हैं।"

गुरुदेव बोले, "प्रेमी, यह सब उस मेरे मालिक की अपनी लीला है। यह

साढ़े तीन हाथ का पिञ्जर क्या हस्ती रखता है ? जो भी मेरे उस मालिक को याद करता है उसके अन्दर यह गुप्त भेद अपने-आप ही प्रगट होता चला जाता है। केवल अन्तर्गति विचार करने की ज़रूरत है। वह अमृत अन्तर ही है, बाहर नहीं ! वैसे अन्तर भी वह ही है, और बाहर भी वही है। लेकिन अन्तर्मुख होने से उस सारवस्तु का अनुभव होता है। अनुभव बुद्धि ने करना है-शरीर ने नहीं। नित् प्रकाश अखण्डज्योति तीनकाल मौजूद हैं। शरीर तीनकाल नाश स्वरूप है। लेकिन यह जीव शरीर को तीन काल सत् समझता है और इस आनन्द की तरफ़ जाता ही नहीं। शारीरिक सुख के वास्ते कहाँ-कहाँ दूर दराज तक टक्करें मारता है ! लेकिन आख़िर यह ही नतीजा है जो तुम सामने (जलती चिता की ओर इशारा करके) देख रहे हो। कल खड़ा था, आज आग में जलकर राख हो गया है। हर एक जीव अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार दुःख-सुख भोगता हुआ हर वक्त अशान्ति में रहता है। ऐसे द्वन्द्वभाव में भरमता हुआ अविनाशी सुख से दूर रहता है। जो लिखते हो उसे समझा करो। तब चित्त में बात ठहरेगी..."

दूसरी रात भी वाणी का वैसे ही अवतरण हुआ। फिर सुबह हुई और सूर्योदय हुआ। आज वाणी का प्रवाह चले हुए दस दिन हो गये थे। रोज की तरह आज भी वाणी का पाठ हुआ और जो ग़लतियाँ भगतजी लिखते समय कर गये थे, ठीक की गईं। जब यह काम समाप्त हो गया तो कहने लगे, "प्रेमी छः दिन और रह गये हैं। फिर तुम्हें आराम मिलेगा।"

भगतजी बोले, "अब चाहे सारा महीना लिखवाते जायें। अब आपकी कृपा से पहले वाली बात नहीं रही।"

गुरुदेव : हाँ, इसी तरह इस मन का स्वभाव तब्दील करना चाहिये। इसकी रुचि तो बाहरी दृश्य में ही बनी रहती है। थोड़े काल के सुख को प्राप्त करने की कोशिश में लगा रहता है। कई जन्मों से इसका ऐसा ही ताना-बाना चला आ रहा है। भाग्य से ही सत्मार्ग में रुचि

बैठती है।"

भगतजी : कभी बड़े अच्छे विचार पैदा होते हैं। मन करता है कि स्मरण अभ्यास और सेवा करते जाएँ। कभी मन इनसे विमुख हो जाता है और खाने, पीने, पहनने में लग जाता है।

गुरुदेव : प्रेमी, यह गुणों का चक्र चलता रहता है। जब सतोगुणी भाव प्रगत होता है तब, स्वतः ही सत्संग सिमरण और सेवा में मन लगने लगता है। रजोगुण खाने, पीने, पहनने और भोग-विकार की तरफ़ ले जाती है। तमोगुण, चोरी, जुआ, कपट और छल की तरफ़ ले जाता है। इन गुणों के चक्कर से पार होने के लिये ही अभ्यास है। जब निर्गुण अवस्था जीव के अन्दर पैदा होती है तब इन विकारों की समाप्ति हो जाती है । पता ही नहीं लगता कि किधर गए ! .....रञ्चक मात्र भी जब बुद्धि सही रूप में निर्मल होती है तब अपने-आप ही भोग-पदार्थों से घृणा होने लगती है। समय आने पर अपने-आप ही रंग लग जाता है। गिर पड़े तो घबराना नहीं चाहिए। फिर सत्विचार से बद्धि को सत्मार्ग में लगाना चाहिए।

वाणी का लिखना छः दिन तक और चलता रहा। भगतजी कुछ अस्वस्थ थे लेकिन फिर भी रातें जागकर अपना कार्य करते रहे। अठारह मार्गशीर्ष सं० १९९८ को प्रातः को वाणी का लिखना समाप्त हुआ। अन्तिम प्रसंग का नाम 'निर्वाणसिद्धि' रखा गया। श्मशान की राख में यह अमृत धारा सोलह दिन तक निरन्तर बहती रही। जिस शहर में लोग रात्रि में गलियों और बाजारों में भी डर के मारे न निकलते थे, उसी शहर के वीरान श्मशान में रात्रि के भयानक सन्नाटे में अमरज्योति शब्द के रूप में अवतरित होती रही। उस श्मशान की भस्म से मानो अमृतधारा फूट पड़ी थी। शिव का स्थान श्मशान ही होता है। मृत्यु को अंगीकार करके ही सत्पुरुष अमरजीवन को प्राप्त होते

है और तप्त संसार के दुःख का हरण करते हैं। उस वाणी का अंतिम संदेश इस प्रकार था :

वाणी यह अगम की, अलख पुरख का लेख।
जो साधे नित प्रेम से, पाये शबद का भेख॥

शबद अगोचर शबद अखण्डा, शबद जीवन की सार।
अन्तर बाहर सेव कमावे, गुरमुख पाए निस्तार॥

साचा ठाकुर सरब स्वामी, अलख शबद पुनीत।
रल मिल संगत गाइए, नित सत पुरख का गीत॥

सकल मनोरथ पूरण पाए, प्रभ साखी चित्त गाई।
निर्मल मनुआँ कायाकञ्चन, सत् शब्द कथा अर्थाई॥

दुविधा दुरमत सब मिटी, अन्तर चाणन होए।
'मंगत' नित आनन्द में, तत्त नाद की मणि पिरोए॥

वाणी की समाप्ति पर भगतजी ने गुरुचरणों में साष्टांग प्रणाम किया। पीठ पर हाथ फेरते हुए कृपानिधान कहने लगे, "प्रेमी, बड़े भाग्यशाली हो। ऐसी ही ईश्वराज्ञा है जो तेरे द्वारा ही सेवा का कार्य हो रहा है। ईश्वर सत्बुद्धि देवें।"

भगतजी ने चरणामृत का पान किया, और उस श्मशान भूमि को जो कभी उन्हें अत्यन्त भयानक लगी थी-उस मंगलदायिनी पावनभूमि को भी श्रद्धा से प्रणाम किया। यह भूमि भी जाने कब से प्रतीक्षा में थी कि वह फिर से सनाथ हो।[१] उसके आसपास कभी सत्पुरुषों का वास रहा था-उजड़े हुए आश्रमों के

---

१. स्वयं गुरुदेव ने भी, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका हैं, इस भूमि के सम्बन्ध में कहा था, "यह जगह भी कहाँ इन्तज़ार कर रही थी ...."।" लेखक के विचार में इस वाक्य का शाब्दिक अर्थ ही ठीक अर्थ है। सत्पुरुषों के तप का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं बल्कि कथित जड़प्रकृति पर भी पड़ता है। इस तथ्य की पुष्टि स्वयं गुरुदेव ने भी की थी। एक बार प्रेमी देवराज गप्त को उन्होंने कहा था, "सत्पुरुष जिस पेड़ के नीचे बैठ जाते हैं वह पेड़ कृतार्थ हो जाता है, जिस पत्थर पर बैठकर तप करते हैं वह पत्थर भी तर जाता है।"

अवशेष इसके साक्षी थे। आज वह फिर कृतार्थ हो गई थी। आज वह भयदायिनी भूमि भी जैसे भगतजी को अपना वात्सल्य लुटा रही थी।

वाणी को पढ़ने और ठीक करने में एक सप्ताह और व्यतीत हो गया। इस तप में भी गुरुदेव ने सिवाय चाय के और कुछ ग्रहण न किया था। सब्जी अथवा फल भी छोड़ रखे थे। उस इलाके का जलवायु भी बहुत खुश्क था। रातें तो बाहर ठण्ड में कट ही रही थीं। परिणाम यह हुआ कि उनका शरीर जगह-जगह से फटना शुरू हो गया। सारे शरीर में खारिश होने लगी। जहाँ भी जरा सी खारिश करते सफ़ेद पानी निकलने लगता। शरीर में जगह-जगह घाव हो गये थे जिनमें से खून की जगह पानी निकलता रहता था । प्रेमी समझ न पा रहे थे कि क्या करें। औषधिसेवन के लिए गुरुदेव राजी न हो रहे थे। एक दिन भगतजी को याद आया कि पहले गुरुदेव कभी-कभी कच्ची मूली खा लिया करते थे। उन्होंने गुरुदेव को मूली खिलाना शुरू कर दिया। शनैः-शनैः कुछ सुधार होने लगा। इधर प्रेमी तो गुरुदेव के स्वास्थ्य के बारे में चिन्तित थे, उधर गुरुदेव अपनी मौज में मस्त थे। शरीर की चिन्ता न उन्हें कभी पहले थी, न अब हो सकती थी। लगता था कि उनका बाह्य व्यक्तित्व जैसे विश्राम ले रहा हो । एक दिन भगतजी से कहने लगे

---

१. कहने की आवश्यकता नहीं कि वाणी ठीक करने से यहाँ अभिप्राय उन ग़लतियों को ठीक करने से है जो भगतजी लिखते समय कर जाते थे । जहाँ तक गुरुदेव का सम्बन्ध था वे वाणी का संशोधन (revision) कभी न करते थे। इस वाणी का सर्जन-केन्द्र (creative centre) निर्विकल्प आत्म सत्ता थी। वहाँ बुद्धि का गमन न था। इसलिए उस वाणी का संशोधन बुद्धि द्वारा करने का प्रश्न ही नहीं उठता था । एक साधारण कवि की सर्जनशक्ति का केन्द्र उसके चेतन और अवचेतन के संगम अथवा संलय में होता है। परन्तु सन्तवाणी अथवा श्रुति का स्रोत चेतन और अवचेतन दोनों से परे आत्मसत्ता में होता है इसके अवतरण के समय चेतन और अवचेतन दोनों ही लय हो जाते हैं। अतः सन्त के सामान्य, देशकाल से सीमित, व्यक्तित्व से इसका सम्बन्ध नहीं होता। छठे अध्याय में इस सम्बन्ध में स्वयं गुरुदेव के शब्दों में प्रकाश डाला गया था। गुरुदेव वाणी सुनते समय स्वयं हैरान हो जाया करते थे। वाणी मौन की आवाज़ होती है, अतः इस पर कोई भी काव्य-सिद्धान्त लागू नहीं होता । श्रुति को कभी भी साधारण काव्य की दृष्टि से नहीं देखा गया है। यह हमारे देश की पुरातन परम्परा रही है।

"प्रेमी ! अब दिल हल्का हो गया है। संसारियों के चित्त को सान्त्वना देने के लिये काफ़ी प्रभुकृपा हो चुकी है। अब पढ़-सुन कर जो भी जिज्ञासु साधना में प्रवृत्त होगा, उसके अन्दर यह अगोचर अवस्था खुद ही प्रगट हो जाएगी। वह ही जीवन के सार को जानेगा। अन्तर प्रकाश हुए बिना इस दुर्मति का नाश नहीं होता। यत्न में ही रत्न है। आप भी पढ़ो, विचारो और अन्य जीवों तक भी पहुँचाओ। इस तरह परस्पर लाभ प्राप्त करो।"

●

अध्याय-११

सत्संग

निर्गुणावस्था में लीन सत्पुरुषों की उपमा अक्सर अमृतमय चन्द्रदेव से की जाती है । चन्द्रदेव बिना जाने पृथिवी की तपन मिटा देते हैं; स्वयं न देखते हुये भी देखने वालों की आँखें ठण्डी कर देते हैं। इसी प्रकार सत्पुरुष भी स्वयं न सोचते हुये भी दूसरों को विचार करने पर मजबूर कर देते हैं; स्वयं कुछ न करते हुये भी दूसरों को आचारवान बना देते हैं। स्वयं अमनीभाव में स्थित होते हुये भी दूसरों के मन को शांत और आनन्दमय बना देते हैं। और यदि किसी जिज्ञासु के आचार-विचार और संकल्प पहले ही सुसंस्कृत हों, तो तब वे मन, बुद्धि और शरीर के परे उसके स्वरूप से भी उसे जोड़ देते हैं। उनकी महानता देखने वाले की नज़र में दिखाई पड़ती है-उसके विवेक, आचार, और शांति में होती है। बाहर की दुनिया उनके जीवन की कहानी होती है क्योंकि उनका अपना 'जीवन' मिट चुका होता है।

गतिहीन सत्ता में नित्य ही वास करने वाले गुरुदेव लोकसंग्रह के लिये निरन्तर विचरते रहते थे। अपनी सभी कामनाओं को भस्म करके भी वे देश और समाज के कल्याण के इच्छुक थे। एक बार उन्होंने एक शिष्य को एक पत्र में लिखा था:

"प्रेमीजी, तुम्हारी नेकसीरत हर वक्त चाहते हैं; तुम्हारे अन्दर पर

उपकार और देशसेवा की तड़प चाहते हैं। तुम्हारे अन्दर दुखियों के दुःख का एहसास चाहते हैं तुम्हारे अन्दर अपने सच्चे बुजुर्गों का आदर्श चाहते हैं। तुम्हारे अन्दर समता के लामहदूद[१] दायरे की रोशनी चाहते हैं। तुम्हारे अन्दर गुरुभक्ति और ईश्वरपरायण जीवन चाहते हैं। तुम सच्चे अमित प्रेमी क्या हमारी प्यास पूर्ण करोगे ?"

मानव-कल्याण के लिये गुरुदेव गाँव-गाँव घूमा करते थे। पश्चिमी के गाँवों के लोगों का चरित्र संस्कारहीन हो रहा था। खान-पान में कोई मर्यादा न थी। पुरुष लोग माँस और तम्बाकू के आदी होते जा रहे थे। भांग चलन भी बढ़ रहा था। आचार बिगड़ा हुआ था और विचार किया स्वाध्याय की कोई परम्परा न थी, मनन का स्वभाव न था। इस पर भी जाति का अहंकार था। जो साधु-सन्त भी इन गाँवों में आते थे, वे भी अब विकारों के आदी थे। अपने स्वार्थ के लिये अन्ध-विश्वास फैलाया करते पंजाब की स्थिति भी लगभग वैसी ही थी-हाँ, शराब का जोर जरा कम लेकिन संस्कारों की कंगाली यहाँ भी वैसी ही थी।

फ़रवरी सन् १९४२ की बात है, गुरुदेव दौरांगला (जि. गुरुदासपर पधारे। रात वहाँ मन्दिर में ही काटने का निर्णय किया गया। एक प्रेमी भी साथ आये थे-उनके सम्बन्धी वहाँ रहते थे। प्रेमी के कहने पर कुछ लोग दर्शन करने आये। सफ़ेद वस्त्र और कमज़ोर शरीर देखकर बिना कुछ कहे-सुने वे वापस चले गये।

सुबह चार बजे कुछ लोग कमरे के बाहर बरामदे में आ जुटे और लगे तम्बाकू का धुआँ उगलने। जो कोई आता मन्दिर की घंटी बजाता और "हर हर महादेव" कहकर या तो तम्बाकूनोशों में आ बैठता या चला जाता। हँसी -

---

१. असीम

मजाक या दुनियादारी की बातें हो रही थीं। गुरुदेव कहने लगे, "प्रेमी, मन्दिरों में अजीब साँग (स्वाँग) बना हुआ है !"

तम्बाकू पीने वालों में गाँव के अच्छे-अच्छे लोग थे। उन सब को गुरुदेव ने बुलाया, लेकिन कोई न आया। केवल एक वृद्ध-अमरनाथजी-आये और प्रणाम करके बैठ गये। गुरुदेव ने पूछा, "प्रेमी, मन्दिर क्या सत्संग की जगहें हैं, या तम्बाकू पीने के अड्डे?"

वृद्ध बोले, "महाराज, साधु-सन्त आते हैं-उनकी धूनी चलती रहती है । शहर के आदमी भी दम लगा लेते हैं !" फिर पूछने लगे, "महाराजजी, आप कौन महात्मा हैं ?"

बोले, "आप बीमारों का इलाज करने वाले डाक्टर हैं ! आप सब लोग बीमार हैं । फकीरों को कोई एकान्त जगह बताओ जहाँ बैठकर आप लोगों को देखा जाये।"

गाँव से बाहर खेतों में एक कमरा गुरुदेव ने पसंद किया। साथ एक कुआँ भी था। जो प्रेमी साथ आये थे उन्हें गुरुदेव ने वापस भेज दिया और भगतजी से कहा कि अपने खाने-पीने का प्रबन्ध खुद करें। उस दिन शाम को सत्संग रखा गया। सुनने के लिये लोग आये भी, लेकिन समझ में कुछ न आया। एक महिला बोली, "महाराजजी, यहाँ के लोग आपके विचार को नहीं समझ पायेंगे। सत्संग का मतलब क्या होता है-इधर कोई नहीं जानता। आपके विचार तो बहुत ऊँचे और गहरे हैं ! बड़ी कृपा की जो हमारे नगर में आप पधारे हैं।"

उस महिला ने भोजन के लिये निमन्त्रण दिया। गुरुदेव ने कहा, "देवी, जब आपके सम्बन्धी आयेंगे तब देखा जायेगा। इस तरह यह भोजन खाने वाले नहीं हैं-न ही यह रात या दिन में भोजन करते हैं।"

भगतजी ने उन्हें समझाया कि गुरुदेव केवल चाय ही पीते हैं। हैरान होकर उन्होंने प्रणाम किया और चली गई। उनके चले जाने पर आप कहने लगे, "इस तरफ़ के लोगों की क्या हालत है ? खैर, कागों में हंस भी हुआ करते हैं। देखो, प्रभु किस में राजी हैं ?"

शाम को भगतजी ने बाजार में जाकर चाय तैयार की और खुद दूध और रस्क खाकर अपना काम चला लिया। उस गाँव में खाने का कोई साधन न था । जो प्रेमी गुरुदेव को लाये थे, उनके सम्बन्धियों ने भी भगतजी को उनके चले जाने के बाद फिर न पूछा। जब भगतजी चाय लेकर लौट रहे थे तो रास्ते में एक-दो लोग मिले जो कि सत्संग में आ चुके थे। उन्होंने कहा, "खुद क्यों चाय लेने आये हैं ? हमें कह दिया होता !" भगतजी ने उत्तर दिया, "कहने वालों में हम नहीं हैं । जिनका प्रेम हो, महाराजजी से अर्ज करें ! फिर उनकी आज्ञानुसार ही चला जायेगा। बाक़ी, आपके गाँव में आये हैं कुछ तो खायेंगे ही ! बिना खाये कैसे रह सकते हैं ?"

सुबह स्नान करके गुरुदेव धूप में बैठे ही थे कि एक वृद्ध आये। देखने में बहुत फुर्तीले और चुस्त लगते थे। खड़े-खड़े ही 'नमस्ते' कहकर पूछने लगे, "महाराजजी, आप द्वैतवादी हैं या अद्वैतवादी ?"

गुरुदेव बोले, "प्रेमी, पहले बैठ जाइये !" उनके बैठने पर कहा, "यह द्वैत को अद्वैत में देखते हैं और अद्वैत को द्वैत में। एकता, समता की तरफ़ बुद्धि तब ही जायेगी जब दोनों हालतों में केवल एक को समझा जायेगा। बाकी यह विषय अनुभव से सम्बन्ध रखता है न कि कहने कथने से !"

इतना कहकर आपने पूछा, "प्रेमी, आपका नाम क्या है ?"

वह बोले, "मेरा नाम पण्डित गुरुप्रसाद डोगरा है। रिटायर्ड सब-इन्स्पेक्टर

ऑफ़ पोलीस हूँ। रात को मेरी बहन सरस्वती देवी ने मुझे बताया कि यहाँ एक ऊँची करनी वाले महात्मा आये हैं। इसलिए सैर के बाद सीधा चरणों में आया हूँ। प्रार्थना है कि आज से भोजन दोनों वक़्त घर से ही आया करेगा। कृपा करके आज्ञा दें और किसी चीज की जरूरत हो तो फ़र्मायें।"

गुरुदेव ने कहा, "इधर और सब लेखा खत्म है। केवल दर्शन दिया करें!"

उन्होंने एक न सुनी। कहने लगे, "आप के सेवक साथ हैं-इन्हें आज्ञा दीजिये । दूध-चाय ले आयें।"

उनका प्रेम देखते हये गुरुदेव ने भगतजी से कहा, "जाओ प्रेमी ! इनका लेना-देना भी पूरा कर आओ ! जब इनके दर पर आये हैं तब कुछ करना ही पड़ेगा।"

पण्डितजी कहने लगे, "महाराजजी, सब कुछ आपका ही दिया हुआ है, हमारा कुछ नहीं है।" इतना कहकर भगतजी का हाथ पकड़कर साथ ले गये।

गुरुदेव के तप का असर होना तो स्वाभाविक ही था। आहिस्ता-आहिस्ता लोग सद्विचारों में रुचि लेने लगे।

कुछ गाँवों की हालत तो और भी खराब थी। सन् १९४३ की बात है। गुरुदेव गोलड़ा (जि. रावलपिण्डी) नामक गाँव में रुके हए थे। बिना बुलाये ही पहुँच गये थे वहाँ । लोगों ने कुछ बेरुखी भी दिखाई थी। पालशाह नामक सज्जन उन्हें अपने घर ले आये थे। यह उनकी गुरुदेव से पहली भेंट थी। आपका स्वभाव रात में बाहर एकान्त में रहने का था, लेकिन उस रात आप प्रेमी पालशाह की बैठक में ही बैठे रहे। पालशाह पक्के पियक्कड़ थे इस मामले में पूरी निष्ठा से नियम निभाते थे। लेकिन आज उनकी किस्मत

उलटी पड़ गई थी। बार-बार बैठक में झाँकते, लेकिन गुरुदेव को समाधिस्थ देखकर लौट जाते। गुरुदेव के आसन के पीछे उनकी चहेती बोतल पड़ी थी। सारी रात चक्कर काटते रहे, लेकिन उनकी एक न चली। न गुरुदेव सोये और न पालशाह। एक मस्ती में जागते रहे, दूसरे बेबसी में।

सुबह होते ही आप ने प्रेमी पालशाह को आबादी से दूर कोई स्थान दिखाने को कहा। दो-तीन फ़ांग की दूरी पर एक स्थान जच गया। एक तालाब के निकट एक कमरा था और थोड़ी ही दूरी पर जंगल भी था। वहाँ का सब प्रबन्ध ठीक करके पालशाह जब लौटे तो भगतजी भी साथ थे। पूछने लगे, "क्या महाराजजी सारी रात नहीं सोते ? खुराक क्या केवल यह चाय ही है ?"

भगतजी ने उन्हें बताया कि गुरुदेव को सोये तो वर्षों हो गये और चाय पर ही उनका शरीर चल रहा है। गुरुदेव के तप-ध्यान की चर्चा गाँव-भर में फैल गई। लोग दर्शनों के लिये आने लगे। गोलड़ा के लोग वैसे तो बहुत अतिथि-सत्कार करने वाले थे; बोल-चाल में भी शिष्ट थे, लेकिन उस क़सबे के ९० प्रतिशत लोग मांसाहारी थे और कई एक तो शराब पीने के भी आदी थे। पालशाह और उनके चाचा काशीशाह तो अपने खाने-पीने के कारण गाँव-भर में प्रसिद्ध थे। जब गुरुदेव को उनके कारनामों का पता चला तो उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को माँस-शराब छोड़ने की लिखकर शपथ लेने को कहा। साथ में सब को कह दिया कि यदि वे इन्हें नहीं छोड़ेंगे तो हम बिना खाये-पिये चल देंगे। विवश होकर सबको शपथ खानी पड़ी। सारे कसबे में इस बात की चर्चा होने लगी कि यह कैसा सन्त आया है जिसने सब की काया ही पलट दी है ? लोगों की इस बिगड़ी हालत को देखते हुये आपने समता के पाँच मुख्य नियम-सादगी, सेवा, सत्य, सत्संग और सत-सिमरन (सत्स्मरण) यहीं प्रतिपादित किये।

प्रत्येक शहर और गाँव की लगभग एक ही कहानी थी। शहरों में फैशन बढ़ रहा था और गाँवों में अन्धविश्वास। क्या गाँव, क्या शहर-सब जहालत

में डूब रहे थे। संस्कारों की इस कंगाली का कारण विचारहीनता था । संस्कारों के परिष्कार के लिये गुरुदेव ने सत्संग की प्राचीन परम्परा को फिर से स्थापित करने का प्रयत्न किया। सत्संग को पूरी सादगी से करने का आदेश दिया। गाने-बजाने पर पाबंदी लगा दी और वक्ताओं को साधारण आसन पर बैठकर विचार करने की आज्ञा दी। आपका कहना था कि गाना-बजाना और सजावट सत्संग को मनोरंजन का साधन बना देते हैं। ऐसे वातावरण में सत्विचार करना असम्भव हो जाता है। एक बार सत्संग के सम्बन्ध में आपने यों कहा था (स्थान डोमेल, सन् १९४४) :

"प्रमियों, थोड़ा ही समय इधर दिया जायेगा.....इसलिये समय निकालकर कुछ तो श्रवण कर लो[१] ! सत्संग का समय तो रात का ही होता है । फ़कीरों का आना शायद फिर न बन सके।

"याद रखो ! जीव-कल्याण का उपाय केवल मात्र सत्संग ही है। सत्संग में आकर ही बन्धन-मुक्ति के भेद का पता लग सकता है। संसार में आना किस वास्ते हुआ है ? माया क्या है ? ईश्वर क्या है ? मैं क्या हूँ ? शरीर के विनाश होने पर जीव किधर चला जाता है ? इन सब विचारों का पता सत्संग में बैठ कर ही चल सकता है। तमाशगाहों में जाकर इन विचारों का पता नहीं लग सकता। न राग-रंग द्वारा इस भेद को समझा जा सकता है।

"सब से श्रेष्ठ महाकारज (महाकार्य) संसार में सत्संग ही है। मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस गुह्य भेद को समझने के वास्ते सत्संग और सत्पुरुषों की संगत ज़रूरी है। महापुरुष ही इस भेद को समझा सकते हैं जिन्होंने अपने अमली जीवन द्वारा पहले अपने-आप की पहचान की, फिर

---

१. इस स्थान पर भी लोग सत्संग में रुचि न ले रहे थे।

दूसरों की (के) कल्याण की खातिर प्रयत्नशील हुये। हर एक जीव चाहे पूर्व का रहने वाला है या पच्छिम का-अपने शारीरिक भोगों, कामनाओं और कल्पनाओं को समझता हुआ विचर रहा है। और यह भी जानता है कि सुख-दुःख किस कर्म करके प्राप्त होता है। लाभ-हानि, खुशी ग़मी, मित्र-शत्रु, मौत-जिन्दगी, इज्जत-बेइज्जती, लज्या (लज्जा), भय इस द्वन्द्व-चक्र में हर एक जीव फंसा हुआ है। इससे खुलासी (मुक्ति) पाने के लिये कोशिश भी करता है। लेकिन मोह-माया का जाल ऐसा है कि इससे निकल नहीं सकता। हर पहलू को जानते हुये फिर इस अस्चर्ज संसार की लीला में घिर जाता है।

"आन्तरिक चाहना हर जीव की निर्भय शांति की है लेकिन यतन (यत्न) ग़लत होने के कारण शांति की बजाय अशाँति को प्राप्त कर लेता है। यह ही अज्ञान, भ्रम और अविद्या है। कल्याण सताविचार, सत् सेवा साधन इख्तियार करने में है। दूसरों के दुःखों को निवारण करने की कोशिश करना, अपने सुखों को तक्सीम करना, असत विचारों को त्यागना, सत्भावों को ग्रहण करना, नित ही सत्पुरुषों के वचनों को विचारते रहना, नित आत्मविश्वासी होना- ये सत्भाव ही मन का भ्रम निवारण करने वाले हैं। इस तरह बुद्धि शुद्ध होकर अपने सही सत्स्वरूप को जान लेती है। पवित्र निश्चय ही कल्याण स्वरूप है। ईश्वर सबको सतबुद्धि बख्शे। सूरज का काम है रोशनी देना। इस रोशनी से फ़ायदा उठाओ या न उठाओ यह तुम्हारी मर्जी है। इस तरह इन्होंने ईश्वराज्ञा से संदेश देकर चले जाना है। कोई अपनायेगा तो उसका अपना कल्याण है, न अपनायेगा तो इनको कोई नुकसान नहीं पहुँचता।"

जब डोमेल से जाने की बात होने लगी तो प्रेमियों ने आप को कुछ और दिन ठहरने को कहा। तब आपने उत्तर दिया, "जितना सुना है, पहले इसे हज्म कर लो। फिर देखा जायेगा। घरों में भी तुम्हारी मजबूरी करके ठहरते हैं।

वरना एक दिन भी न ठहरा जाय। इनको हर समय हृदय में देखें।"

लोगों की सुविधा के लिये आप अक्सर सत्संग रात में किया करते थे। तो भी लोग अधिक रुचि न लेते थे। इसके कारण का विश्लेषण आपने इस प्रकार किया था:

"प्रेमियों! इस समय सत्स्वरूप का निश्चय लोप होता जा रहा है। कभी ऐसा समय था घर-घर में आत्मज्ञान का विचार होता था। आज धर्म का सारा स्वरूप ही गायब हो गया है। हर एक जीव रात-दिन माया की पूजा में लगा हुआ है। शरीर की बनावट-सजावट में ही सारा समय लगा देते हैं। सही सत् विचार न होने करके हर एक जीव अशान्त हो रहा है। लोग मन्दिरों, गुरुद्वारों में जाकर प्रार्थना करते हैं, मगर अन्तर में खोटी वासना होने से किसी को भी मानसिक शांति प्राप्त नहीं हो रही। हर एक का धर्म आजकल सिनेमा देखना, खाना-पीना ही बना हुआ है। खासकर जब साधु प्रणाली ने भी इसमें प्रवेश कर रखा है, तो फिर बाकी ग़रीब जनता किधर जाये-कहाँ से सबक ले ? साधुओं का ही बुरा हाल है गृहस्थों को क्या कहा जाये !

"जीभा को रसना में गृहस्थ-विरक्त सब ही फंसे पड़े हैं। दिन-रात सब क्रूर कर्म ही कर रहे हैं। चाहे कोई वन में रहने वाला है, चाहे शहर में-हर एक को तृष्णा की आग जला रही है। ऐसे घोर कलियुग में धर्म का निश्चय कैसे दृढ़ हो सकता है ? खैर, प्रभुकृपा से बीज नाश नहीं होता। अंधकार के साथ प्रकाश भी होता है। तब ही ऋषियों के तपोबल से संसार की मर्यादा कायम रहती है। हर जीव को चाहिये कि मन की मलिन को दूर करने के वास्ते दीन, गरीबी, सत्, शील, संतोष आदि शुभ गुणों को धारण करे। खोटे भाव त्यागे। सादगी को धारण करके मन, वचन और कर्म शुद्ध करे। दीन, दुःखी, अनाथों की यथाशक्ति सेवा करे। सुबह-शाम

दो घड़ी मालिक को याद करके बुद्धि निर्मल करे। ईश्वर ऐसी ही निर्मल बुद्धि सबको बख्शे।"[१]

अधिकतर प्रवचनों में समता के पांच उसूलों पर गुरुदेव जोर दे रहे थे ताकि बढ़ती हुई वासना का शमन हो, लोग एक दूसरे से प्रेम से रह सकें और दीन-दुखियों पर जुल्म न करें। साथ में जिज्ञासुओं की तृप्ति के लिये परमार्थ की भी चर्चा होती रहती थी। सत्संगों का जिक्र जब चल पड़ा है तो यहाँ दो-एक प्रवचनों का सार देना शायद वांछनीय होगा।

सन् १९४३ आप सरायसाला (फ्रन्टियर) में ठहरे थे। सत्संग का प्रवाह यहाँ भी बहने लगा था। एक दिन आपने वहाँ बाजार में भी प्रवचन दिया जिसे कि सब धर्मों के लोगों ने सुना। सुनने वालों में मौलवी अब्दुल्वाहिद लोधी भी थे। उनकी प्रार्थना पर आपने वहाँ मस्जिद में जो प्रवचन दिया उसका सार इस प्रकार है :

"ख़ुदा के हुक्म से जब से इस दुनिया का निजाम[२] शुरू हुआ है रूहें खाकी जिस्म[३] को धार कर आ-जा रही हैं। जब तक जिस्म है तब तक हमारी अपनी-अपनी दुनिया कायम है। हर एक रूह[४] चाहे इन्सान की है चाहे हैवान की इस खाकी वजूद में हैरान-ओ-परेशान है। इस हैरानी परेशानी का इलाज करने वाले मश्रिक-मग्रिब[५] में होते चले आये हैं-आगे भी आते रहेंगे। उनके नक्श-ए-कदम[६] पर चलकर ही हजारहा रूहों ने निजात-ए- अब्दी[७], लाफ़ानी खुशी और दिल की तक्सीन[९] हासिल की। मगर ऐसी निजात पाने वाली रूहें यानी खास हुक्म-ए-खुदाई[१०] सुनाने वाली रूहें जब भी दुनिया में आई उनको बड़ी तकलीफ़ात का सामना करना पड़ा। लेकिन

---

१. यह सार है एक प्रवचन का जिसे कि आपने हरिपुर (हजारा) में दिया- समय सितम्बर, सन् १९४४,
२ सृष्टि-क्रम ३. पार्थिव शरीर ४. जीवात्मा ५. पूर्व और पश्चिम ६. पद-चिह्न ७. मुक्ति ८. अमर ९. शांति १०. ईश्वरज्ञा |

उनके सिदक़-ए-कामिल[१] ने सबको गरबोदा[२] बना लिया। किसी भी मुतबरिक[३] किताब में ऐसा नहीं लिखा कि अपनी नफ्स[४] के वास्ते रुहों को बेजा तक़लीफ़ दी जावे। उनमें सही खिदमत का ही एलान किया गया है। परमेश्वर या ख़ुदा किसी की मलकीयत नहीं। उस ज्ञात-ए-आला[५] से ही सब रोशन हो रहे हैं। इस जात-ए-आला से जो मुन्किर[६] हुआ है वह ही काफ़िर[७] है।

"मालिक के नूर को वह ही मोमिन या तालिब समझ सकता है जिसकी निगाह में दुई यानी रियत नहीं है। जो सब चरिन्द, परिन्द[८], इन्सान हैवान में मालिक की जात को देखता है, वह अपने पीरो-पैगम्बरों को मानने वाला है । वह हर एक के साथ मुहब्बत प्रेम से बरताव करने वाला है। जिस हाल में ख़ुदा रक्खे उसमें रहने वाला है। यानी राजी- बरज़ा[९] होकर धन दौलत दिल और जिस्म सब ख़ुदा की चीज़ जानने वाला है। जब सब कुछ उसका है तो फिर उस पर गुरुर करना ही कुफ़ है। यानी बीना[१०] से देखना चाहिये कि इस दुनिया में मेरी 'ऐसी कौन-सी चीज है जो ख़ुदा के नाम पर उसे दे सकते हैं ? नफ़्स को खातिर मेहर को छोड़कर क़हर को अपनाना, जिंदा चीज़ को मारकर हलाल कहकर खाना अपना मारा हुआ हलाल और खुदा का मारा हुआ हराम करार देना कहाँ की अक्लमन्दी है ? यह तेरी हवस[११] का सारा तमाशा है जिसका नतीजा खुशी और गमी है तक्बीर पढ़नी है तो हिरस और खुदी पर पढ़ जिस पर साहिब राजी हो जो नित ही रजा-ए-अल्लाह में मुस्तगरिक रहने वाले हैं उनकी गफ़लत खत्म हो जाया करती है। जो खुदी में रहने वाले हैं वे कभी भी दिल को राहत को न पा सकेंगे। खुदा आप सबको ईमान, सब्र और आजजी[१२] बख्शे !"

---

१. परम सत्य वाला २. अधीन कर लिया ३. पवित्र ४. वासना ५ परमसत्ता ६. न मानने ७. नास्तिक ८. पशु-पक्षी ६. हर हालत में सन्तुष्ट १०. आँख ११. तृष्णा १२. विनम्रता

इस उपदेश को सुनकर मुसलमानों पर बहुत गहरा प्रभाव हुआ। कहने लगे कि अगर ऐसे वायिज़ हो तो तास्सुब की आग खत्म हो सकती है।

(१७ जनवरी, १९५१-स्थान तरनतारन)

जन्म से लेकर मरने तक जीव कुछ न कुछ करता रहता है। सब शरीर- धारी जिया-जन्त (जीव-जन्तु) कर्मचक्र में रात-दिन लगे रहकर शारीरिक- यात्रा का समय व्यतीत कर जाते हैं। और जीवों को छोड़ो, सिर्फ इन्सानी जामे का ही विचार करो - किस कदर यह करम-जन्तर (कर्मयन्त्र) में ग्रसा हुआ है ? इसे कोई होश नहीं कि यह शरीर क्या है ? इसमें बोल क्या चीज रही है ? पैदा होकर आखिर खत्म हो जाता है। मगर इसे पता नहीं लगता कि आना किधर से हुआ है और जा किधर रहा है। खाने-पीने, देखने-सुनने और अनेक तरह के कर्म करने को इसे जन्म से ही सोझो (सूझ) है, लेकिन अच्छा कर्म क्या होता है और क्या बुरा-इसका इसे कोई पता नहीं होता।

मानुष का जन्म बड़ा श्रेष्ठ है। इस जामे के कारण उस परम तत्त (तत्व) अविनाशी परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है। मगर नित ही शरीर के परायण होकर ऐसी अज्ञानता में एक हो गया है कि इसे अपने पराये का भेद पता ही नहीं लगता। लोभ और मोह के वश में होकर के अनेक तरह के कुकर्म भी कर जाता है। हर जगह, हर समय हर शरीर में इसे सुख भी और दुःख भी मिलते रहते हैं। प्रारब्धकर्म ही हर शरीर-धारी को ऊंचे-नीचे ले जाता है। ईश्वर ने विचार के वास्ते बुद्धि दे रखी है। जो जीव सांसारिक भोग-पदार्थों के सुखों को हासिल करने के वास्ते ही सब कुछ निछावर कर देते हैं, उन (सुखों) को ही प्राप्त करना बड़ा काम समझ रखा है, यह उनकी परम अज्ञानता है। जीवन यात्रा का आधा हिस्सा तो सोने में ख़त्म कर देते हैं। और जब शरीर को बुढ़ापा आ घेरता है तब कुछ करने धरने की शक्ति नहीं रहती। रात-रात सोचने में ही गुजर जाती है। इस कर्म चक्कर में जकड़ा हुआ जीव दुःख पर दुःख सहता है, उसका सारा समय बेज़ारी में गुजर जाता है। पिछले सुखों को

याद करके कल्पने लगता है और आगे इससे कुछ नहीं बनता। मौत सामने नजर आने लगती है। जो कुछ जीवन में माल-धन इकट्ठा किया था उसे पुत्र-कल बरबाद करने लग जाते हैं। आप तो जिन्दगी में न स्वाद से कुछ खाया न पहना, न पुण्य-दान किया, न सेवा में खर्च कर सका। उस समय दूसरों को इस तरह देख मन ही मन कुढ़ता-जलता है, मगर कुछ कहने पर भी उसकी कोई नहीं सुनता। मोह-ममता में पड़कर सारी उम्र कोई अच्छा काम न कर सका, बल्कि केवल धन इकट्ठा करता रहा। परिवार का फैलाव करता रहा, जायदाद खड़ी करता रहा। यह समझ ही न आई कि यह असली रास (सम्पत्ति) नहीं है। झूठ-कपट, छल-फ़रेब द्वारा धन इकट्ठा कर भी लिया तो क्या हुआ ? यह सब रास इस जगह रह जाने वाला है। उसे यह पता ही नहीं लगा कि जीव की असली रास नेक अमाली (शुभकर्म) है। जब जिन्दगी में कोई अच्छा कर्म ही न बन सका, किस तरह अगले आने वाले समय में सुख को अनुभव कर सकेगा ?

बीजे पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाये

आम तौर पर हिन्दुस्तान में, खास तौर पर हिन्दू जाति में, यह विश्वास- सा बना हुआ है कि मरने के बाद बेटे-पोते हमारा कल्याण कर देवेंगे। जब जीवन में ही तेरा बिस्तरा चारपायी बाहर बरामदे में कर देते हैं, आवाजें देने पर भी नहीं बोलते, और अगर कोई बोलता भी है तो कह देता है कि बूढ़े की मति मारी गई है, इसे अब भी खाने का लालच बना हुआ है, ऐसे बेटे पोते मरने के बाद तेरी क्या गति करायेंगे ? जिनके वास्ते बड़े चाव से बड़े-बड़े आराम आसाइश के सामान इकट्ठे करता था, वे दाल-रोटी देने में भी लाचारी समझ रहे हैं। यह संसार है, कोई बेटा-पोता, धेवता सहारा नहीं बन सका। जब मरता है, पीछे घोड़ियों पर चढ़ाकर चंवर झुलाते हैं, बड़े-बड़े सुन्दर कपड़े मुर्दे पर डालकर बाजार से गुजारते है ताकि दुनिया वाले 'वाह-वाह' करें। जिन्दगी में तो उसे पूछा तक न मर गया बाजे-गाजे बजाने शुरू कर दिये। ये बातें

रोज आम देखने में आ रही हैं। जीवन में जो कुछ किया-जप-तप, सेवा- सिमरण, पुण्य-दान वही सहायता करने वाला है।

जो यह समझते हैं कि चार दिन की यह जीवन यात्रा है, इसमें कुछ भला कर्म करने से ही कल्याण हो सकता है, वे ही बाहोश बुद्धि हैं-जो ठीक सोच कर ठीक ही चलते हैं। ऐसे भी बेहोश बुद्धि वाले संसार में बहुत हैं जो बिना सोचे समझे ही चलते हैं। कई जीव ऐसे भी होते हैं जो समझते ठीक हैं, मगर करते वक़्त लोभ-मोह के बस होकर गलत काम कर जाते हैं। स्वतन्त्र बुद्धि वाला पुरुष वह ही है जिसने ठोक बजाकर सत् को समझा है और चलते समय इससे भी ज्यादा होशमंदी से सत् में दृढ़ होने का यत्न करता है। वह ही बड़ी अक्ल वाला मनुष्य है। जब तक अविनाशी तत्त्व में पूर्ण निश्चय नहीं बैठ जाता, तब तक कैसे आगे क़दम चल सकता है ? दीनदयाल ही सब जीवों को निर्मल बुद्धि दें ताकि अपने भले-बुरे का अच्छी तरह विचार कर सकें। जितना समय शरीर ने भोगों को भोगा है वह तो समझो कि काल के मुख में चला ही गया। आगे का क्या भरोसा है ? इस वास्ते इस जीवन में ही मालिक को याद करके सफलता प्राप्त करें। मानुषजन्म का परमलाभ इसी में है।

उपदेश की समाप्ति पर एक प्रेमी ने प्रश्न किया, "महाराजजी, संसार का मोह कब खत्म होगा ? एक चीज में फंसा हुआ चित्त हो तो उसे हटाकर प्रभु-नाम में लगायें। अनेक तरह के संकल्प-विकल्प समुद्र की लहरों की तरह पैदा होते रहते हैं। बहुत सोच-समझकर क़दम उठाते हैं, मगर फिर भी परेशानियाँ उसी तरह खड़ी रहती हैं। बड़े-बड़े सुख के सामान मौजूद हैं, मगर फिर भी दूसरों का माल हड़प करने के लिए दौड़ रहे हैं। सारा दिन अदालत में गुजरता है-वहाँ रंग- रंग के हालात देखने में आते हैं। विचार आता है प्रभु की कैसी लीला है यह ?"

उत्तर- "प्रेमी, इस मन की कल्पना का बे-अन्त विस्तार है। मन में ही ऐसी द्वैत दृष्टि भरी हुई है जिस करके काम-अन्धकार बढ़ता जाता है। एक जीव

की ही ऐसी हालत नहीं है; सब संसारी जीवों के अन्दर इच्छा का चक्कर चल रहा है। मन करके ही अपना-पराया नजर आता है। मन करके ही पकड़ना और छोड़ना यानी ग्रहण और त्याग है। दुःख-सुख जिस कदर महसूस हो रहा है, मन करके ही है। मन करके पुण्य-दान में प्रवृत्त होता है। मन में अनेक तरह के मनन होते रहते हैं। मन की भटकना ही संसार है। अज्ञानता की फांसी मन की कल्पना ही है। ज्यों-ज्यों संसार को देखता है, नये से नया रंग नजर आता है। जिसने मन को अपने हाथ में कर लिया है-यानी प्रेम, श्रद्धा और विश्वास से प्रभु - सिमरन (स्मरण) में लगा दिया है-उसका मन एकाग्र होकर डोलने से रहित हो जाता है-बार-बार बाहर नहीं दौड़ता बिना प्रभुनाम सिमरन के मन की तपिश और चंचलता दूर नहीं होती। सारी सृष्टि मनोमाव है। जब तक मन में संसारी पदार्थों की ममता है-मैं-मेरी की भावनायें अन्दर खड़ी हैं-तब तक जीव जकड़ा हुआ है ।"

"इस बन्धन से छुटकारा पाने के लिए ही ईश्वरभक्ति है। जिस वक्त मौन रूप को समझ जायेगा, निर्मल चित्त से अपने-आपको प्रभु-परायण कर देगा, उस समय सारे संसार का मोह लोप हो जायेगा। संसार की अचरज लीला को कौन नाप-तोल सकता है? दीनदयाल के परायण होने में ही छुटकारा है । अपने छुटकारे का विचार करें। अनन्त जीवों के अनेक तरह के झगड़े कौन निपटा सकता है ?"

"बारम्बार अपना भरम निवारण करने की कोशिश करें। आम दुनिया संसार को सत् मानकर तपायमान हो रही हैं। मगर ईश्वर को सत् जानने वाले विरले ही होंगे।"

"असल में सच्ची खुशी मन की लीनताई में है। उस अवस्था को पाकर मन सब द्वन्द्व विकारों से निर्विकार हो जाता है। जिस समय आप शरीर की ममता को तप ध्यान द्वारा खत्म करेंगे तब जाकर समताशान्ति अनुभव होगी

तब चित्त ठण्डा हो जायेगा।

एको एक सब माहीं दरसावे,
सरब माहिं देखे एक प्रभुताई।
इक प्रभ चरणी पायो विश्वासा,
जाये निर्भय धाम समाई॥
कर्म बन्ध सकल भयो पूरा,
धुर मकाम जाये वासा पायो।
'मंगत' पूरण प्रभु के मेल से,
नित ही नित आनन्द समायो॥
ममता अन्धकार विनासया,
पाये दिव्य दृष्ट अन्तर माहीं।
'मंगत' समतत्त परकाश से,
भय भरम सब जाईं॥

"सब ऋषियों, मुनियों ने समभाव को महिमा गाई है। समताबुद्धि जिस समय प्राप्त हो जाती है जीव निर्भय हो जाता है। निर्भयता ही असली जीवन है। जरा गौर करके देखो तो पता लगे कि सब जीया-जन्त को तृष्णा ने तपायमान कर रखा है शरीर खत्म हो जाते हैं, तृष्णा नहीं मरती। असली ममता का रूप तृष्णा ही है।"

अध्याय – १२

'लाली देखन मैं चली.....'

(क) दिसम्बर सन् १९४३ की बात है। गुरुदेव दौरांगला (जि० गुरुदास- पुर) में पधारे हुये थे। गाँव के बाहर एक कुएं के पास कमरे में आप ठहरे हुये थे। एक दिन धूप में बैठे थे कि एक महात्मा वहाँ आ पहुँचे। वृद्धावस्था में कब के प्रवेश कर चुके थे। देखते ही गुरुदेव ने भगतजी को आसन बिछाने की आज्ञा दी। आसन ग्रहण करने के बाद महात्माजी ने पूछा, "जिस आनन्द में महात्मा लोग रहते हैं उसकी महिमा क्या है ? क्या इसे आंखों से देखा जा सकता है ? वाणी से कहाँ तक व्यक्त कर सकते हैं ?"

गुरुदेव ने उत्तर वाणी में दिया :

जी सरूप को अखयगत कहिये। ता की उस्तत एह विद्ध लइये।
कहे कोई जन परम तत्त ऐसा। जो बूझे सो होये वैसा ||
कहत सुनत कुछ अचरज बाता। सदा इस्थर नहीं दोष को खाता ।।
तन मद्ध सो रहे समाई। बिना सोभाओ नित रमणाई ।।
तन की ममता मन को भरमावे। मन को अस्थिरता देह वञ्जावे ।।
तन मन दोनों शब्द में लीना। 'मंगत' तबभेदतत्त्वज्ञानकाचीन्हा ।।

सुनते ही महात्माजी ने चरणों में नमस्कार किया। कहने लगे, "महाराजजी,

बड़े ऊंचे भाग्य थे जो ईश्वरकृपा से आपके दर्शन अपने आप ही हो गये। ऐसे तत्त्वभेदी सत्पुरुषों के दर्शन कहाँ होते हैं ? धन्य है यह समय जगह और ये लोग जो आपका दर्शन पा रहे हैं! प्रभु, कृपा करें।"

गुरुदेव : देवताजी, कहना बनता ही नहीं। क्या कहा जाये ? जिसने प्राप्त कर लिया उसी का रूप हो गया। कहने-सुनने में परमतत्त्व आ ही नहीं सकता । इन्द्रि अगोचर इसीलिए इसको कहा गया है। उस आनन्द की अवस्था का ब्यान किसके आगे किया जाये ? कौन इन बातों पर ध्यान देता है ? पहले समय में सन्तमण्डलियां नित्य तत्त्वज्ञान का आपस में विचार करती थीं। आज वह समय आ गया है कि जहां चार सन्त बैठ गये तम्बाकू को खैर नहीं। बड़े भाग्य जो आप गुरुमुखों के दर्शन हो गये। जिस सुख के लिए जीव यत्न- प्रयत्न कर रहा है वह सुख वास्तव में साधुसंगत और सत्संग में है। न ही जीव से मोह छूटता है और न ही वह सत्-मार्ग पर आता है। शरीर तो समय पर नाश हो जाने वाली चीज है। यह इसका धर्म है। मूर्ख जीव इसमें मुस्तगरक होकर असली सुख से दूर रहते हैं। कोई ही बड़भागी (भाग्यशाली) जीव सत्संग से प्रीत (प्रीति) रखता है। अब तो लेखा ही खत्म है। साधु- समाज ने जब अपना नियम धर्म छोड़ दिया तब जनता क्या करे ? तप, तेज द्वारा ही जीवों में श्रद्धा विश्वास पैदा हो सकता है। ईश्वर सबको सुबुद्धि देवें ।"

महात्माजी कुछ समय बाद प्रणाम करके चल दिये। गुरुदेव कुछ पग उनके साथ गये और भगतजी को उन्हें छोड़ आने की आज्ञा दी। रास्ते में महात्माजी ने पूछा, "भगतजी, महाराजजी का आहार क्या केवल चाय ही है।"

भगतजी के कहने पर कि गुरुदेव केवल एक बार चाय ही ग्रहण करते हैं, महात्माजी बोले, "यह भी आप लोगों के लिए एक बहाना बना रखा है। ऐसे

पुरुष तो केवल पवन पर ही बरसों रह सकते हैं। बड़े भाग्य से तुझे चरणों में जगह मिली हुई है। नहीं तो ऐसे पुरुष कहाँ किसी को पास बैठने देते हैं ?"

गांव तक छोड़कर जब भगतजी लौटे तो गुरुदेव कहने लगे, "कोई-कोई किसी न किसी जगह दाना है ही ! अच्छा खोजी प्रेमी है।"

(ख) मार्च १६४४ गोलड़ा (जि० रावलपिण्डी) । एक खड्ड के पास एक मन्दिर में एक महात्मा ठहरे हुए थे। वे दिन-भर उस मन्दिर में ही रहते थे। रात में कभी बाहर निकलते थे। लोगों का कहना था कि उन्होंने बारह वर्ष से मौन रखा हुआ था। किसी से कोई बातचीत न करते थे। उनका आहार सप्ताह में ढाई सेर दूध और ढाई सेर दही था। प्रत्येक रविवार को दो भक्त सुबह आठ बजे उनके लिए रावलपिण्डी से दूध और दही ले आते थे दूध और दही को मिलाकर पिला देते और दर्शन करके चल देते। बाकी छः दिन न तो वे कुछ खाते थे और न ही किसी से मिलते-जुलते थे।

शहर में महात्माजी के सम्बन्ध में बहुत ही कम लोगों को ज्ञान था। वे सबसे अलग रहकर अपनी ही मौज में लीन रहते थे। एक दिन गुरुदेव ने भगतजी को महात्माजी के पास चलने की आज्ञा दी। सुबह का समय था। स्नान करके भगतजी साथ चल दिये। महाराजजी की आज्ञानुसार मन्दिर का द्वार खोला। मन्दिर में प्रवेश करके भगतजी ने गुरुदेव के लिए आसन बिछा कर उन्हें बिठा दिया। वे स्वयं भी एक ओर बैठ गये। महात्माजी किसी पुस्तक का स्वाध्याय कर रहे थे। उनके तेजस्वी व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भगतजी कहते हैं, " (महात्माजी का शरीर बहुत कोमल था। सफ़ेद धोती पहने हुए थे ऊपर सफ़ेद चादर थी। क़द लम्बा था। शरीर की नाड़ी-नाड़ी नज़र आ रही थी। मुखमण्डल अत्यन्त तेजस्वी था। बड़ा आकर्षण था उसमें।"

बैठते ही गुरुदेव ने महात्माजी को हाथ जोड़कर नमस्कार किया। भगतजी

ने प्रणाम किया। हाथों के इशारे से ही दोनों ने कुशल- समाचार पूछा। गुरुदेव ने वहां पड़े कागज-पेंसिल उठाकर चट से एक दोहा लिखा और महात्माजी के सम्मुख रख दिया। वह दोहा था :

कौन देस किस जा से तुम आई।
किस कारण यह भेख बनाई ॥

महात्माजी ने भी एक दम लिखकर उत्तर दिया-

न देस ने बिदेस से आई।
समतत्त भेख मे नित रमनाई ॥
कारण अकारण कोई न सूझा |
तुम किरपा से पाई समपूजा ॥

गुरुदेव ने फिर लिखा :

किस जुगत कर यह परमपद पाया।
किस गुरु ने गुह्यज्ञान समझाया ॥

उत्तर में महात्माजी ने लिखा-

प्राण अपान ने सत्सुख लाया।
शब्द गुरु से परम पद पाया ॥

इतना लिखकर महात्माजी मुस्कराये। फिर कागज हाथ में लेकर एक पंक्ति और जोड़ दी और कागज गुरुदेव के आगे रख दिया। वह पंक्ति थी : "समता तत्त (तत्त्व) के आगे चिद्धन हो है। ड्यूटी न होने की वजह से इस तरह ख़ामोशी में शारीरिक अवस्था का समय व्यतीत किया जा रहा है। अब न जाने का गम है, न आने की ख़ुशी।"

उत्तर पढ़कर गुरुदेव उठे। हाथ जोड़कर बाहर निकल आये। महात्माजी भी बाहर निकले और गुरुदेव को नमस्कार करके वापस चले गये और द्वार बन्द कर दिया।

रास्ते में गुरुदेव ने भगतजी से पूछा, "प्रेमी, क्या देखा ?"

भगतजी बोले, "आपकी गति आप ही जानें। महापुरुषों से दुनिया खाली तो नहीं है। मगर आपने तो जीवों पर बड़ी दया कर रखी है। आप भी इसी तरह ख़ामोशी इख्त्यार करके किसी कोने में बैठ जाते तो हम जैसे मूर्खों को किसने ठिकाने लगाना था।"

गुरुदेव कहने लगे, "प्रेमी, अच्छी ऊँची रहनी और स्थिति वाले महात्मा हैं। शहर में बहुत कुछ जाकर नहीं कहना कि इस तरह वार्तालाप हुआ था। मौज में इनको रहने दो।"

(ग) मई सन् १६४५। गुरुदेव काश्मीर में सरूपा नामक वन में तप के लिए ठहरे हुये थे यह वन जितना ही सुन्दर था उतना ही भयानक रीछ और चीतों से भरा हुआ। शारियाँ गांव के प्रेमी फ़कीरचन्दजी ने यहाँ घर का- सा प्रबन्ध कर रखा था। इसीलिए वहाँ कुछ प्रेमी हर समय ठहरे ही रहते थे।

एक दिन सभी प्रेमी गुरुदेव के समीप बैठे थे। सद्विचार का प्रवाह चल रहा था। एक वृद्ध मुसलमान प्रेमी दूध लेकर पहुंचे। न्याज़ रखकर सलाम किया और अत्यन्त दीन-भाव से बैठ गये। गुरुदेव ने पूछा, "बाबा, किधर से आये हो ?"

बाबा बोले- साईंजी, आज ख्वाब में देखा कि इधर कोई फ़क़ीर आये हैं। दिल ने कहा, सलाम- दुआ के वास्ते जाओ। सुबह उठकर पता किया।

मालूम हुआ कि चौधरी फ़कीरचन्द के मुर्शिद इस जंगल में आये हुए हैं-बड़े रब के बन्दे हैं। आज सुबह चार बजे वहाँ से चल पड़ा। अब पहुँचा हूँ।

बाबा का घर कोई बारह मील दूर था। गुरुदेव ने पूछा, "लड़के कितने हैं ?"

बाबा- अल्लाह की दौलत दो हैं और सब ख़ुदा की मेहर है।

गुरुदेव - रास्ते में जंगल है। डर नहीं लगा ?

बाबा- पीरजी, बन्दे के साये से सब चीज डरती है-अगर बन्दे के अन्दर जरा ख़ुदा का खौफ़ हो तो ! जब इसके अपने ही फ़ेल (कर्म) दूसरे को नुकसान पहुँचाने वाले होते हैं तब दूसरी चीजें इस पर हमलावर होती हैं। बाक़ी जंगली जानवर अपने-अपने उसूल में हैं। बन्दा ही बेउसूली कर जाता है। देखिये यह बनखोड़ी दरख्तों की धार लगातार एक जैसी जा रही है। दूसरी तरफ़ तिलपतरा है; तीसरी तरफ़ दयार है। जिस तरफ़ दयार है वहाँ दूसरा दरख्त नहीं है। अपने से दूसरे स्वभाव वाले को ये भी शामिल नहीं होने देते। जिनको हम बेजान कहते हैं उनको भी इतनी समझ है । बन्दा ही नेक़-ओ-बद अपना स्वभाव बना लेता है हालांकि अश्रफ़उल्मख्लूकात है।

गुरुदेव – बाबा, तुम बड़े अच्छे फ़क़ीर ऋषि लोग हो जंगलों में रहते हो; ख़ुदा की याद करते हो और उसकी रजा में दिन निकाल रहे हो।

---

१. श्रेष्ठतम जीव

अपने फ़ेल[१] की सज़ा-जज़ा हर रूह पा रही है। अच्छे फ़ेल से अच्छी आदत बनती है, खराब फ़ेल से खराब। ख़ुदा सबको नेक समझ, नेक फ़ेल बख्शे।

बाबा- पीरजी, दुआ करें-ख़ुदा ईमान और सब बख्शे।

गुरुदेव - खुदा हर एक पर मेहर करने वाला है। यकीन रखो।

इतना कहकर गुरुदेव ने प्रेमी फकीरचन्दजी को आज्ञा दी, "बाबा को कुछ खिलाओ-पिलाओ।"

(घ) जनवरी सन् १९४७- स्थान अबोहर। उन दिनों जो भी आता अक्सर दंगे- फ़साद के सम्बन्ध में ही बात करता। वातावरण ही ऐसा आतंकमय था कि लोग परमार्थ की बात कर ही न पाते थे। लेकिन एक दिन एक विचित्र घटना घटी। गुरुदेव समाधि में बैठे थे। दोपहर के दो बजे के आस-पास का समय था। उस समय एक प्रेमी वहां आ बैठा। कपड़े मैले और फटे-पुराने थे। देखने में बिल्कुल ही साधारण आदमी लगता था।

उसे देखते ही गुरुदेव ने पूछा, "सुनाओ, प्रेमी कहां रहते हो ?"

उसने झट से कहा, "गुरुजी यहाँ (अपनी छाती पर हाथ रखकर) रहता हूँ। थारी (आपकी बड़ी दया है।"

इतना कहते ही उसका शरीर कांपा और उसने आँखें बन्द कर ली। गुरुदेव उसकी ओर देखते रहे और मुस्कराते रहे।

---

१. कर्म

थोड़ी देर में उसने आंखें खोलीं और कहा, "थारी बड़ी किरपा है। समाँ काटने के लिये थोड़ा ईंटों का धंधा कर लिया जाता है और कुछ न चाहिये !"

इतना कहकर प्रेम से नमस्कार करके प्रेमी चला गया।

गुरुदेव कहने लगे, "गुदड़ियों में लाल इसी तरह छिपे रहते हैं। मस्ताने इन्हीं को कहा जाता है। प्रेमी, क्या तूने इसे पहले भी देखा है ?"

भगतजी बोले, "रोज सुबह चार बजे से पहले कुएं से पानी की बालटी लेने आते हैं। खुद कुएं से निकाल कर ले जाते हैं। एक दिन जब मैं पानी लेने गया तो यह भी वहीं खड़े थे। इनके पांव के पास ही रस्सी पड़ी थी। मैंने रस्सी उठाने के लिये ज्यों ही हाथ नीचे किया त्यों ही यह पीछे हट गये। उन्होंने समझा कि मैं उनके पाँव छूने लगा हूँ। कहने लगे, "गुरुजी, मैं तुम्हारा दास हूँ।' तब से मैं सोचता रहा हूँ कि यह कोई अच्छे आदमी हैं। नीचे जहां पानी पड़ा है, वहां यह ईंटें थापते रहते हैं। वे कच्ची ही बिक जाती हैं। दूसरे लोगों से भी सुना है कि यह किसी से ज्यादा बात-चीत नहीं करते।"

यह सुनकर गुरुदेव बोले, 'प्रेमी, ज्यादा बात-चीत में क्या रक्खा है ? अपने- अपने स्वभाव में ही फ़क़ीर लोग विचरते रहते हैं। जहाँ भी मेरा मालिक मेहर कर दे ! अमीरी-गरीबी उसके दरबार में नहीं है। हर तरह की गरीबी ही अच्छी रहती है जो कि इस पद तक पहुंचा देती है। अच्छे आदमियों से धरती खाली नहीं रहती। बाक़ी चेताने वाले फ़क़ीर तो बहुत कम होते हैं। वह अवस्था ही ऐसी है जहाँ जाकर चुप लग जाती है।" जो कमाई करते हैं। पहुँच ही जाते हैं। प्रेमी इसी तरह खोज करते रहा करो। "

इतना कहकर गुरुदेव मस्ती में आकर वाणी का उच्चारण करने लगे लेकिन वह वाणी तब नोट न की जा सकी थी।

(ङ) जून १९५०-स्थान श्रीनगर, काश्मीर। एक प्रेमी, पण्डित राधाकृष्ण, एक मदहोश से महात्मा को साथ ले आये। पण्डितजी ने गुरुदेव को प्रणाम किया; लेकिन महात्माजी खड़े रहे। गुरुदेव ने झट-पट आसन की लोई (कमली) निकाल कर अपनी बाई ओर बिछाई और महात्माजी को बैठने के लिये निवेदन किया साथ में भगतजी को कहने लगे, "तुझे होश होनी चाहिये ! इनका मुंह देखे जा रहा है !"

पण्डित राधाकृष्णजी कहने लगे, "महाराजजी, यह बड़े सिद्धपुरुष हैं। रास्ते में दर्शन हो गये। साथ लेता आया।"

भगतजी ने अनेक बार महात्माजी से कुछ खाने की प्रार्थना की, लेकिन उन्होंने कोई उत्तर न दिया- केवल एक टक उन्हें देखते रहे। फिर बोले, "टट्टी खानी है-बना दो।" फिर बार-बार इन्हीं शब्दों को दोहराने लगे। पण्डितजी ने तब उन्हें कुछ काश्मीरी में कहा। तब बोले, "टट्टी अच्छी हो ! दो रोटियाँ और प्याज की चटनी-काली मिर्च वाली लाओ ! "

भगतजी ने आटा मलकर रोटियाँ पकाई। साथ में चटनी भी तैयार की। महात्माजी ने उन चपातियों को हाथ पर रख लिया। चार टुकड़े चारों ओर फेंक कर कहा, "टट्टिये नमः।" फिर बोले, "टट्टी खाऊँ ?" इस तरह कहते-कहते चार-छः ग्रास खाये और बाकी जो बचा था उसे पास ही पेड़ के तने के साथ रख दिया और कहने लगे, "टट्टी लाओ ! पिऊँ !"

इस सारी घटना को गुरुदेव देख रहे थे। कहने लगे, "इस अवस्था का किसी दूसरे को लाभ नहीं होता। इन्हीं को अवधूत कहते हैं। तन की भी सुध नहीं; वर श्राप भी नहीं दे सकते !"

पण्डितजी कहने लगे, "लोग इनको बहुत तंग करते हैं। हिन्दू-मुसलमान

पास बैठे रहते हैं। एक शब्द जो मुंह से निकला-निकलता चला जाता है। वैसे इनके शब्दों के अक्षर बनाकर लोग कई प्रकार के अन्दाज लगाते रहते हैं।"

इस बात को सुनकर आप बोले, "काश्मोर की धरती ऋषि भूमि है। यहाँ किसी समय कश्यप ऋषि ने तप किया था। उस समय इस धरती के तीन भाग में जल था। अब संसारियों ने सारी धरती घेर रखी है। कोई समय था जब यहाँ हर कोई ऋषि होता था।"

यह सुनकर पण्डितजी एक महिला संत लालदेवी के सम्बन्ध में चर्चा करने लगे। कहने लगे कि लालदेवी के वचन काश्मीरी भाषा में बहुत प्रसिद्ध हैं, जिन्हें लोग बड़े प्रेम से पढ़ते हैं। उन्होंने एक वाक्य बोला जिस का अर्थ था, "मैंने किसी बच्चे को जन्म नहीं दिया; न ही मैं खुद पैदा हुई। मैंने सोंठ नहीं खाई। मैं छः के पीछे हुई और सात के आगे हूँ।"

इस बुझारत को सुनकर गुरुदेव कहने लगे, "जिस तरह गीता का अर्थ कृष्ण ही जानते हैं, उसी तरह इस बुझारत का अर्थ भी कोई संत ही समझ सकता है। बहुत ऊंची स्थिति को देवी हुई हैं। संत-साधु का तब ही पता चलता है जब कि वह कुछ बोले।"

सुनकर पण्डितजी बोले, "अगर आप भी गुमसुम हो जाते, तो जीवों का कैसे कल्याण हो पाता ?"

गुरुदेव ने इस प्रश्न का कोई उत्तर न दिया।

अध्याय – १३

कुछ प्रारम्भिक शिष्य

(१) सन् १९४६ - गुरुदेव झंग नामक स्थान में पधारे हुये थे। पहले ही दिन साँझ को सत्संग में गुरुदेव ने आहार और व्यवहार की शुद्धि पर उपदेश दिया। आपने कहा कि जब तक आहार और व्यवहार की शुद्धि नहीं होती तब तक धर्म के मार्ग की पहचान नहीं हो सकती। तमोगुणी आहार कभी भी बुद्धि को निर्मल नहीं होने देता। मांस खाने वाले का स्वभाव नित्य ही खोटे कर्म करने पर मजबूर करता है; कपट आदि अवगुण जीव को घेर लेते हैं। इस प्रकार उसकी बुद्धि दिन-प्रतिदिन खोटी बनती जाती है। ज़ाहरन इन अवगुणों द्वारा जीव को कुछ माया मिल भी जाये तो भी वह सदा नहीं रहा करती। आते समय माया बड़े रंग दिखलाती है लेकिन जाते समय चक्कर चलाती है। जब तक आहार निर्मल और व्यवहार शुद्ध नहीं होता तब तक कभी भी मन को शान्ति नहीं मिल सकती।

सत्संग के बाद एक प्रेमी ने कहा, "महाराजजी, भोजन कल मेरे यहाँ ही ग्रहण कीजिये।"

गुरुदेव : प्रेमी, इनका भोजन खत्म हो गया है। केवल चाय एक समय लेते हैं।

प्रेमी : तो चाय ही ग्रहण करने की कृपा करें।

गुरुदेव : पहले अपने-आपको देख ! चाय तेरी तब पियेंगे जब तू फकीरों जैसा बन जाएगा या फकीरों को अपने जैसा बना लेगा। अच्छी तरह विचार करके फिर कहना।

प्रेमी : चाय तो जरूर ही पिलाऊंगा, तभी शांति मिलेगी। सेवक जरूर इन चीजों को छोड़कर चाय पिलाएगा।

प्रेमी का नाम मुकुन्दलाल था। शराब के साथ जूए का भी शौक था। कोयटा, अमृतसर और दिल्ली तक जुआ खेलने जाते थे। जूए से खूब दौलत कमाई थी। बड़ा-सा मकान बना लिया था। आएदिन महफिलें जमाये रखते थे। गुरुदेव की डांट से कट से गये। रास्ते भर एक ही ख्याल आता रहा कि क्या मैं इस क़ाबिल भी नहीं कि किसी फ़कीर को दो घूंट चाय पिला पाऊं। उस दिन को याद करके कहने लगे, "एक तो इस बात से हैरान था कि महाराजजी ने मेरी जिन्दगी की बातें कैसे जान लीं। दूसरे अपने पर बेहद ग्लानि हो रही थी। रात के अंधेरे में अकेला ही जा रहा था। केवल एक ही बात का ख्याल आ रहा था- क्या मैं इतना गया बीता हूँ कि महाराजजी मेरी चाय भी ग्रहण नहीं करेंगे ? सोचते-सोचते पागल सा हो रहा था। एक ही जूनून था कि महाराजजों को चाय जरूर पिलानी है। रास्ते में पहाड़ भी बड़ा हो जाय तो उसे भी तोड़ डालूं।"

घर पहुँचकर खाना खाने को जी न कर रहा था। रात भर बिस्तर पर करवटें लेते रहे देह पसीने से तर हो रही थी- किसी प्रकार सुबह हुई। मन को चैन न था। दोपहर बाद फिर गुरुदेव से मिलने चल दिये। वहाँ गुरुदेव के लिये एक एकान्त स्थान में टैंट लगवाने की बात चल रही थी। मुकुन्दलालजी ने टैंट लगवाने की आज्ञा मांगी। गुरुदेव ने उत्तर दिया, "तुम तकलीफ़ न करो।" मुकुन्दलाल कहने लगे, "महाराजजी, चाय भी आप इस सेवक की नहीं ग्रहण करते और यह सेवा भी नहीं करने देते। महाराजजी, आप आए

तो मेरे लिये हैं और सेवा कोई और करे.... !"

गुरुदेव सुनते रहे कोई उत्तर नहीं दिया। मुकुन्दलाल जब वापस हुए तो गुरुदेव ने भगतजी को उनके पीछे भेजकर कहलवाया कि जब तक तुम अपनी सफ़ाई पेश नहीं करोगे तब तक तुम्हें सेवा का अवसर नहीं दिया जायेगा। मुकुन्दलाल कहने लगे, "मैंने तो महाराजजी को गुरु धारण कर लिया है। दिल से तो मैंने कल से ही माँस-शराब का त्याग कर दिया है। जूए की यह जो बीमारी है— उसके बारे में भी सोच रहा हूँ। सिगरेट भी पीता हूँ। तुम ही मेरी सिफ़ारिश कर दो।"

रात सत्संग में गुरुदेव ने संसार की असारता और इन्द्रयभोग की कामना से उत्पन्न अनन्त दुःख के सम्बन्ध में उपदेश दिया। सत्संग के बाद एक प्रेमी कहने लगे, "हमारे हिन्दुओं के कितने ही धर्म है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ समझ नहीं आता किसे मानें।"

गुरुदेव "प्रेमी जरा सोचकर चलो तो झट फ़ैसला हो जाता है। जीव मात्र से प्रेम रखना, किसी का बुरा न सोचना, अपनी आत्मा सबमें जानना ही धर्म है। आत्मा और शरीर के भेद को समझने वाले ही धर्ममार्ग को जानते हैं। जो सब जीवों में अपनी आत्मा को जानकर हर एक की सेवा करने वाला है, किसी को मन-वचन से दुःख नहीं देता, वह ही धर्म के रूप को जानता है। सोचने की कोशिश करो, धर्म का मार्ग अपने आप मिल जायेगा।" यह कहकर मुकुन्दलालजी की ओर देख कर बोले, "प्रेमी, तुमने क्या समझा है ?"

प्रेमी आप मेरे ही लिये यहां आये हैं। मांस-शराब आज से छोड़ दिया है। अपने दोस्तों को भी कह आया हूँ। सेवक पर कृपा करें।

गुरुदेव : प्रेमी, अभी यहीं हैं। जब चाय पिलाने वाले बन जाओगे तब देखा जायेगा।

एक दिन गुरुदेव ने तम्बाकू, चरस आदि के सम्बन्ध में विचार प्रकट किये। प्रेमी मुकुन्दलालजी ने जेब से सिगरेट की डिबिया निकाली और बाहर फेंक दी। गुरुदेव कहने लगे, "अभी तक तुमने यह बला पाल रखी थी ?"

प्रेमी बोले, "आज से सब छूट गया है। अब कृपा करें।"

प्रेमी मुकुन्दलाल अपनी जिद के पक्के थे। आखिर दीक्षा लेकर ही रहे। यह बात दिसम्बर सन् १९४६ की है।

प्रेमी मुकुन्दलाल के जीवन में भारी तब्दीली आ गई थी। शराब और जूए को बिल्कुल त्याग चुके थे। सेवा-भाव में जैसे डूब गये थे। गुरु- चरणों में असीम श्रद्धा थी, अथाह प्रेम था। मार्च सन् १९४७ में पंजाब में साम्प्रदायिक आग भड़क उठी। क्या गाँव, क्या शहर सभी उसकी चपेट में आ गये। गुरुदेव से सम्बन्ध स्थापित न हो रहा था। काफ़ी प्रतीक्षा के बाद पता चला कि वे काश्मीर में हैं। सारे इलाके में मारकाट हो रही थी। कल का कोई भरोसा न था। ऐसी हालत में भी मुकुन्दलालजी गुरुदेव के दर्शन करने चल दिये। श्रीनगर में गुरुदेव ठहरे हुये थे। पंजाब से भयंकर समाचार आ रहे थे। कुछ घटनायें तो दिल दहला देने वाली थीं। कई प्रेमी भी इस तबाही के शिकार हुये थे। ऐसी घटनाओं को सुनकर प्रेमी मुकुन्दलाल घबरा रहे थे। पीछे परिवार अकेला था और वह यहाँ आनन्द मना रहे थे। इधर परिवार का मोह जोर मार रहा था, उधर गुरुदेव जाने की आज्ञा नहीं दे रहे थे। स्वयं आज्ञा लेने की इच्छा न हो रही थी। प्रेमी हैरान थे कि ऐसी घटनाओं को सुनकर भी गुरुदेव जाने क्यों चुप हैं। अन्य लोगों के संकट की चर्चा तो वे नित्य ही करते रहते थे, लेकिन प्रेमी के परिवार का कभी जिक्र न करते

थे। पन्द्रह अगस्त का दिन निकट आ रहा था। जनता बेघर होकर भटक रही थी। पूर्वी पंजाब से मुसलमान निकलने शुरू हो गये थे और पश्चिमी पंजाब से हिन्दू | अनेक लोग कैम्पों में पड़े थे। मुकुन्दलालजी का अपने परिवार से सम्पर्क टूट चुका था। चिट्ठी-पत्री की कोई व्यवस्था न थी। उन्हें कोई पता न था कि उनके परिवार पर क्या बीती थी। गुरुचरणों का ही सहारा था। एक दिन जब धीरज टूट गया तो हाथ जोड़कर गुरुचरणों में अर्ज किया, "दास आज्ञा चाहता है। परिवार की कुछ खोज-खबर लेनी है। पता नहीं क्या हाल है उनका।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "प्रेमी, तुम्हें जाने की क्या जल्दी पड़ी है। ईश्वर पर विश्वास रखो।"

मुकुन्दलालजी ने आज्ञा का पालन किया और गुरुचरणों में ही पड़े रहे। इसी तरह पंद्रह अगस्त की तिथि भी गुजर गई। पंजाब का बटवारा हो गया। शरणार्थियों का आना-जाना पूरे जोर से शुरू हो गया। प्रेमी रोज ही भयंकर समाचार सुन रहे थे, तो भी गुरु आज्ञा का उल्लंघन करने की बात न सोच सके। न ही दोबारा घर जाने की आज्ञा मांगी। एक दिन गुरुदेव ने स्वयं ही कहा, "तुम्हें अपने परिवार की भी कुछ होश है ? जाकर खोज खबर क्यों नहीं लेते ?"

इस डांट को भी सिर माथे पर लगाया जैसे वे अपनी ही मर्जी से वहाँ टिके हों! आज्ञा लेकर चल दिये। पाकिस्तान में प्रवेश करना आसान न था। यातायात के साधन अस्त-व्यस्त हो चुके थे। जगह-जगह मार काट हो रही थी। बड़ी कठिनाई से अमृतसर पहुँच पाये। वहां के हालात देखकर कांप गये।

---

१. श्री मुकुन्दलालजी के सुपुत्र श्री मदनलालजी ने लेखक को बताया है कि जिस बस से प्रेमी जाना चाहते थे उस बस के यात्री रास्ते में ही कत्ल कर दिये गये थे।

अमृतसर स्टेशन पर रोज ही लाहौर से शरणार्थियों की गाड़ियां आ रही थीं। अनेक गाड़ियों में तो केवल लाशें ही होती थीं। लोग वहां से जान बचाकर आ रहे थे और प्रेमी वापस जा रहे थे।

एक दिन मुकुन्दलालजी के पिता उन्हें अमृतसर में ही मिल गये। पता चला कि प्रेमी का घर-बार जला दिया गया था और उनका परिवार लायलपुर में आ गया था। इस समय उनका कोई पता न था। पाकिस्तान जाने का कोई साधन न था। ख़ैर, किसी प्रकार मुकुन्दलालजी लायलपुर पहुँचे। परिवार तो बच गया था, लेकिन सारी सम्पत्ति लुट चुकी थी। केवल पत्नी के गहने बचे थे। परिवार को लेकर भारत पहुंचे। रोटी-रोजी का कोई ठिकाना न था। फिर से नया जीवन शुरू करने के लिये भटकने लगे।

प्रेमी के साझेदार, श्री सावनमलजी भी बिल्कुल लुटकर आये थे। मुकुन्द- लालजी ने आधा जेवर उनके हवाले कर दिया। संकट में भी साझेदारी निभाई। भारत आकर प्रेमी ने कुरुक्षेत्र में कुछ धंधा शुरू किया लेकिन पैर न जम पाये। जो भी काम करते थे उसमें घाटा ही रहता था। रही सही कसर तब पूरी हो गई जब गुरुदेव ने उन्हें कठिन परीक्षा में डाल दिया। श्री समता-विलास और समताविज्ञानयोग प्रकाशित करने की बात सोची जा रही थी। मुकुन्दलालजी को आज्ञा हुई कि वे भी कुछ सेवा करें। गुरुदेव सेवा के लिए कभी न कहते थे। लेकिन मुकुन्दलालजी को तो एक और परीक्षा से गुजरना था। प्रेमी ने भी कभी सेवा के लिए गुरुदेव से बहुत आग्रह किया था। आज उनकी वह प्रार्थना सुनी तो गई लेकिन अजीब हालत में। आज्ञा सुनकर प्रेमी घबरा गये। देने के लिए तो कुछ था नहीं। हाथ जोड़कर कहने लगे, "महाराज- जी, सेवक के पास देने के लिए कुछ गहने ही रह गये हैं। आज्ञा हो तो उन्हें बेच दूं।"

गुरुदेव ने कुछ बेरुखी से कहा, "हाँ, आधे एक बेच दो।"

साथ ही किसी बात पर ऐसी डांट पड़ी कि प्रेमी तिलमिला उठे। एक ओर जाकर कहने लगे, "सेवा तो मैं कर दूंगा, लेकिन फिर यहां कभी न आऊँगा।"

लेकिन और कौन सा ठौर था जहाँ जाते ? मानव मन की काली परतों का कहीं अन्त नहीं ! प्रेमी को स्वयं ही समझ आ गई कि उन्हें ऐसी डाँट क्यों पड़ी थी। सेवा और त्याग का अहंकार बड़ा पापी अहंकार होता है-अनजाने में वह उनके मन में प्रवेश कर रहा था। गहने बेच दिये। लगभग कंगाल हो गये। 'मेरी-मेरी' कहना बन्द करके गुरुशरण में आये। आशीर्वाद मिला। व्यापार चल निकला।

अन्त में १० दिसम्बर सन् १९५१ को गुरुदेव होटल मण्डी (हरियाणा) पहुंचे जहाँ प्रेमी आकर बसे थे। प्रेमी की वर्षों की साध पूरी हुई। आज वे धन्य हो रहे थे। आज वे गुरुदेव को चाय-दूध पिलाने योग्य हो गये थे।

इस योग्यता तक पहुँचने के लिये प्रेमी को अनेक कष्ट सहने पड़े, अनेक परीक्षाओं से गुजरना पड़ा। गुरुदेव भी उनके प्रति कड़ा रवैया अपनाए रहे। परन्तु इससे यह अन्दाजा नहीं लगा लेना चाहिए कि प्रेमी को कभी प्रेम की मार नहीं पड़ी। जगाधरी में पहला सम्मेलन हो रहा था। प्रेमियों के लिये टैंट लगाये गए थे। डा० भगतरामजी ने एक अच्छा सा टैंट अपने लिए चुन लिया था और वे अकेले उसमें रह रहे थे। बाकी टेंटों में कई-कई प्रेमी टिके हुए थे। प्रेमी भगतरामजी वयोवृद्ध थे- शायद इसलिए वे अकेला रहना पसन्द करते थे। कारण कुछ भी रहा हो, प्रेमी मुकुन्दलालजी को यह बात पसन्द न आई। कहने लगे, "किसी भी प्रेमी को अपने लिये विशेष प्रबन्ध करने का अधिकार नहीं है। यह समता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। यदि डाक्टर साहिब उस टेंट में रह सकते हैं तो हम क्यों नहीं रह सकते।"

इस बात को लेकर खूब बहस होने लगी। बात गुरुदेव तक पहुँची । प्रेमी को बुलाया गया। प्रेमो ने अपनी दलीलें दीं। "सन्तों के दरबार में बड़े-छोटे का क्या मतलब? उन्हें भी उस टेंट में रहने का उतना ही अधिकार है जितना डाक्टर साहिब को ।" सच्चाई उनकी तरफ थी, इसलिए प्रेमी खूब जोश से बोलते गये । गुरुदेव चुपचाप उनकी दलीलें सुनते रहे। आखिर, जब प्रेमी चुप हो गए, तो गुरुदेव धीरे से बोले, "प्रेमी, जिनसे तुमने प्रेम लगाया है, वे तो खुले आसमान के नीचे ही रात काटते हैं !"

इतना सुनते ही प्रेमी सिहर उठे। मुँह खुला रह गया। आँखों में आँसू आ गये। कुछ कहते न बना। सिर झुकाकर बैठे रहे। कुछ देर बाद गुरुदेव ने जाने की आज्ञा दी। प्रणाम करके चुपचाप कुटिया से निकल गए।

डा० भगतरामजी ने गुरुदेव के वचनों को सुनकर क्या सोचा होगा इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है।

(२) गुरुकृपा के अवतरण के भी अनेक रूप होते हैं। अक्सर भक्त लोग गुरुकृपा का अर्थ अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति के संदर्भ में देखते हैं। उनके विचार में गुरुकृपा का अर्थ दुनियावी सुख की वृद्धि होता है। कोई ही विवेकी ईश्वरकृपा के अर्थ को समझ पाता है। वास्तव में ईश्वरकृपा तो प्रत्येक जीव पर नित्य ही हो रही है और वह कृपा सदा दुःख के रूप में प्रकट होती है। यह दुःख ही है जो जीव को सदा उसके धाम की याद दिलाता रहता है। एक बार एक प्रेमी ने गुरुदेव से प्रश्न किया, "महाराजजी, मोक्ष का क्या हेतु है ? कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष का कारण जीव का अपना प्रयत्न है; दूसरे ईश्वरकृपा को ही मुक्ति का एकमात्र हेतु मानते हैं।"

गुरुदेव ने उत्तर दिया, "प्रेमी, जब जीव को परम दुःख की प्राप्ति होती है तभी वह समझ पाता है कि यहाँ उसका ठिकाना नहीं है। यह गहरी नाउम्मीदी

ही उसमें सच्चे आनन्द की जिज्ञासा उत्पन्न करती है। यही वैराग्यभावना देववृत्ति है । इसी को ही फ़रिश्ता कहा जाता है। जब जीव इस देववृत्ति से सम्पन्न होता है तभी जीव किसी सन्त को सही अर्थों में अपना गुरु मानता है और उसकी सीख को अपनाता है । ऐसे सत् जिज्ञासु को ही मुक्ति प्राप्त होती हैं।"

दुःख ही जीव का सच्चा मित्र है। कहा भी है-

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वम् हराम्यहम्

(जिस पर भी मैं कृपा करने की इच्छा करता हूँ उसका सर्वस्व मैं हर लेता हूँ।)

सत्पुरुष ईश्वर को कर्ता और हरता कहकर पुकारते हैं। परन्तु अक्सर हम लोग ईश्वर के 'हरता' रूप को भुला बैठते हैं। दुःख से प्रेम करने की शक्ति किसी विरले में ही होती है ।

अनेक प्रेमियों ने भी गुरुकृपा का अर्थ मनोकामनाओं की पूर्ति ही समझ रखा था। इस सम्बन्ध में एक घटना का वर्णन करना सुसंगत होगा । सन् १९४० की बात है। एक प्रेमी- श्री जसवन्तराय ने गुरुदेव के सामने किसी मनोकामना के लिए प्रार्थना की। गुरुदेव ने कहा, "तुम असत् चीजों को सत् मानकर आनन्द प्राप्त करना चाहते हो। यह तुम्हारी भूल है। तुम असली आनन्द हासिल करने की कोशिश करो, जिससे तुम्हारा कल्याण हो ।"

प्रेमी जसवन्तराय एक सम्पन्न व्यक्ति थे। गांव में उनकी बड़ी धाक थी। इस उत्तर के लिए तैयार न थे। नाराज होकर अपने गाँव जण्डमहलू चले आये । पत्र-व्यवहार भी बन्द कर दिया। वार्षिक सम्मेलन में भी नहीं गये । सम्मेलन के पश्चात् गुरुदेव ने ठाकुर दीवानसिंह को उन्हें बुलाने के लिए भेजा। आठ दिन तक ठाकुरजी उनकी मिन्नतें करते रहे, लेकिन प्रेमी जसवन्तराय ने

एक न सुनी। निराश होकर ठाकुरजी वापस चले गये, लेकिन जाने से पहले कहते गये, "महाराजजी कहते थे कि अगर जसवन्तराय न आये तो कह देना कि लाठी के जोर से बुलाया जायेगा। यह किसी प्रेमी को ढीला नहीं छोड़ेंगे।" जसवन्तराय बोले, "हम लाठी का जवाब दोनाली से देंगे।"

आगे की घटना का वर्णन उनके पुत्र श्री कृष्णदेव ने इस प्रकार किया है-

ठाकुरजी का जाना ही था कि पिताजी बीमार पड़ गये। बहुत इलाज किये लेकिन रोग बढ़ता ही गया। डाक्टरों ने क्षयरोग बताया। क्षयरोग का नाम सुनते ही पिताजी का खाना-पीना भी छूट गया। कष्ट दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा था। आशा का दीपक बुझने जा रहा था। एक रात पिताजी स्वप्न में क्या देखते हैं कि महाराजजी सफ़ेद वस्त्रों पर काली कमली ओढ़े, हाथ में लाठी लेकर खड़े हैं और कह रहे हैं, 'लालजी, लाठी और चलायें या बन्द कर दें।' पिताजी स्वप्न से चौंककर उठ बैठे और माताजी को जगाकर सब बातें कह दीं।

"माताजी ने कहा, 'सम्मेलन में एक सप्ताह रह गया है। जाकर गुरु-दरबार में हाजिरी दे आइये। समय पर तैयारी की गई। सम्मेलन से दो दिन पहले रेल पर सवार होकर मानक्याला स्टेशन पर उतरे। वहाँ से क्षयरोग का रोगी घोड़ी पर सवार होकर गुरु-दरबार में पहुँचा । पिताजी ने प्रणाम किया । लेकिन कोई बात न हो पाई। दो दिन बाद महाराजजी से एकान्त में मुलाक़ात हो गई। पिताजी कुछ कहना ही चाहते थे कि महाराजजी ने पूछा, 'खाना खा चुके हो या कि नहीं ?' पिताजी ने उत्तर दिया, 'महाराजजी खाना खाये तो अर्सा हो गया।' महाराजजी ने कहा, 'पेट काटकर आये हो ! जाओ उड़द की दाल और तन्दुर की रोटियाँ भण्डारे से लेकर खाओ।' आज्ञा पाकर पिताजी ने दो रोटियाँ और कटोरी में दाल लेकर खाने लगे। खाना खाते ही सर्दी लगी और तेज बुखार हो गया। तपेदिक मलेरिया में बदल गया ।

"बुखार देखकर प्रेमियों ने प्रार्थना की, 'जसवन्तराय पर कृपा कीजिये वह बहुत कष्ट में हैं।' महाराजजी ने उत्तर दिया, 'ये कोई डाक्टर नहीं हैं।' सम्मेलन समाप्त होने पर वापसी की तैयारी शुरू हुई। डर था कि यहाँ न दम निकल जाये। इसलिए घर जाना ही ठीक समझा गया। पिताजी गुरुदेव को प्रणाम करने के लिये दरबार में हाजिर हुए। प्रणाम करते ही गुरुदेव ने दोनों हाथों में सिर थाम लिया।

"महाराजजी ने कहा, 'तुम बहुत कमजोर हो। क्या तकलीफ़ है?' जवाब दिया, 'तपेदिक़ हो गया है।' गुरुदेव ने फ़रमाया, 'कौन कहता है तुम्हें तपेदिक़ हो गया है?' पिताजी ने डाक्टरों के नाम बताए। आपने कहा, 'गलत कहते हैं। एक-दो दिन चुरायता- किरायता पिओ। ठीक हो जाओगे।' तीन दिन चुरायता पीने से पिताजी बिल्कुल ठीक हो गये। रोग का निशान तक मिट गया। सन् १९४३ में पिताजी सेना में भर्ती हो गए।"

(३) ऐसे अनेक प्रेमी हैं जिन्होंने अपनी आन्तरिक स्थिति को सदा ही छिपाये रखा है। गुरुदेव की आज्ञा भी ऐसी ही है। तो भी उनके क्रिया- कलाप में उनकी अटूट श्रद्धा दिखाई पड़ जाती है। ऐसे ही एक प्रेमी ठाकुर दीवानसिंह भी थे। भगतजी के साथ उन्हें भी गुरुचरणों में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। जब कभी भी भगतजी को किसी कारणवश जाना पड़ता था तो ठाकुर दीवानसिंह ही गुरुदेव की सेवा में रहते थे। ठाकुरजी भी भगतजी के साथ कोहाला में ही रहते थे। दोनों की अटूट मित्रता थी। ठाकुरजी स्वयं अपना कभी कोई कार्यक्रम न बनाते थे; गुरु आज्ञा ही उनके लिये सब कुछ थी। अक्सर चुप रहते थे। सन् १९४७ के दंगों में ठाकुरजी मारे गये थे। इसीलिये उनके जीवन के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं हो पाई। लेकिन एक-आध घटनाओं से ही उनकी श्रद्धा-भक्ति का अन्दाजा लगाया जा सकता है।

यह घटना सन् १९४०-४१ की है। एक प्रेमी की देखी हुई घटना है। इन प्रेमी की आयु ग्यारह वर्ष की थी। उनके गाँव-जण्डमहलू में यज्ञ हो रहा था। प्रेमी कहते हैं: "यज्ञ शुरू होने पर मुझे भूख लग आई ठाकुर दीवानसिह की तलाश करने निकला, तो उन्हें जूठी पत्तले चाटते हुए पाया। उन्हें ऐसा करते देखकर कहा, 'ठाकुरजी, भण्डारे में प्रसाद हमारे ही लिये है। यह आप क्या कर रहे हैं ?' हँसकर वे साथ हो लिए। और दोनों ने प्रेम से भोजन किया। घर में मैंने ठाकुरजी की करनी दादाजी से कही। दादाजी कहने लगे, 'यह प्रेम की पराकाष्ठा का चिन्ह है।'

"कुछ समय बाद मेरी बगल में फोड़ा निकल आया। गाँव में उपचार का अच्छा साधन न था, इसलिए रावलपिण्डी में सिविल अस्पताल में दाखिल होना पड़ा। उन्हीं दिनों प्रेमी दीवानसिंहजी रावलपिण्डी पधारे और अपने सम्बन्धियों से मिलकर वापस गुरुचरणों में चले गए। महाराजजी ने उनसे जब मेरा हाल पूछा तो ठाकुरजी कुछ न बता सके। हाथ जोड़कर कहने लगे, 'मैं तो उसे देखने ही नहीं गया।' इस पर महाराजजी सख्त नाराज हुए। उन्होंने आदेश दिया कि कोई भी समतावादी आगे ऐसे गलती न करे।

"कुछ दिन बाद ठाकुरजी फिर रावलपिण्डी पधारे। वे मेरे पास दिन-भर रहते; न खाते, न पीते। अधिकतर उनकी आंखें बन्द रहती थीं। कई बार मैंने कहा, 'ठाकुरजी, यदि नींद आ रही हो तो चारपाई लेकर आराम कर लीजिये।' मेरे ऐसे कहते ही पुस्तक निकाल कर पढ़ने लगते और उसकी व्याख्या करके समझाने लगते। मेरी सेवा में हर समय लगे रहते थे। मजबूर करने पर कभी वे हमारे यहाँ भोजन भी कर लिया करते थे। यदि कभी दाल-सब्जी में नमक अधिक होता तो पानी मिलाकर खा लिया करते थे। कारण पूछने पर हँसकर कहते, 'इस शरीर ने दुनिया से जाना ही है। फिर स्वाद से क्या वास्ता ?' मेरे साथ लगभग पौने दो महीने अस्पताल में रहे। जब मैं ठीक हो गया तो मुझे गाँव छोड़कर फिर गुरु-दरबार में उपस्थित हुए। इस तरह उन्होंने

आज्ञा का पालन किया।"

दीवानसिंहजी की इस गुरूभक्ति का कारण भी एक घटना भी जिसे वह कभी न भूले थे। एक दिन एक अन्य प्रेमी के साथ ठाकुरजी गंगोठियाँ पहुंचे। पता चला कि गुरुदेव पास में किसी अन्य गाँव गये हुये हैं। प्रेमियों ने गंगोठियां आने की सूचना गुरुदेव को भेज दी और स्वयं वहीं बने रहे। संदेश मिलने पर गुरुदेव रात्रि के दो बजे ही प्रेमियों को मिलने चल पड़े। कहने लगे, "प्रभु के प्यारे को मिलने के लिये तो ये सिर के बाल भी जा सकते हैं।" छः घंटे की पैदल यात्रा करके आप सुबह गंगोठियां पहुंच गये। प्रेमियों को जब पता चला कि गुरुदेव रात-भर पैदल चलकर आये हैं तो वे बहुत लज्जित हुए। यह उनका कर्त्तव्य था कि वे गुरुचरणों में चलकर जाते। ठाकुर दीवानसिंह पर इस घटना का अमिट प्रभाव पड़ा। वे गुरुदेव के आज्ञाकारी सेवक बन गए। उनका एक ही नियम था गुरुआज्ञा की प्रतीक्षा करते रहना। अधिक बोलना और लम्बे चौड़े विचार करना उनके स्वभाव में न था। गुरूभक्ति ही उनकी साधना थी। गुरु ही उनके आश्रय थे, वही उनके खेवट थे। उनके दर के भिखारी होकर वे जी रहे थे। अन्तिम समय तक उनका विश्वास बना रहा।

(४) महता अमोलकरामजी भी उन प्रेमियों में से हैं जिन्होंने सारा जीवन गुरुचरणों में बिता दिया है। सन् १९३५ में पहली बार गुरुदेव के दर्शन किये थे गुरुदेव तब लाहौर में थे। महताजी ने पहले ही एक गुरु धारण कर रखे थे, लेकिन गुरुदेव की रहनी को देखकर उनकी शरण में आ गए, पर साधना पुरानी ही जारी रखी। सन् १९३९ में जब गुरुदेव महताजी के यहाँ काला गुजरी (जिला जेहलम) में पधारे, तो एक दिन स्वतः ही महताजी से बोले :

"तुम असली अभ्यास नहीं कर रहे हो। तुम्हारा अभ्यास अधूरा है। सीधे रास्ते पर चलकर ही इन्सान अपनी मंजिल पर पहुँच सकता है। पहले सिमरन (स्मरण) लाजमी है, फिर खुद-ब-खुद ही मन शान्त होकर ध्यान में स्थिर हो

जायेगा। "मन की पवित्रता परम आवश्यक है। इसलिये तुम अधूरे अभ्यास को छोड़कर जैसे दीक्षा दी गई है वैसे ही करो।"

बिना कहे ही गुरुदेव ने उनकी स्थिति को जान लिया था। इसलिये महता- जो इस चेतावनी से बहुत प्रभावित हुये। उन्होंने गुरुदेव को पूर्ण रूप से अपना रहनुमा मान लिया। सन् १९४३ में महताजी ने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और संगत-सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दिया। गंगोठियों का आश्रम उन्हीं के अथक परिश्रम का परिणाम था। सन् १९४७ में जब दंगों की आग भड़की तब भी बाबूजी[१] गंगोठियां में ही थे। जगाधरी का आश्रम भी बाबूजी ने ही रात-दिन एक करके बनाया था।

गुरुदेव महताजी से केवल प्रेम ही नहीं करते थे, बल्कि उनका सम्मान भी करते थे। महताजी के पुरुषार्थ और गुरुभक्ति की सराहना सारी संगत करती रही है। काम पड़ने पर उन्होंने न कभी रात देखी न दिन। बाबूजी की अवस्था इस समय सतास्सी को पार कर चुकी है। पिछले चालीस वर्षों से वे संगत की अनथक सेवा करते आये हैं। संगत उनकी लम्बी आयु के लिये प्रार्थना करती है।

---

१. गुरुदेव महताजी को 'बाबू' कहा करते थे।

अध्याय – १४

समतावाद

समतातत्त्व

गुरुदेव के जीवनचरित में अनेक स्थलों पर समतावाद की चर्चा हो चुकी है। समतावाद के कुछ पहलुओं की कुछ व्याख्या भी की गई है परन्तु बिरे और अव्यवस्थित रूप में। यह स्वाभाविक ही होगा यदि पाठक समतावाद के सिद्धान्त को सुव्यवस्थित ढंग से देखने की इच्छा करे। समतासिद्धान्त का विस्तृत विश्लेषण तो यहाँ सम्भव नहीं है, फिर भी इसके कुछ मूलभूत पहलुओं की चर्चा की जाती है।

समता शब्द का अर्थ है, "एकता, मुसाबात यानी एकभाव।[१] समता ज्ञान से अभिप्राय है "सर्वभाव में एक भाव का विचार।"[२] इस एकरस सत्ता को शब्द अथवा ब्रह्म भी कहा गया है :

ब्रह्म शब्द जिसका न आदि है, न अन्त है; सबके अन्तर व्यापक और सबसे न्यारा है; तीन काल सम स्वरूप है [उस] अलख, अपार,

---

१. समताविलास, १९७५, पृ० ७ ० ५७
२ वहीं, पृ०८ ०६३

अनामी ईश्वर का स्मरण करना, ध्यान करना ही समताज्ञान को प्रकाशित करना है। तब सर्व स्वरूप एक नारायण ही दिखाई देता है।[१]

समता स्वरूप असली ब्रह्म शब्द है जो हर एक हालत में पूर्ण है और सबके अन्तर व्याप रहा है।[२]

वह सम स्वरूप सत्ता सबमें समाकर भी सबसे अतीत है-वह इन्द्रियातीत, गुणातीत, कालातीत, अप्रमाण, नित्य शुद्ध, निर्विकार और परिपूर्ण आनन्द स्वरूप है।[३] उसके "जानने से सब कुछ जाना जाता है, भय और भ्रम सब नाश हो जाते हैं।"[४] वही जीव का असली ठौर है-उसका ठिकाना है। उसे पाकर ही जीव का कर्म पूर्ण होता है, उसकी कामना शान्त होती है।[५]

समस्त चराचर संसार द्वन्द्वात्मक है। उत्पत्ति-प्रलय, कारण कार्य, एक-अनेक,यहां-वहां देश-विदेश ज्ञाता-ज्ञेय, मैं-तू आदि द्वन्द्वों का समूह ही संसार है। साथ में कोई भी भाव स्थिर नहीं है-वह नित्य ही अपने स्वभाव से च्युत होता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक प्रपंच में एक ही सत्ता को देखना समताज्ञान है। अर्थात् जब मनुष्य को प्रत्येक वस्तु में एक ही सत्ता के दर्शन होते हैं-जीवन- मृत्यु, मैं-तू, यहां-वहां, बूंद-समुद्र, कण-पर्वत, एक-अनेक में कोई भेद नहीं दिखाई देता-सब एक रूप दिखाई देने लगते हैं, उस समय वह मनुष्य समतातत्त्व का ज्ञाता कहलाता है।

समतातत्त्व के ज्ञाता सम्बन्ध में गुरुदेव के वचन इस प्रकार हैं:

---

१. वहीं, पृ० ११, व० ७८।
२. वहीं, पृ० ११, व० ८१।
३. देखिये वहीं, पृ० २५४
४. वहीं, पृ० ३२, पृ० ५३
५. वहीं, पृ० २४६, पृ० २२

समदर्शी : खुशी व गमी से मुबर्रा हो जाना, कर्मफल की कामना से मुक्त हो जाना, हर वक्त आत्म स्वरूप में स्थित रहना, इन्द्रियों के चलायमान होने से बुद्धि का चलायमान न होना; एक आत्मसत्ता ही अन्तर-बाहर प्रतीत होना; सब संसार का चक्र एक आत्मा के आधार देखना; देह की ममता से मुक्त होकर आत्मपरायण होना, बैरी-मित्र, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वकल्पना से न्यारा हो जाना-ये लक्षण समदर्शी पुरुष के हैं। सार यह है कि कर्मों के होने न होने, में समभाव आत्मा में दृढ़ रहना।[१]

अज्ञानी के लिए तो नानात्व सत्य है, परन्तु ज्ञानी इस नानात्व में एकत्व का दर्शन करता है। सामान्य मनुष्य देश-काल की परिधि में बंधे विभिन्न भावों का ही अवबोधन कर सकता है; उसे कहीं भी ऐसी सत्ता का आभास नहीं मिलता जो कि इन धर्मों में व्याप्त होते हुए भी इनका अतिक्रमण कर जाती हो, काल की गति का कारण होते हुये भी कालातीत हो। उसकी दृष्टि में नानात्व ही सत्य है और उसकी बुद्धि उस नानात्व को जोड़ने-तोड़ने में ही उलझी रहती है।

परन्तु प्राकृत मनुष्य को भी समता की सत्ता का कुछ आभास मिल सकता है यदि वह अपनी चंचल बुद्धि को कुछ स्थिर करके विचार करे। तब वह आसानी से समझ पायेगा कि प्रत्येक विषयानुभूति में उसे विषमता के साथ समता का भी ज्ञान होता है। विषमता को विषय करने वाली बुद्धि वस्तु-विशेष को विषय करती हैं और समता को विषय करने वाली बुद्धि उस वस्तु-विशेष में स्थित सत्ता को विषय करती है। प्रत्येक वस्तु-विशेष असत् है; इसलिये उसको विषय करने वाली बुद्धि भी असत् है । जब वह वस्तु नष्ट हो जाती है, तो उसको विषय करने वाली बुद्धि भी निवृत्त हो जाती है, लेकिन उस असत् वस्तु में सत्ता को विषय करने वाली बुद्धि नष्ट नहीं होती उसका विषय- सत्ता- तो अन्य विषयों में ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। वस्तु के नष्ट होने

---

१. वहीं, पृ० १३६

पर सत्ता का नाश नहीं होता। वह सत्ता तीनकाल एक रस रहती है और प्रत्येक वस्तु के वस्तुत्व का आधार है। भाव को भावात्व प्रदान करने वाली सत्ता प्रत्येक भाव में समान रूप से विद्यमान रहती है। अणु के अणुत्व में वह उसी पूर्णता में विद्यमान है जैसे कि पर्वत के पर्वतत्व में वह समस्त धर्मों **(Objects)** को आत्मा है और सब में समान रूप में स्थित है।

इस सत्ता के स्वरूप का प्रतिपादन किसी भी बौद्धिक अवधारण से नहीं किया जा सकता। बौद्धिक अवधारणायें असत् वस्तुओं का प्रतिपादन किया करती हैं न कि सत्य स्वरूप समतत्त्व का प्रत्येक संज्ञानात्मकोक्ति **(Cognitive Statement)** एक अन्तविरोध लिये रहती है। वह सत्ता के स्वरूप का प्रति- पादन न करके उसमें किसी वस्तु विशेष अथवा किसी बौद्धिक अवधारणा का आरोपण करती है। बुद्धि के लिए तभी कोई उक्ति सार्थक होती है जब वह कर्ता **(Subject)** का विधेय **(Predicate)** से सम्बन्ध स्थापित करे। कर्त्ता को कर्त्ता मात्र कह देना बुद्धि के लिये निरर्थक व्यापार है। कर्त्ता का कर्त्ता से भिन्न विधेय से तादात्म्य स्थापित करने में ही संज्ञानात्मकोक्ति की सार्थकता समझी जायेगी। कानर्प **(Carnap)** के शब्दों में, किसी प्रतिपादन उसके विधेय **(Predicate)** से संयोजन द्वारा सिद्ध होता है, न कि कर्ता से उसके संयोजन द्वारा अर्थात् तर्क का काम वस्तु के स्वरूप का अवलोकन करना नहीं है; उसका काम तो उस वस्तु को उस वस्तु वस्तुत्व उसके से भिन्न वस्तु में देखना है। इसी तरह सत्ता का प्रतिपादन करते समय तार्किक बुद्धि सत्ता को सत्ता के रूप में न देखकर उसे असता के रूप में ही देखेगी- वह उसमें वस्तु-विशेष अथवा बौद्धिक अवधारणाओं का आरोपण करेगी। कहीं वह उस सत्ता में भौतिकता **(Material entity)** का अरोपण करेगी और कहीं मनोव्यापार का । सत्ता का स्वरूप ऐसी बुद्धि के सामने प्रकट नहीं हो सकता ।

इस सत्ता का स्वरूप वही जान सकता है जिसने पहले दृश्यमान स्थल प्रकृति से अपने-आपको अलग कर लिया हो अर्थात् जो इन्द्रियभोग से सर्वथा

उपरत हो गया हो। दूसरे, मन की इच्छाओं से जो पूर्णतया उदासीन हो गया हो । तीसरे, जो बुद्धि से अलग होकर पूर्णतया असोच हो गया हो। ऊपर समदर्शी की स्थिति का वर्णन किया गया था। लेकिन समदर्शी की स्थिति में भी माया का सूक्ष्म रूप विद्यमान रहता है। परन्तु समभाव में स्थिति से भी परे समभाव में लीनता की स्थिति है। ऐसी स्थिति समवृत्ति की स्थिति है। समवृत्ति के सम्बन्ध में यह वचन है :

ग्रहण और त्याग की कल्पना से मुक्त होना, आत्म-आनन्द में अति आरूढ़ हो जाना, आकार स्वरूप का दृष्टि न होना; कर्त्तापन यानी फ़ाइलियत का बिल्कुल अभाव हो जाना; कर्म और कर्मफल के बर्तने में बिल्कुल बेसुध होना और केवल ब्रह्मस्वरूप का ही अनुभव करना।..[१]

समदर्शी की अवस्था में संसार का प्रत्येक अणु आत्मसत्ता से ओतप्रोत दिखाई देता है-प्रत्येक अणु में अनन्त सत्ता का अनन्तत्व उतनी ही पूर्णता में अनुभव होता है जितना कि समग्र सृष्टि में तो भी प्रकृति को झीनी-सी सत्ता दृष्टिगोचर होती रहती है। अर्थात् समता का दर्शन करते हुये भी समदर्शी विषमता से पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाता । समवृत्ति अवस्था को प्राप्त ज्ञानी के लिये नानात्व का पूर्ण रूप से अभाव हो जाता है। वहाँ एक-अनेक और व्याप्त-व्यापिन् का कोई भेद नहीं रहता । समवृत्ति अवस्था ही वास्तव में समतत्त्व की सही अवस्था है-उसका पूर्ण स्वरूप है। यहाँ आकर जीव की समस्त दौड़ समाप्त हो जाती है और वह पूर्णकाम और सर्वज्ञ हो जाता है।

समतातत्त्व और दृश्य प्रपंच

समतातत्त्व सत्य स्वरूप निराकार सत्ता है, वह अजन्मा और अद्वैत पुरुष

---

१. वहीं पृ० १३६ ।

है और कारण-अकारण के द्वन्द्व से परे है। परन्तु वही निराकार आकार सृष्टि का भी आधार है, अद्वैत होते हुए भी द्वैत प्रपंच का कारण है। इस सम्बन्ध में गुरुदेव का कथन है:

कर्त्तापन ही मूल अन्धकार है, जो समता की रोशनी पर छा जाता है और ममता के कल्पित रूप में बँधायमान होकर अनेक प्रकार की ख्वाहिशों का गुलाम हो जाता है कर्तापन के अभिमान में अपना कल्पित रूप धारण करता है और उसी स्वरूप का अभिमानी होकर अनेक कर्म और कामना को प्राप्त होता है। यह अन्धकार माया का खेल है। न तो इससे छूट सकता है और न ही इसका त्याग कर सकता है। इस द्वन्द्व भाव में नित्य ही चलायमान होता रहता है और समता आनन्द को अनुभव नहीं कर सकता जो उसका असली स्वरूप है।"

कर्त्तापन ही स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति का कारण है-यही संसार की उत्पत्ति का मूल कारण है। अतसत्ता में कर्तुं स्वभाव का उदय बुद्धि के लिए एक समस्या है जिसका समाधान नहीं हो सकता। कर्तापन क्यों और कैसे इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता हुआ ? इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता:

कर्त्तापन यानी फ़ाइलियत के आगाज का कोई कारण नहीं कि यह किस तरह और क्यों हुआ। सहज स्वभाव हो जैसे जल में तरंग उत्पन्न होती है ऐसे ही परमसत्ता से मूल माया का स्वरूप प्रकट होता है। कर्त्तापन में ही पैदाइश और फनाह का इल्म है। कर्त्तापन में ही सब द्वन्द्व विकार अन्धकार घिरा हुआ है। वास्तव में कर्तापन बेबुनियाद और बिना कारण के है। इस वास्ते इस ममता के कल्पित रूप को भ्रम कहते हैं। यानी जो न पहले है और न ही आखिर रहेगा। मध्य में बहुत विस्तार

---

१. समताविलास, १९७५, पृ० २३-२४।

युक्त दिखाई देता है और हमेशा तब्दीली में है।

मानव-बुद्धि सत्य को अपनी कल्पित अवधारणाओं के तराजू में ही तोलती रहती है। कारण-कार्य के भाव प्रपंच-संसार पर ही लागू होते हैं-समतातत्त्व को निर्वाच्य सत्ता इन अवधारणाओं से सर्वथा अतीत है। वह कारण-कार्य आदि बौद्धिक प्रवर्गों से परे है। जीव पहले तो कर्त्तापन की सत्यता को कल्पित कर लेता है, फिर इस कथित सत्य का परम सत्य से सम्बन्ध जोड़ता फिरता है। वास्तव में बुद्धि द्वारा सोचा हुआ न तो बह्म ही सत्य है और न ही उस ब्रह्म का कार्य संसार ही सत्य है । कर्तापन को मूलमाया इसीलिए कहा गया है, क्योंकि इसके स्वरूप का निर्णय किसी भी बौद्धिक प्रवर्गों से नहीं किया जा सकता । जीव परमार्थतः बह्म ही है, संसार भी ब्रह्म ही है तो भी अज्ञानमयो स्थिति में वे अलग-अलग दिखाई देते हैं। इस अज्ञान का निर्णय बुद्धि द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धि का सत्य बुद्धि के लोन होने पर ही समझ में आ सकता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रश्नोत्तर विचारणीय है :

प्रश्न : जोव शुद्ध ब्रह्म है। वह अज्ञानी कैसे हो गया ?

उत्तर : [यदि ब्रह्म को सर्वज्ञ मानें तो यह मानना पड़ेगा कि अज्ञान जीव में है, न कि ब्रह्म में। तब कमी जीव में मानी जायेगी, न कि ब्रह्म में । उस स्थिति में जीव और ब्रह्म के भेद को मानना पड़ेगा। उस हालत में ब्रह्म की अनन्तता न रह पायेगी। यदि ब्रह्म को परिपूर्ण मानें तो जीव और प्रपंच की सत्ता के अभाव का प्रसंग आता है । परन्तु जीव और संसार की अनुभूति हो रही है, इसलिये इनकी नितान्त असत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि जीव और संसार को भ्रम रूप मानें तो प्रश्न उठता है कि यह भ्रम किसे हुआ-जीव को या ब्रह्म को ? यह पुरातन

---

१. समताविलास, १९७५, १०२४ ।

काल से चली आ रही बहस है। इस बहस के सम्बन्ध में गुरुदेव ने उत्तर दिया।] यह सब दलोलबाजी है। जब तक अपना अनुभव न हो तब तक यह भ्रम निकल नहीं सकता। आखिरी फैसला यह है कि भ्रम स्वरूप सब संसार है। वास्तव में एक ही शक्ति कई सूरतों में दिखाई देती है। 'अज्ञान में ये सूरत दिखाई देती हैं। जब अज्ञान दूर हो गया सब भेद नाश हो गया। दलील बाजी सब व्यर्थ है। हस्ती (अस्तित्व, सत्ता) की तलाश करो और हस्ती के विश्वासी बनो। 'ब्रह्म को भ्रम हुआ, या जीव का भिन्न रूप है', यह सब वहम है। फनाह (मृत्यु) और बक़ा (जीवन) की तहक़ीक़ात करो। बक़ा में फ़नाह न पाओगे, लेकिन फ़नाह में बक़ा को हासिल कर सकोगे। यह ही आश्चर्य है। माया में ब्रह्म परिपूर्ण है लेकिन ब्रह्म में माया का भेद नहीं है। इस मसले (समस्या) को हल करते-करते सब मर गये, मगर बुद्धि और विचार की दौड़ से इसका हल नहीं मिला।

"सब चक्र फ़ाइलियत (कर्तृत्वभाव) का चल रहा है और फ़ाइलियत (कर्तापन) कर्म की कैद में खड़ी है। असलियत में न कर्त्तापन है और न ही कर्म है।" अज्ञान यानी अहंकार को दो सूरतें हैं। मन जब कर्म की कंद में आया तब कर्त्ता (फ़ाइल) होकर उत्पत्ति और प्रलय को देखा, जब कर्त्तापन को छोड़ा, तब न कर्म (फ़ेल) रहा, न सजा न जज़ा- [दुःख-सुख रूप कर्मफल]। इस वास्ते कर्तापन कर्म करके और कर्म कर्त्तापन करके हैं। साक्षी शक्ति इससे अलहदा (भिन्न) है, जो कर्म और कर्त्तापन को महसूस कर रही है। कर्म और कर्त्तापन का नाम ही अज्ञान यानी भ्रम है। जब अपने असली स्वरूप को जान लिया तब सब छाया

---

१. मूल में अधिकतर 'फाइनियत' और 'फल' शब्द प्रयोग किये गये थे। पाठकों की सुविधा के लिए 'कर्तापन' और 'कर्म' शब्दों को यहां प्रतिस्थापित किया जा रहा है।

२. आग्राज और इब्तताम।

गायब हो गई। इस मसले को कोई हल न कर सका कि कैसे कर्त्ता हुआ क्यों हुआ और कौन हुआ। महापुरुषों ने अपने-अपने विचार द्वारा इन हालात को ब्यान किया है। आखिर सबने हस्ती (सत्ता) को माना, किसी ने उसे कर्त्ता माना, किसी ने अकर्त्ता माना, किसी ने उसे इनसे अलग (अलहदा) करके माना। हर सूरत में एक ही सूरत का करिश्मा (चमत्कार) । उसी में सब कुछ है और सब कुछ वही है-इस मसले में आकर सब गर्क हो गये।

"अपनी कल्पना से संसार है, अपने अकल्पित होने से खुद आप ही है। इस वास्ते अकल्पित होने के साधन करें । जिस्म और जान का विचार करें कि तुम्हारा रूप जिस्म (शरीर) है कि जान (जीवनशक्ति) । अगर जिस्म है तो तुम एक बाल भी नहीं बना सकते, अगर जान मानो तो उसे पहचान नहीं सकते। इस वास्ते अपनी असलियत की तहकीकात करो कि तुम क्या हो और सब बहमों को छोड़ दो। इस जुस्तुजू से सब हालत को पाओगे।"

"अगर ईश्वर को मानो तो वह एक बात है, अगर अपनी तलाश करो तो वह ही बात है। एक ही असलियत हर रंग में है। तड़प ही जिन्दगी है, बेतड़प मुर्दा है। सच्चाई की तलाश ही सच्चाई और शान्ति है, सच्चाई का भूलना ही गफ़लत (अविद्या) और अज़ाब (दुःख) है।"

माया रूप कर्तापन की सत्यता व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। यदि माया को सत्य मानें तो समतातत्त्व को उसका कारण मान लिया जाता है। परमार्थतः न तो कर्त्तापन ही है, न कर्त्ता ही, न बन्धन है, न मुक्ति ही । परन्तु ऐसी स्थिति का ज्ञान समतत्त्व के अनुभव से ही हो सकता है। बौद्धिक दृष्टि से ब्रह्म भी अचिन्तनीय है और माया भी। न तो समतत्त्व के सम्बन्ध में ही कुछ कहा जा सकता है, और न ही कर्त्तापन के सम्बन्ध में । परन्तु जब तक जीव

अपनी सत्ता को स्वीकार कर रहा है। तब तक उसका कर्त्तापन भी सत्य हैं। व्यावहारिक सत्य की दृष्टि से माया की सत्यता से किसी प्रकार भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

सृष्टिक्रम

इस कल्पित कर्तापन से "निश्चयशक्ति प्रकट होती है। निश्चयशक्ति से मनन यानी चिन्तन का भाव प्रकट होता है। मननभाव से पांच भूत की कामना प्रकट होती है। पांच भूत की कामना से कर्म का जतन (यत्न) प्रकट होता है। यह सिलसिला ही शरीर की बनावट है। पानी जोव कर्तापन को धारण करके आठ[१] प्रकार की प्रकृति को कैद में आ जाता है और अपने सरूप (स्वरूप) को भूलकर उस प्रकृति को अपना सरूप (स्वरूप) मान लेता है।"[२]

इस आठ प्रकार की प्रकृति से ही देह का निर्माण होता है। प्रकृति और शरीर का एक ही स्वरूप है। प्रत्यक्ष संसार इस देह का ही प्रतिबिम्ब है। देह और संसार में कोई अन्तर नहीं है

"यह संसार जो भासता है वह अपनी देह का ही प्रतिबिम्ब है, यानी इन्द्रियों की जाग्रत, स्वप्न और सुषपत (सुषुप्त) हालत का ही अचम्भा है। जैसे (जैसा) जिसके अन्दर कर्तापन प्रकट हुआ उसके मुताबिक़ ही कामना प्रकट हुई। उस कामना के मुताबिक ही स्थूलविकार कर्म का जन्तर (यंत्र) यह देह प्रकट हुई। यानी जोव अपनी अनानियत का सब खेल देखता और भोगता है।"[३]

---

१. अकार (कर्तापन), बुद्धि (निश्चयशक्ति) मन (मननशक्ति), आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी (पंच महाभूत) - प्रकृति के आठ अंग है।

२. वहीं, पृ० २४-२५

३. वहीं पृ० २५-२६

इसी भाव को गुरुदेव ने एक पत्र में इस प्रकार व्यक्त किया था।

"देह और संसार का कोई भेद नहीं है, अर्थात् देह धारण करने से संसार का निर्वाह चलता दिखाई देता है; देह के नाश होने पर ज़ाहिरी संसार लोप हो जाता है। देह और संसार का एक ही रूप है। देह करके संसार है। असलियत में संसार कोई चोट नहीं है जैसी जिसको देह है, वैसा ही उसका संसार है। इसलिये देह पर काबू पाने से संसार पर काबू पाया जाता है। यह निश्चय करें।"

यहाँ एक शंका का समाधान कर देना आवश्यक है। देह और संसार का एक ही रूप है- इस उक्ति के निहित अर्थ पर एकाग्रता से विचार करना आवश्यक है। जब तक देह की सत्यता का अनुभव हो रहा है, तब तक संसार की सत्यता का भी अनुभव होता रहेगा। संसार तभी असत्य दिखाई देगा जब शरीर असत्य दिखाई देगा। इसी प्रकार संसार उसी समय मनोमय दिखाई देगा, जब शरीर मनोमय दिखाई देगा। अर्थात् जब तक जीव स्थूल शरीर का अभिमानी है तब तक वह स्थूल संसार का ही वासी रहेगा। जिस समय वह शरीर को संकल्प रूप जान जायेगा, उस समय वह संसार को भी संकल्परूप अनुभव करने लगेगा। देह पर काबू पाने का अर्थ है उसे संकल्परूप में देखना। ऐसा पुरुष संसार पर भी क़ाबू पा सकता है। इस सम्बन्ध में एक प्रेमी[1] से हुआ बार्तालाप शिक्षा- प्रद् है:

प्रेमी : महाराजजी बाइबिल में लिखा है कि विश्वास से पर्वत भी हिल जाते हैं। क्या मनुष्य अपने संकल्प मात्र से ऐसा कर सकता है ?

गुरुदेव : प्रेमी, ऐसा तभी हो सकता है जब दृश्यमान संसार संकल्प रूप होकर

---

१. श्री देवराज गुप्त वार्तालाप १९५१-५२ में हुआ था।

अनुभव में आने लगता है। जब तक संसार स्थूल रूप में अनुभव हो रहा है, तब तक ऐसा होना सम्भव नहीं।

जिस प्रकार संसार की मनोरूपता का अनुभव देह की मनोरूपता के अनुभव की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार संसार की असत्यता का अनुभव देह की असत्यता के अनुभव की अपेक्षा रखता है। देह की असत्यता में जीव की असत्यता का प्रसंग भी निहित है- क्योंकि देह के बिना जीव की कोई सत्ता नहीं

"प्रकृति की गिरफ्तारी में जो चेतन भासता है उसी का नाम जीव है-यानी तत्तों (तत्वों) की भुक्ताशक्ति। जीव का स्वरूप वास्तव में कोई नहीं है। वासना से जैसे घट की गिरफ़्तारी में आता है उसी प्रकृति का अभिमानी होकर अपना नाम मान लेता है। इसी का नाम अज्ञानता

इस प्रकार समतावाद के विज्ञानवाद को अहंमातृवाद (solipsism) समझने की गलती नहीं करनी चाहिये। समतावाद का निश्चित मत हैं कि जब तक जीव स्थूल शरीर का अभिमानी है, तब तक स्थूल प्रकृति की सत्ता भी उसके लिए सत्य है। जिस समय वह संसार को संकल्परूप देखता है उस समय उसका जीवभाव भी संकल्पमय अनुभव होगा। परन्तु उस समय प्रश्न यह उपस्थित होगा कि यह संकल्प किसका है ? उस संकल्पकर्त्ता की खोज स्वयं संकल्प को ही समाप्त कर देगी। उस समय न संकल्प रहेगा न संकल्प करने वाला। कर्त्तापन के स्रोत की खोज का अन्त अकर्त्ता-स्वरूप समतातत्त्व में होता हैं। ठीक उसी तरह संकल्प करने वाले की खोज का अन्त निविकल्प सत्ता में होता है। इस सारे विचार को सार रूप में गुरुदेव ने इस प्रकार व्यक्त किया है:

---

१. समताविलास, पृ० १०२

"जब जीव कर्म-अभिमानी हुआ-यानी कर्त्तापन के बन्धन में आया- तब कर्मफल द्वन्द्व जो पांच तत्त्वों का विकार है, उसकी वासना में भरमने लगा और यह अभिमानयुक्त अवस्था ही जीव का स्वरूप है। कर्त्तापन के बन्धन में आने का कोई कारण नहीं है, इस वास्ते यह कल्पना ही माया का स्वरूप है। इसका निर्णय यथार्थ स्वरूप से होना कठिन है। निर्णय हमेशा सत् वस्तु का होता है। जो चीज़ वास्तव में है ही नहीं और प्रत्यक्ष स्वरूप में भासती है, जब उसकी सार विचार की गई तो उसका स्वरूप अभाव हो जाता है। सार निर्णय यह है कि मायाभ्रम ही जीव की कल्पना है। जब जीव अकल्पित हुआ तब सब भ्रम से निर्मल होकर केवल (कंवत्य) स्वरूप हो जाता है जो जीव का नित स्वरूप है और यह निर्वाच अवस्था अपने अनुभव करके ही जानने योग्य है, न कि वाद-विवाद से कुछ हासिल हो सकता है। इस वास्ते प्रथम अपने अज्ञान को जो अशान्ति का कारण है-इसको दूर करना चाहिए। जब ममताभ्रम का नाश हो गया तब खुद ही अपने और अनुभव में समता आनन्द प्राप्त हो जाता है, जो केवल स्वरूप है और कहन-कथन से बाहिर है।

इस वचन से यह सिद्ध हो जाता है कि जीव अपने सत्यस्वरूप में नित्य ही कंवल्यरूप है परमार्थतः न कोई कर्त्तापन है और न हो उससे उत्पन्न आठ प्रकार की प्रकृति। बन्धन- मुक्ति, कारण-कार्य का झगड़ा केवल अज्ञानावस्था में ही दृष्टिगोचर होता है। ये अवधारणायें मात्र कल्पना हैं। विश्लेषण करने पर ये निरर्थक सिद्ध होती हैं। सृष्टि न होने पर भी दिखाई दे रही हैं। इसीलिये कोई भी बौद्धिक अपवर्ग-भाव-अभाव, कारण-कार्य आदि–इसके तत्त्व का निरूपण नहीं कर सकते। समतातत्त्व संसार का कोई खेद नहीं है-परन्तु संसार में समतातत्त्व ओतप्रोत है। यही आश्चर्य है। इस अनिवर्चनीय और अचिन्त्य आश्चर्य को ही माया कहा गया है। इसका निर्णय विचार से नहीं हो सकता।

---

१. वही, पृ० १६५

अपना अनुभव ही इस रहस्य को खोल सकता है-ऐसा गुरुदेव और अन्य सत्पुरुषों का कथन। जीव का कल्याण सत्य को जानने में है, न कि दलीलबाज़ी में उलझने में।

समतातत्त्व का ज्ञान न तो इन्द्रियों द्वारा सम्भव है, न मन द्वारा और न ही बुद्धि द्वारा। यह ज्ञान अहंकार के नाश से ही संभव होता है। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को बुद्धि में, बुद्धि को अहंकार में, और अहंकार को समतातत्त्व आत्मा में।

कर्त्तापन से तमाम संसार सूक्ष्म-स्थूल प्रकट होता है और इसी में स्थित है। जब प्रभुसरूप (स्वरूप) का अन्तर में बोध हो जाता है। तब कर्त्तापन माया का अभाव हो जाता है और सर्वस्वरूप एक परमतत्त्व आत्मा ही जान पड़ता है। यह ही अवस्था अचल शांति की है। अपने अनुभव करके जानने योग्य हैं।

इन ही दो शक्तियों, यानी दो हालतों को सिद्धपुरुषों ने कई भावों से ब्यान किया है। यानी एक जीवनशक्ति जो नित आनन्द समस्वरूप है, दूसरी कर्त्तापन अभिमान जो माया का सरूप (स्वरूप) है, और आद-अन्त का चक्र है। जब तक बुद्धि कर्त्तापन में मजबूर है, तब तक आद और अन्त के चक्र में फँसकर नित ही दुःखी रहती है, और जिस वक्त अकतंसरूप का अन्तर में बोध प्राप्त कर लेती है, उस वक्त एक परमतत्त्व अखण्ड सरूप ही सर्व अनुभव करके उसमें लीन हो जाती है। यह ही हालत निर्वाण और अचल शान्ति की है। कर्त्तापन त्रिगुणी माया से ही कर्मयन्त्र' प्रगट होता है, और कर्मफल द्वन्द्व की आसक्ति से ही काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि महा अवगुण अशान्ति का समुद्र प्रगट होते हैं जिनमें जीव

---

१. कर्मयन्त्र= शरीर।

सदा अशान्त और दुखी रहता है। इस वास्ते तमाम दुःखों से छूटने के वास्ते एक परमतत्त्व आत्मसरूप अकंतम् शक्ति का जानना ही कल्याणकारी है, और सत्पुरुषों के सत् उपदेश की यह ही सार है।

जीव को दुःखमयी हालत

समतावाद का यह निश्चित मत है कि जीव को वास्तविक इच्छा समतत्त्व ही है। जब तक वह उसे प्राप्त नहीं कर लेता, उसकी दौड़ खत्म नहीं होती। तमाम चराचर भूत उससे आत्मतत्त्व की तलाश में भटक रहे हैं, लेकिन उस आत्मतत्व को अपने में न खोज कर इन्द्रियों के भोगों, मन की कल्पना और बुद्धि की चतुराई में बूंद रहे हैं। यह अज्ञान ही जीव के परमदुःख का कारण है। समतावाद जीव को चलायमान हालत को परम दुःखमय मानता है। इस सम्बन्ध में समतावाद बौद्धमत से एकमत :

हर एक जीव पाँच तात्विक शरीर को धारण करके पांच विकारों की आसक्ति में आकर पांच ज्ञान-इन्द्रियों और पांच कर्म-इन्द्रियों के भोगों में अति आसक्त हो करके विचर रहा है। यानी इन्द्रियों के भोगों में अविनाशी शान्ति की प्राप्ति की खातिर दिन-रात हर एक जीव यत्न-प्रयत्न कर रहा है। मगर छिनभंगुर यह भोग-कीड़ा होने के कारण बजाय शांति के अधिक अशांति ही अशांति प्राप्त होती है। यह ही खेद रूप संसार है।'

जीव यानी बुद्धि अहंभाव को धारण करके यानी "मैं कर्ता" को धारण करके त्रिगुणी तृष्णा के जाल को कलपती है और नितसरूप अवि- नाशी आत्मा को भूल करके अनित सरूप देहाकार में सत्शांति की तलाश

---

१. श्री समताविलास, पृ० २४६-४७

२. वहीं, पृ० ३४२

करती हुई, नित ही भयभीत रहती है। यह ही जीवन सरूप विचरित संसार है। अज्ञानवाद, प्राकृतवाद और नास्तिकवाद का पूर्ण रूप है।[१]

अपनी-अपनी हंता[२] को धारण करके हर एक शरीर रूपी सृष्टि में बुद्धि नित आसक्त और अधीर रहती है। यानी पांच तात्विक शरीर के संयोग से पांच विकार रूपी तृष्णा की अग्नि में नित ही जलती रहती है, और ऐसे ही पलक-पलक विछे काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि पाँच विकारों में अपनी सन्तुष्टि चाहती हुई प्रत्यक्ष ब्रह्माण्ड में भरमती है। न ही इन विकारों की अग्नि ठण्डी होती है, और न ही सत्शांति अभयपद को प्राप्त हो सकती है। ऐसा जीवननिर्णय जानना ही असली जानना है।[३]

कर्त्तापन से कर्मवासना प्रकट होती है और कर्मभोग से कर्मफल इन्द्र के ग्रहण व त्यगा का बन्धन प्राप्त होता है । .....कर्तापन.....कल्पित और भ्रम रूप है और कर्मफल द्वन्द्व भी तब्दीलीयुक्त है ।" इस तब्दीली को रोकने की खातिर बुद्धि हर वक्त नये से नये कर्म करती है। यानी कर्मफल इन्द्र जो सुख व दुःख का सरूप है और तब्दीली युक्त हैं, इनमें वृद्धि सुख की स्थिरता और दुःख की निवृत्ति का यत्न करती है। मगर सुख का अभाव होना लाजमी है और दुःख की प्राप्ति भी लाजमी है। इस वास्ते तमाम का तमाम यत्न ही अकार्थ जाता है। आखिर दुःखमयी हालत में ही एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करती हूं और नये सुख प्राप्ति की खातिर अधिक यत्न करती है। मगर नाशवान सुख में कहां शान्ति प्राप्त हो सकती है ?.....[४]

---

१. वहीं, पृ० ३४२-४३०७

२. अभाव।

३. वहीं, पृ० ३४३ ।

४. वहीं, पृ० ३४७

[बुद्धि को] हर वक्त नये सुख को चाहना बनी रहती है, और दुःख का भय अन्तर में मौजूद रहता है। 'अनुकूल (कर्म) फल को प्राप्त करके बुद्धि राग को प्राप्त होती है और प्रतिकूल फल के द्वेष को प्राप्त होती हैं। ऐसे ही द्वन्द्व रूप संसार में नित ही चलायमान होती रहती है। एक पलक भी धीरज को प्राप्त नहीं हो सकती है। यह ही वास्तविक रूप संसार है।[१]

कर्त्तापन से वासना प्रकट होती है और कर्मफल द्वन्द्व से वासना फैलती है। ऐसे भयानक जाल में पूर्ण आशावादी होने का निश्चय रखना अधिक मूढ़ता है।....[२]

अति मूढपने में आकर के जड़बुद्धि ऐसा चतुरभाव धारण कर लेती है कि कर्मफलद्वन्द्व की भोग कीड़ा ही पूर्ण आशाबादी करने वाली है। और ऐसे निश्चय को लेकर अधिक से अधिक इन्द्रियों के भोगों को प्राप्त करने का यत्न करती है-जैसा कि आजकल के साइंसदानों और मादावादी विद्वानों का निश्चय है। मगर ज्यों-ज्यों इन्द्रियों के भोगों का फैलाव बढ़ता है, त्यों-त्यों वासना की अग्नि अधिक प्रचण्ड होती जाती हैं, जो परम खेद का सरूप है। इस वास्ते इस जीवन रूप संसार में पहले खेदमयी जीवन के भेद को समझना ही परम उच्चता है।[३]

बुद्धि जीवन चाहती है, लेकिन मौत को प्राप्त होती है। सुख की इच्छा में प्रयत्नशील रहती है, लेकिन दुःख को प्राप्त होती है; जवानी और स्वास्थ्य

१, वही, पृ० ३४७, ० २४ में से उद्धृत
२. वहीं, पृ० ३४८, ०२८
३. वहीं, पृ० ३४६, ब० ३०

चाहती हूई बुढ़ापे और बीमारी का शिकार बनती है। शरीर को अपना स्वरूप मानती है, परन्तु शरीर उसके बस में नहीं है-समय आने पर वह भी धोखा दे जाता है। अपनी चतुराई पर विश्वास करती हुई, नित्य ही अज्ञान में विचरती हुई, पांच विकारों की भोग-कीड़ा को सब कुछ मान बैठती है और अपने-आप का नाश कर लेती है।

जितनी जितनी बुद्धि अभिमान को जड़ता को प्राप्त होती है उतनी ही उतनी इन विकारों की अग्नि में अधिक जलती है और इन विकारों को फैला करके अपना एक परम संकट रूप संसार रच लेती है जिनसे तड़प-तड़प करके आखिर शरीर की अन्तिम दशा को प्राप्त होती है। कोई राजा है या भिखारी, कोई गुणी है या मूद, कोई परिवारी है या विरक्ति, जैसा-सा भी जो कोई जिस शरीर को धारण किये हुये है वह ही इन विकारों की अग्नि में जल रहा है।[1]

वैराग्य भावना

जिस समय बुद्धि जीवन को परम दुःखमय जानती है तब ही उसमें सद्धि- ज्ञासा का आविर्भाव होता है। जब बुद्धि संसार के प्रति, शरीर के प्रति, शारीरिक भोगों के प्रति, मन के संकल्पों के प्रति और स्वयं अपने प्रति निराश हो जाती है, तब वह अपने-आप के सत्य को समझने की कोशिश करने लगती है। बिना वैराग्य के उसकी सारी सोच चित्त का लालन है-महज चतुराई और कुटिलता है। इस वैराग्यभावना को लेकर बुद्धि असोच और अबोध होकर सत्परायण होने लगती है। यह सत्परायणता हो उसके कल्याण का हेतु है :

निर्मल विवेक द्वारा जब बुद्धि इन विकारों का नतीजा परम दुःख-

---

1. हाँ, पृ० ३५२

रूप जानती है तब ही विकारों के रोग से पवित्र होने का यत्न करती है और सत्स्वरूप आत्मा जो निर्विकार और निर्विषाद है, उसको खोज में दृढ़ होती है। वह ही परम कल्याण सरूप है। पाँच तत्त्वों की खोज से पाँच विकारों की भोग-क्रीड़ा बढ़ती है और जीवनशक्ति आत्मा को खोज से इन विकारों से निबंन्ध अवस्था प्राप्त होती है। जितनी बुद्धि सत्परायण होती जाती है, उतनी ही इन विकारों की अग्नि से ठण्डक को प्राप्त होती है। इस वास्ते मानुष जीवन का उत्तम कर्तव्य सत् की खोज ही है। सत् वह ही वस्तु है जिससे असत् संसार प्रकाशवान् हो रहा है, जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यानी वासना ही, जो इन विकारों का मूल है, शान्त हो जाती है और बुद्धि परम प्रसन्नता निर्भयपद को प्राप्त होती है। ऐसी यथार्थ खोज और यथार्थ धारणा ही निर्विकारमयी जीवन के देने वाली है।[१]

भौतिक प्रकृति की खोज

वैराग्य ही जीवन है और जोने की आशा ही मौत है। इसलिए समतावाद के मत में सदिज्ञासु अपनी समस्त आशाओं की होली जलाकर दुनिया से और अपने मन से वैराग्यवान हो जाता है। बाहर की दुनिया उसके लिये गर्दीगुबार की दुनिया है-उसकी खोज से उसे कुछ भी प्राप्त होता नहीं दिखाई देता। मादे की खोज, समतावाद को दृष्टि में, विकार और खेद का पोषण करने वाली है। बुद्धि की सोच भी जीव के लिये संकट का कारण। गुरुदेव के निम्नलिखित शब्द विचारणीय हैं :। इस सम्बन्ध में

बुद्धि जितनी भी शारीरिक भोगों की आसक्ति में आकर के बाहर के तत्त्वों की खोज में दृढ़ होती है, उतनी ही नये से नये अजायबातों को

---

१. वहीं, पृ० ३५५-५६

अनुभव करके अति मोहित होती हैं और अपने-आप में नित ही अधीर रहती है। यानी तत्त्वों की खोज से अधिक से अधिक अस्चरज मुतालया प्रकट होते हैं, जो कि अन्जाम में परम दुःख और नाश के देने वाले होते है । ऐसे अहंकारवाद के भेद को समझना चाहिए। अगर अहंकारवाद को इस क़दर धारण कर भी लिया जावे, जिससे सूरज, चन्द्रमा, पवन, पानी आदि ताकतों पर पूरा-पूरा कन्ट्रोल हो जावे तो भी अन्तर की बेचनी और अधीरता से छुटकारा हासिल करना नामुमकिन है। इस वास्ते इन्द्रियों के भोगों के वश हो करके बाहर के तत्त्वों की तहकीकात करके नये से नये सुख-पदार्थ प्राप्त करने में बजाय शान्ति के अधिक से अधिक अशान्ति और भय हो प्राप्त होता है-यह निश्चय होना चाहिए। जैसा कि आजकल की साइंस का असर हर एक के अन्तःकरण में हो रहा है हर एक मानुष बजाय जिन्दगी को कायमी के जिन्दगी को नाश की तरफ़ ले जा रहा है। इस वास्ते इस बेचनी तहकीकात यानी अधिक मादा- परस्ती, जिसका नतीजा भयानक अशान्ति, भ्रष्टाचार अति छल-कपट और अति नाश के देने वाला है-इससे जाग्रत हो करके, यानी मादा- परस्तों की तहकीकात को छोड़ करके, जीवनशक्ति की तहकीकात करनी चाहिए, जिससे असली मुद्दा जो परम शान्ति निर्भयपद का है, वह पूरा हो जाय और यह मानुष-जीवन-यात्रा सफल होवे ।[१]

सत्परायणता

मादा-परस्ती के विरुद्ध गुरुदेव की यह चेतावनी आज के युग के लिए विशेष महत्व रखती है क्योंकि आधुनिक युग के अक्सर विचारकों ने भौतिक प्रकृति की खोज को ही सत्य की खोज मान लिया है। चेतावनी इतने जोरदार शब्दों में दी गई है कि इस पर अधिक टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है।

---

१. वही. पृ० ३३०-३१

जहाँ भौतिक प्रकृति की खोज मनुष्य को तृष्णा को पोषित करती है, वहां दलील- बाजी मनुष्य के अहंकार की वृद्धि करती है। और अज्ञानता और जहालत तो दोनों क्रियाओं का आधार है। अतः गुरुदेव अधिक सोच विचार को भी सद्जिज्ञासु के लिए हानिकारक मानते थे। एक बार एक विचारशील प्रेमी को गुरुदेव ने इस प्रकार लिखा था:

दृश्यमान संसार के विनाश का निश्चय होना-यह एक अधिक उत्तम जीवन की अवस्था है।[१] मगर इससे ज्यादा उत्तम अपने शरीर की[२] विनाश को दृढ़ प्रतीत करना है। अपने शरीर को दृढ़ विनाश निश्चय करके बुद्धि सत्परायण होने का यत्न करती है। तमाम नामरूप संसार जो प्रतीत हो रहा है उसकी विनाश को निश्चय करके तमाम सुखदायी और दुःखदायी पदार्थों की प्राप्ति और अप्राप्ति के ग्रहण और त्याग की कामना से पवित्र होना यानी असंग होना ही परम स्थिति है। हर वक़्त शरीर को विनाश को निश्चय करके तमाम शारीरिक भोगों से निबंन्धन हो करके मन-बुद्धि का निश्चल ध्यान एक नाम में दृढ़ करना चाहिये। ऐसी दृढ़ता से हो निःसंकल्प स्थिति प्राप्त होती है। यानी बुद्धि कर्त्ता, कर्म और कर्मफल द्वन्द्व से निर्मल हो करके केवल सत्स्वरूप में निश्चल होती है। शरीर की कामना का अधिक भयानक रोग इस बुद्धि को लगा हुआ है। संसार की विनाश को प्रतीत करने पर भी शारीरिक भोगों को आसक्ति से निबंधन नहीं हो सकती है। यानी शरीर की विनाश को निश्चय नहीं करती है और न ही भोग- वासना से असंग होने का यत्न करती है। यह मोह रूपी जाल बड़ा दुस्तर है। इस वास्ते हर वक़्त शरीर को नाश को निश्चय करके तमाम इन्द्रियों

---

१. प्रेमी ने गुरुदेव को अपने एक पत्र में लिखा था कि उसे समस्त दृश्यमान संसार विनाशशील दिखाई देता है।

२. गुरुदेव के शब्दों का वाक्यविन्यास व्याकरणवद्र वाक्यविन्यास से अलग हो होता था उनके वचनों को उन्हों की ली में रखने का प्रयत्न किया गया है।

के भोगों की आसक्ति से निबंन्धन होकर एक नाम के परायण अचल होना ही इस दुर्मत जाल से छुटकारा देने वाला और जीवन स्वरूप परम तत्त्व में निः चलता की प्राप्ति के देने वाला सत्-यत्न है। यानी शारीरिक सुखों से उपरत हो करके केवल नाम चिन्तन में बुद्धि को बार-बार एकाग्र करके तमाम शारीरिक कर्मों के द्वन्द्व रूपी फल प्रभु आता में समर्पण करके, 'होना न होना' से अचिन्त होकर के नित आनन्द अविनाशी शब्द में अन्तर में निश्चल होना ही सत् स्थिति है और यही योगारूढ़ अवस्था है। सो प्रेमी जो इस भयानक सृष्टि के जाल से छुटकारा हासिल करने की खातिर केवल एक नाम का चिन्तन करना और तमाम शारीरिक सुख और दुःख को प्रभु आज्ञा में समर्पित करते हुये अपने-आपको निर्मान, निष्काम और निर्मोह अवस्था में दृढ़ करके निश्चल होना ही परम स्थिति है। इस वास्ते तवज्जो को ज्यादा मुन्तशिर[१] करने की बजाय अधिक से अधिक सत्-यत्न करके नाम में दृढ़ करना चाहिए क्योंकि नाम की दृढ़ता से सत् विश्वास और सत्-अनुराग की दृढ़ता होती है जो इस शरीर की कामना से पवित्रता देने वाला है। जिस वक्त मानसिक धारा गहरे विचारों की तरफ जाये तो सर्वमिथ्या निश्चय करके, दृढ़ करके सत्नाम में अखण्ड तवज्जो लगानी चाहिये। ऐसे अखण्ड जाप की दृढ़ता से बुद्धि निःचलता को प्राप्त करके सत्-शब्द अविनाशी तत्त्व को आन्तरिक में बोध करती है जो इसका अपना निज स्वरूप है। ज्यादा सोचने और विचारने से ज्यादा में सुरति का दृढ़ करना परम कल्याणकारी है।

इस वास्ते अभ्यास और वैराग की दृढ़ता को धारण करके संसार से असोच और अबोध होने का यत्न करें। अपने सत् यत्न से तमाम मानसिक वृत्तियों का निरोध सहज ही हो जाता है और बुद्धि तमाम शारीरिक कामनाओं से पवित्र हो करके यानी दस इन्द्रियों की आसक्ति से निबंन्धन

---

१. बिखेरने की बजाय

हो करके नामपरायणता में निश्चल होती है और निजस्वरूप अविनाशी शब्द को अनुभव करके तमाम दुर्मत के जाल से असंग हो जाती है पानी अपने निश्चल, निर्मल चेतनस्वरूप में स्थित होती है। यह ही परमधाम अवस्था है । जब आत्मा को कर्त्ता जान करके बुद्धि तमाम कर्मों के फल दुःख-सुख से असंग होती है-यानो लहमा-ब-लहमा तमाम शारीरिक कर्म प्रभु आज्ञा में समर्पण करती है, तब राग और द्वेष से निर्मत हो करके अविनाशी शब्द सत्पद में स्थित होती है। इसी भावना को ही कर्मयोग कहते हैं। यानी कर्मों के फल द्वन्द्व का त्याग करना प्रभु आज्ञा में। जब बुद्धि आत्मा को अन्तर में बोध करके तमाम शरीर की वासना से निर्मल हो जाती है, तब अपने को साक्षीस्वरूप आत्मा अकर्त्ता, अकर्म, अखण्ड निर्वास, निर्वाण समझकर स्थित होती है। ऐसी स्थिति को ज्ञानयोग कहते हैं। कर्मयोग और ज्ञानयोग का स्वरूप एक ही है। जब तक देह-अभिमान और देहकामना में बुद्धि मलिन रहती है तब तक कर्मयोग यानी प्रभु-आना में सर्व कर्मफल का निश्चय ही कल्याण को देने वाला है । इसी को भक्ति- योग भी कहते हैं। अच्छी तरह से विचार कर लेवे और नित सत्-यत्न से अपने मानसिक दोषों से पवित्र हो करके अपने अखण्ड शान्तमयी, निज- स्वरूप को बोध करें। प्रेमीजी, केवल संसार की नापापेदारी को समझने से सत्शान्ति प्राप्त नहीं होती है। कुछ समय के बाद यह भावना, संसारी मोह की अधिकता से, नष्ट भी हो जाती है। इस वास्ते संसार की नापावेदारी को समझते हुए सत्स्वरूप की प्राप्ति का अधिक यत्न करना असली कल्याण के देने वाला है- यानी नाम सिमरण के अभ्यास में दृढ़ होना चाहिए।....[१]

समता साधना-प्रणाली

समतावाद की समस्त साधना-प्रणाली इस पत्र से स्पष्ट हो जाती है। जब

---

१. मल पत्र, कार्सी लिपि में था। यह उसका देवनागरी रूपान्तर है।

तक जीव में देहाभिमान है तब तक कर्मयोग की साधना कल्याणकारी है- अर्थात् अपने-आप को शरीर, मन और बुद्धि मानना, परन्तु कर्माभिमान का त्याग करके आत्मा को कर्त्ता जानना और अपने-आपको उसके परायण करके स्वयं 'असोच और अबोध हो जाना। इस साधना से जब आत्मज्ञान हो जाता है तब ज्ञानयोग की स्थिति स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। अपने-आपको अकर्त्ता आत्मा जानकर समस्त कर्म प्रकृति- मन, बुद्धि और शरीर में देखना ज्ञानयोग है। दोनों ही स्थितियों में कर्तापन का त्याग निहित है। समतावाद कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों को ही जीव के श्रेय के हेतु मानता है, परन्तु इसका अधिक बल नामस्मरण अर्थात् राजयोग पर है। प्रत्येक सिद्धपुरुष अधिकतर उसी साधनाप्रणाली पर अधिक जोर देता है जिसके बल से उसने स्वयं सत्स्थिति प्राप्त की होती है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि अन्य साधन प्रणालियां निकृष्ट हैं। सच्चाई तो यह है कि वही साधना सार्थक होती है जोकि गुरु के आशीर्वाद के रूप में प्राप्त हुई हो। बिना इस आशीर्वाद के कोई साधना भी सफलता देने की शक्ति नहीं रखती। यह बात राजयोग के सम्बन्ध में भी उतनी ही सत्य है जितनी कि अन्य साधनों के सम्बन्ध में । इसलिये यदि कोई जिज्ञासु राजयोग की साधना को अपनाना चाहता है तो पहले उसे किसी आत्मस्थित गुरु की शरण में जाना होगा। बिना गुरुप्रसाद के वह अपनी साधना में सफल नहीं हो सकता- सिवाय विरले जन्मसिद्ध सत्पुरुषों के जिन्होंने पिछले जन्मों में बहुत ऊँची स्थिति प्राप्त करली होती है। बाक़ी सब जिज्ञासुओं को सत्पुरुषों की चौखट पर माथा टेकना पड़ता है, चाहे वे विद्वान हों अथवा अपढ़। अपढ़ अज्ञानी है और विद्वान पढ़ा लिखा अज्ञानी है। दोनों को ही अपढ़ ज्ञानपुञ्ज गुरु की शरण में ही जाकर संसार की अथाह व्यथा से शान्ति मिलती है। सही गुरु कौन है ? इस सम्बन्ध में गुरुदेव का निर्णय इस प्रकार है :

गुरुपद अति ही कठिन अवस्था है; कोई ही गुरुमुख प्राप्त होता है । जिसने अपने तमाम शारीरिक भोगों से त्याग हासिल किया हो और हर वक्त आत्मस्वरूप में स्थित रहता है, पर उपकारी जीवन जिसका हो, हर

एक जीव से अधिक प्रेम रखने वाला हो, लाभ व हानि, खुशी व गर्मी, मित्र-शत्रु भय व भ्रम से जिसकी बुद्धि बिल्कुल न्यारी हो चुकी हो, और शब्द रूप ब्रह्म में स्थित हो गई हो, वह ही गुरु है। पानी पहले उसने अपना अन्धकार दूर किया है और ईश्वरप्रकाश को प्राप्त हुआ है उसका उपदेश दूसरों के वास्ते भी कल्याणकारी है।[१]

जो नामुकम्मिल साधु के उपदेश को धारण किया होवे, जिसने खुद अपने अन्धकार को दूर न किया हो, तो उस उपदेश में सफलता होनी कठिन है। क्योंकि इस योगमार्ग में गुरु करनी वाले के बगैर सत्पद की प्राप्ति होती अति कठिन है। जैसे कि आम बनावटी गुरु घर-घर उपदेश देते फिरते हैं, उसका नतीजा महज एक व्यवहार[२] है न कि कल्याण है । नामुकम्मिल साधु का उपदेश न यथार्थ कल्याण दे सकता है और न ही बुद्धि उस पर पूर्ण निश्चयगत हो सकती है। ऐसा अच्छी तरह से समझना चाहिये।[३]

शिष्य ने गुरु की कुर्बानी को देख करके ही कुर्बानी करनी है, गुरु की पवित्रता को देख करके ही पवित्रता प्राप्त करनी है। गुरु के बैराग, अनुराग और निदिध्यास को देख करके ही शिष्य सर्वमयी गुण को धारण करके अपने तमाम अवगुणों से छूट सकता है। जब गुरु औगुणवादी और महन्त कथनी ही है तो शिष्य भी ऐसी ही गति की प्राप्त कर सकेगा। यह यथार्थ निर्णय समझना चाहिये कि गुरु की सत्स्थिति से ही शिष्य निर्मल हो सकता है।[४]

---

१. श्री समताविलास, पृ० १५७
२. पेशा
३. वही, पृ० ३६६
४. वहीं, पृ० ३६६

इन वचनों से सिद्ध हो जाता है कि राजयोग में नामस्मरण तभी सफल हो सकता है जबकि यह परम सिद्ध से प्राप्त हुआ हो। वास्तव में दीक्षा का अर्थ है 'ईश्वरकृपा'। गुरु देहधारी ईश्वर है। कभी वह जिज्ञासु को छू कर अथवा देखकर ही उसमें इस कृपा का प्रवेश करा देता है, कभी वह कृपा नाम के रूप में अवतरित होती है। जब नाम के रूप में गुरुकृपा का अवतरण होता है तब जिज्ञासु राजयोग की साधना में प्रवृत्त होता है। इसलिये इस साधना में भी सद्गुरु की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि अन्य साधनाओं में। बिना सद्गुरु से दीक्षित हुए राजयोग में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। वाणी में गुरुदीक्षा के बिना नामस्मरण की उपमा बिना बाढ़ के खेत से की गई है। ऐसे जिज्ञासु की कोशिश कभी कामियाब नहीं होती।

राजयोग का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ वचन उद्धृत किये जाते हैं। पाठकगण उन पर विचार कर लें। राजयोग पुरातन विद्या है। इस योग का उद्देश्य कुण्डलिनी शक्ति का जागरण है। इस शक्ति का जागरण नाम और प्राण की धारा को एक करके किया जाता है। जब यह कुण्डलिनी जाग जाती है तो विभिन्न चक्रों का भेदन करती हुई अन्त में वह गगन अर्थात् कपाल में स्थित होती है। उस समय साधक समाधि अवस्था को प्राप्त हो जाता है। वाणी में इस साधना के सम्बन्ध में अनेक शब्द मौजूद हैं। पाठक श्री समताप्रकाश का स्वाध्याय करके अपनी जिज्ञासा शान्त कर सकते हैं। यहाँ कुछ वचन भी समताविलास से उद्धृत किये जाते हैं।

नाम का असली निर्णय यह है कि जो खास बीजमंत्र किसी सिद्ध पुरुष से प्राप्त हुआ होवे और अन्तर्गति व बहिर्गति में पूर्ण रूप से चिन्तन किया जा सके, और पल-पल विखे सत्गुरु शरणागत धारण करके एक नाम के आधार ही पर अपनी तमाम की तमाम मनोवृत्तियों को निःचल करके बुद्धि को एकाग्र किया जावे। ऐसे साधन को ही नामचिन्तन और योग

कहा गया है।[१]

परम तप, परम जप, परम त्याग और परम स्थिति एक नाम के चिन्तन से ही प्राप्त होती है, जो निर्मल भावना और निर्मल जुगति (युक्ति) करके धारण किया जावे। यानी जो नाम प्राण-सन्धि को दृढ़ करके अन्तर बाहिर पूर्ण रूप से उच्चारण किया जावे, वह ही नाम अन्तःकरण में निश्चल होता है, और तमाम नामरूप कामनाओं का नाश करके अविनाशी शब्द का साख्यातकार (साक्षात्कार) कराता है। इस वास्ते ऐसे नाम में निश्चल हो करके अपने जीवन का उद्धार करना ही परम उच्च कर्तव्य है।[२]

जो निश्चय से एक नाम में दृढ़ हुये हैं, और कर्मफल की आसक्ति प्रभु आज्ञा में नित समर्पण करते हैं, और तमाम जीवों की जो कल्याण चाहते हैं, ऐसे परम विवेकी ही आत्मपद का बोध कर सकते हैं। निर्मल विवेक और निर्मल अनुराग के बगैर ऐसे नाम की अखण्ड स्मृति प्राप्त होनी अति कठिन है। इस वास्ते ही इस विज्ञानमार्ग में चलते तो बहुत हैं, मगर परम स्थिति को प्राप्त कोई विरला ही होता है।

दृढ़ निदिध्यासन जब नाम का धारण किया जाता है, तब तमाम संकल्प-विकल्प अभाव हो जाते हैं और बुद्धि एक ध्यान में निश्चल होती है और इन्द्र की आसक्ति से निर्बन्ध हो जाती है। ऐसे दृढ़ अभ्यास की प्राप्ति से अन्तर में सत्शब्द आत्मजोत अनुभव होती है। प्रथम शब्द की अनुभवता नाभिस्थान में प्रतीत होती है, बाद में वह अखण्ड धार ऊपर मस्तक के दरमियान अनुभव होने लगती है। ऐसी स्थिति जब अन्तर में

---

१. वहीं, पृ० ३६५-६६

२. वहीं, पृ० ३७०

बोध होवे, तब बुद्धि शारीरिक कामनाओं से पवित्र हो करके आत्म- स्वरूप में एक ध्यान होती है। जब ऐसी ध्यान की अवस्था अधिक परिपक्व हो जाती है तो मस्तक के ऊपर सुन्न शिखर में अखण्ड नाद अनुभव होता है। तब बुद्धि दुर्मत छाया से पवित्र हो करके अपने निज सरूप में विश्राम पाती है और तमाम शारीरिक दोषों से विलग हो जाती है। भूख, प्यास और निद्रा पर विजय हासिल कर लेती है। द्वन्द्व खेद स्वरूप राग-द्वेष की अग्नि से बिल्कुल शीतल हो जाती है और तमाम इन्द्रियों के भोगों से अचेष्ट रूप होकर विचरती है। ऐसी अवस्था ही परमसिद्धि योग आरूढ़ता का सरूप है।[१]

योग-सम्बन्धी विषय अनुभव का विषय है। अतः इस पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी करना लेखक की शक्ति के बाहर की बात है। जिज्ञासु पाठक की सुविधा के लिए श्री समताप्रकाश से कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं। साधक प्रेमी इन शब्दों पर मनन करके अपना आत्मविश्लेषण कर सकेंगे।

गुरमुख सुन सयानया, गुरु बिन भेद न पाये |
नेमो धरमी मर मिटे बिना शब्द नहीं थाए।
अलख अनादी रम रहा, अन्तर बाहिर मीत।
बिन संत जुगती योग की कभू न होए परतीत॥
काची काया भीतर, अविनाशी खेल रचाये |
विरला गुरमुख जगत में, सार भेद को पाये॥
निरमल योग विचार के, दृढ़ काल कीजो अभ्यास।
मनसा निस्चल तब होए, करम दुःख नास॥
ग्रन्थ कतेब विचार से, कभूँ न होवे योग।
बिन सतगुर के साधन करे, उपजे व्याधी रोग |

---

१. वहीं, पृ० ३७०-७१

योग बतावे भेद को, देह में निरदेह सार।
अखिल निरंजन जोत तब, घट होवे दृष्टार ||
ऐसी जुगती योग की 'मंगत' करे बखान।
सुन पुरखा गुनवन्तया, भेंट करो भगवान ||

प्रथमे आसन सहजे बाँधे। इन्द्री इस्थर मनुआँ खाँडे ॥
काची काया करें विचार। आवत जावत पवन संचार ||
अपने माहों ब्रह्म तत्त चीन। सो ही जोगिन्दर योग परवीन ॥
पवन को छेदे पाँच तत्त मन ठहराए। पवन को सोधे सत शब्द कोपाये ॥
पांच तत्त पच्चीस धारा। काचे गढ़ का करो विचारा ||
नौ द्वारे यह गढ़ के जानी। दसवाँ गुपत लखे कोई ज्ञानी ||
खट चक्कर इस काया माई। बूझे गुरमुख योग लखाई ॥

सार योग की जानो मीता। थामे पवन भये पुनीता ॥
गुदा लिंग नाभि अस्थाना। हिरदे कंठ धरे मकाना ||
त्रिकुटी चकर पछाने जोई। तिस जन को फिर गवन न होई ॥
खट चक्कर और पाँचों मुदरा। ब्रह्म परकाश शब्द निरद्वन्दरा ॥
नाभ कवल है अचरज थाना। जां में वसिया श्री भगवाना ||
तिस से उपजे स्वास का थम्बा। सुरती खेले खेल अचम्बा ॥
दस पवना देह में विस्तारी। दो पवना सब की अधिकारी ॥
प्राण अपान ता को नामा। करे पछान ले बिसरामा ॥

गुर की सिख्या जाप जपावे। अकथ कथे शब्द रस पावे ||
अपना रूप आप मिलाए। 'मंगत' बोले ज्ञान आगाहे |
बाहिर जाती पवन हकारी। भीतर आवे रूप सकारी ॥
हकार सकार मिलावे दोई। निरविख नागिन सोधी होई ॥
हकार सकार एह बिध मिलाए। बाँधे पवन पच्छिम घर जाए ॥

ईड़ा पिंगला में सुरति धारे। गुर का शब्द पल-पल विचारे ॥
उलट पवन कंवल परगासे। उपजे शब्द ज्ञान धुन रासे ॥
उठके शब्द चढ़े आकास। बाजे अनहद नाद निरवास ॥
स्वास सुरत और नाम का बन्ध। गुरमुख खोले विखमी सन्ध ॥
उलट पलट पवन को देवे। मूल शब्द नित मन में पीवे ॥
नाभ कंवल में गरजे बाई। दसवें द्वार तब सोझी पाई ॥
बाजे अनहद नाद अखण्ड | धन्न योगी छेदा ब्रह्मण्ड ||

मूल योग की सार पहचान। मन पवन की लाओ तान ॥
मन पवन कीजे एक ठौर। गुरमुख बूझे मता अघोर ॥
पवन आरम्भ संग नाम संभाले। बंकनाल के तोड़े ताले ॥
उलट पवन घर उमगे नीर। पीवे कोई कामिल फ़कीर ॥
उलटा नीर चढ़े आकास। देखे खेल अवगत अविनास ॥
मन पवन को नित परचेले। अबगत नाद गगन में खेले ॥
सतगुर मिले तब जाने पन्ध। 'मंगत' खोले बिखमी सन्ध ॥

ध्रू लोक से पवन को बान्धे, सुरत पाताल पाठाए।
इरध उरध का आसन करके, गुरमुख योग कमाए ॥

बारह सोलह पवन की गमता। सम कर पावे तत्त समता ॥
पवन संभाल आरम्भित करे। धरती उलट आकासे चढ़े ॥
उपजे नाद सारंग तार। धन्न योगी गत लखी अपार ॥
निरगुन सरगुन जाने भेद | सतगुर मिलें मिटावें छेद ॥
निरगुन सरगुन दो ही बन्धाए। तत्त निरंकार तब परगट पाए।
नौ द्वारे बन्धे नीत। पवन को पीछे सो चरंजीत ॥
पवन को सोधे उपजे नाद। अगम निगम की खेड अगाध ॥
ऐसी जुगती जाने जोई। अनुभवी समाध में सुरत परोई ॥

मन की विरती हुई लवलीना। आलख शबद घर अन्तर चीना ॥
उपजे शब्द बहु रंग की तार। अमरत धुनत बाजन्त सार ||
त्रिकुटी भीतर शब्द किलकारी। तब जोगिन्दर इच्छाचारी ॥
त्रिकुटी ऊपर परम सुखसीर। भंवर गुफा के लागे फेर ॥
नाना रंग जोती दरसाई। कोट भान छवि गिनी ना जाई ॥
ज्यूँ ज्यूँ नाद गरजत करे। त्यूं-त्यूँ जोती से रस झरे।
दमके दामन नाद रस पीवे। 'मंगत' विरला कोई मर के जीवे ॥

सहँस हजार दल केवलकोफोड़ी। अजपा जाप की लाई झकझोरी ||
अगम जोत अखण्ड अनूप | परसे कोई गुर का पूत ॥
पाँच शब्द रंग उपजे नाद | सुरत समाई वड विस्माद ॥
बूझे शब्द मन मगन समाए | होए निरास परम पद पाए।
तिससे परे न कोई योग | मन पवना शब्द रस भोग ॥
तीनों बन्ध लगावे ताली | ब्रह्म कपाट खुले तिरनाली ॥
निस दिन सोधे गुर का पूत। पाँच पच्चीस बाँधी इक सूत ॥
मनुआ ठाके विरत रजाये। प्रन अपने को समकर पाये ॥

पवन पखारे शब्द गुर जुगता। एह विध उरधकँवल मुख खुलता ॥
जब लग पवन न सोधे मीत। तब लग न पाये मन परतीत ॥
काची काया करो विचार। ब्रह्मरूपिनी पवन रीजार ॥
पवन को सोधे मनुआ ठहराये। नाम को सोधे पवन शुद्धाये ॥
मूल नाम सतगुर बतलाया। अगम निगम की गम को पाया।
चन्द सूरज का करे आहारा। सो योगी पावे भरतारा ॥
ऐसा नाम कमाए जन कोये। जीवन जीवे सत् रूप समोये ||

चन्दर सूरज दो ही बान्धे, पच्छिम दिशा के घाट।
'मंगत' कंवल परगासिया, निरमल सूझी बाट ॥

दिन-दिन पवन को सोधं योगी। अमरत पीवे ज्ञान संजोगी ॥
चार उगल आकास फैलाओ। गुरमुखता में आसन लाओ॥
आसन आकास सुरत मतवाली। अमरत शब्द पियो सुखसाली ॥
अखण्ड नाद परगट तिरबेनी। जीवे योगी गुर की कहनी ॥
मन पवन जब मेला होए। सुखमन बोले गगन घर जाए ॥
ऐसी करे कमाई जोए। गोरख ताँके चरन को धोए ॥
गगन गृह खेत उरध गृहमाली। उलटा फूल लगा बिन डाली ॥
बिन फूले फल परगट होए। 'मंगत' बोले सूझे जन कोए ॥[१]

वाणी में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनमें योगमार्ग की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। इन वर्णनों में अनेक प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। साधक जिज्ञासु अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उनका अर्थ समझ लेते हैं। ज्यों-ज्यों साधक अपने मार्ग पर बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इन प्रसंगों का अर्थ भी स्वयं ही स्पष्ट होता जाता है। ऐसा स्वयं गुरुदेव का कथन था। थोड़े से शब्द इसलिये यहाँ उद्धृत किये गये हैं ताकि इस मार्ग पर चलने वाले जिज्ञासु लाभान्वित हो सके।

समता सन्नियम

समतातत्त्व के अनुभव के लिये योग का मार्ग है, परन्तु योगमार्ग का साधन कठिन है— जीते हुए साधक को मरना पड़ता है। योगमार्ग का अधिकारी बनने के लिये पहले अपने आचार, विचार और संगति को पवित्रता आवश्यक है। बिना इनकी शुद्धि के योगमार्ग अपनाना अक्सर जीव के पतन का कारण बनता है। साधक के लिये अनिवार्य है कि वह अपने व्यवसाय में सच्चाई और ईमानदारी का पालन करे, अपनी स्वार्थपरता का त्याग करे और दुःखी जीवों की

१. श्री समताप्रकाश, संवत् २०२६ (दूसरा संस्करण), पृ० २४४-२४८

विनम्रभाव से सेवा करे। वह खेद को प्राप्त करके दूसरों को सुख दे और अनादर को प्राप्त करके दूसरों को आदर दे। विचारवान होता हुआ भी अपने को दूसरों से निकृष्ट समझे और दुःख को वरदान रूप जाने निश्चय में सर्वात्मभाव रखे और कर्म में सर्वकल्याणभाव। जब ऐसी विशालता हृदय में आ जाती है तभी जीव योगमार्ग का गामी होने का अधिकारी हो सकता है। इस अधिकार की प्राप्ति के लिये अन्य सदाचार के नियमों के अलावा पांच मुख्य नियम गुरुदेव द्वारा प्रतिपादित किये गये थे। प्रत्येक समतावादी के लिये इन पांच नियमों का पालन करना आवश्यक है। ये नियम हैं: 'सादगी, सेवा, सत्य, सत्संग और सत्स्मरण ।' सत्स्मरण[१] तो योगसाधना ही है, प्रथम चार साधन जिज्ञासु को योगसाधना का अधिकार प्रदान कराते हैं। सादगी, सेवा, सत्य और सत्संग को अपनाकर ही जिज्ञासु योगसाधना में दक्षता प्राप्त कर सकता है-इनको अपनाये बिना उसकी साधना अधूरी ही रहेगी; बल्कि वह अभिमानी होकर अपने लिए और भी बड़ा संकट खड़ा कर लेगा। अतः इन चार नियमों का पालन परमावश्यक है।

(१) सादगी "सबसे पहला नेक उसूल है सादगी। इस उसूल के धारण सादगी- करने से मानुष बहुत गैर जरूरी ख्वाहिशों पर क़ाबू पा सकता है और निर्मल बुद्धि से असली खुशी को हासिल करने की कोशिश करता है।

"लिवास, खुराक और विचार को सादा करने का नाम सादगी है। इन तीन आदतों की गिरफ़्तारी में जीव लाचार रहता है। इस वास्ते सादगी को धारण करके इनसे निजात हासिल करनी चाहिये। जरूरतों की ज्यादती पाप करने की तरफ़ रागिब करती है। सादगी के धारण करने से इस अन्धकार से

---

१. समतावाद में सत्स्मरण के दो स्वरूप है—एक तो प्राण अपान की साधना द्वारा योग-साधन, दूसरा महामंत्र का जाप जप-योग के सम्बन्ध में पहले ही विस्तार से चर्चा कर दी गई है। देखिये अध्याय-९-महामंत्र की महिमा।

छूट जाता है।... सादगी से मन विचारवान होता है। अपने भले-बुरे को अच्छी तरह सोच सकता है। सादगी देवताओं की धारणा है, नुमायशी जिन्दगी राक्षसों की धारणा है। बड़ी से बड़ी कोशिश करके सादगी के जीवन को इख्तियार करना चाहिये।"...[१]

सादगी का अभिन्न अंग आहार की सादगी भी है। समतावाद में मांस, शराब और अन्य नशे वाली वस्तुओं के सेवन का पूर्ण निषेध है।

वास्तव में सही सादगी मन की सादगी है। खान-पान की सादगी तभी फलवती होती है, जब मन में भी सादगी आ जाये। मन की कुटिलता रखकर कोई भी सादा नहीं हो सकता। इस प्रकार सादगी का सही स्वरूप सत्परायणता है। तन और मन की शोभा को त्यागकर जो अबोध होकर आत्मपरायण हो जाता है, वहीं सही अर्थों में सादा है। इसीलिये कहा है :

मन में सादगी जब मान समाई ।
तब ही सादा जीवन पाई ॥

(२) सेवा-"शारीरिक सुख ही बुद्धि को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में फिराते हैं। मगर वास्तव में ये शारीरिक सुख ही परम दुःख का मूल है। जिस भोग को सुख माना जाता है, वह ही अन्त में दुःख सरूप हो जाता है। यानी सुख के निश्चय से दुःख प्रकट होता है। जब तक किसी वस्तु का सुख अनुभव करता है, तब तक उसके मोह में गिरफ्तार रहता है। आखिर वह सुख ही दुःख रूप में प्रकट होकर अति क्लेश देता है। यह ही अज्ञान का चक्र है। इससे छूटने के वास्ते एक निष्काम कर्म का मार्ग ही सहज है।

---

१. श्री समताविलास, पृ० ६५

"अपने सुखों को दूसरों की सेवा में भेंट करना, और मन में निर्मान भाव रखना, अधिक से अधिक तन, मन, धन से सेवा करके प्रभु इच्छा में निश्चित होना यह ही एक निर्मल त्याग का मार्ग है। ज्यों-ज्यों गुणी पुरुष पवित्र भावना से इस पर-उपकार के मार्ग में विचरता है, त्यों-त्यों उसके अन्तःकरण के दोष नाश हो जाते हैं। तब सत्स्वरूप में दृढ़ विश्वास प्राप्त होता है, और संसारी पदार्थों से चित्त को वैराग प्राप्त होता है मानो शारीरिक सुखों को तुच्छ जानकर प्रभु-आज्ञा में निश्चित होकर तमाम जीवों के सुख की खातिर अपने-आपको निष्काम भाव से न्योछावर करता है, वह ही परम गुणी आत्मानन्द का अधिकारी है।"[१]

(३) सत्य-सत् केवल आत्मसत्ता है- समस्त संसार असत् का फैलाव है। अतः सत्यपालन का अर्थ है आत्मपरायण होना। "सब संसार मिथ्या है, सत् एक ईश्वर है इस विश्वास को धारण करना सत् की असली पूजा है।"[२] "- सत् के मानी यह है- जो चीज हमेशा दायम-कायम है, उसकी तलाश करने की कोशिश करनी और उसके मुताबिक अपने जीवन को बनाना। हर एक बात को सही विचार करना, हर एक बात को सही अमल में लाना यह सत् का सरूप है।

"अपना बोल तोल हर पहलू में सच्चा रखना यह सत् का सरूप है। जो बात दिल में होवे वह जबान से कहनी - यह सत् का स्वरूप है। सच्चाई की खातिर हर लमा अपने पापों से मुखलसी हासिल करनी- यह सत् का स्वरूप है।"[३]

"जो कर्मचक्र में ईश्वर-इच्छा निश्चय करता है, और सब कुछ एक प्रभु का ही चमत्कार देखता है, अपने तन, मन और धन के मद से जो निर्लेप रहता

---

१. वहीं, पृ० २०९-१०
२. वहीं, पृ० ९८
३. वहीं, पृ० ९८

है और दूसरों की सेवा में जो नित हो निष्कामभाव से दृढ़ है, सुख व दुःख प्रकृतिभोग[१] समझकर ईश्वर- आज्ञा में जो त्याग करता है, वह ही महागुणी, परम संतोष और ईश्वरपरायणता को प्राप्त हुआ है। ऐसे निर्मल यत्न को प्राप्त किये हुये वह सहज हो निर्वाणपद में लीन हो जायेगा। उस ही पुरुष ने अति ही शुद्धाचरण को धारण किया है और अनन्त जीवों को शांति देने वाला है।""

सत्संग : सत्संग का उद्देश्य सद्विचार है। ग्यारहवें अध्याय में सत्संग के स्वरूप का वर्णन हो चुका है। पाठकों की सुविधा के लिये श्री समताविलास से 'सत्संग निर्णय' नामक प्रसंग उद्धृत किया जाता है। इस प्रसंग में उन विचारों का उल्लेख है जिन पर सत्संग में मनन होना चाहिये :

वचन १. ईश्वरभक्ति का निर्मल विचार- यानी सत्स्वरूप का पूर्ण निर्णय समझना और पूर्ण श्रद्धायुक्त अपने-आपको बनाना।

वचन २. सादगी पर विचार-यानी खुराक, लिवास को सादा करना, फिजूल खर्ची को छोड़ना।

वचन ३. सत्सेवा पर विचार-यानी मानुष सेवा में अधिक प्रण रखना और दूसरे जीवों की रक्षा करनी।

वचन ४. सत्पुरुषों के सत् नियमों पर विचार-यानी सत्पुरुषों के पवित्र आदर्श को अपनाने का यत्न करना।

वचन ५. सत्कर्म पर विचार-यानी धर्मानुकूल और धर्म-प्रतिकूल कर्मों को समझकर अनुकूल धर्म की धारणा करनी।

---

१. प्रारब्ध भोग

२. समताविलास, पृ० २२६

वचन ६. सत्कर्म के सत्प्रचार का विचार-यानी अपने पवित्र आचरण को दृढ़ता द्वारा दूसरे जीवों का कल्याण करना।

वचन ७. निर्पख (निपक्ष) - भावना पर विचार- यानी बा-उसूल जीवन बनाना वाद-विवाद और कथनीज्ञान से बिल्कुल परहेज रखना।

वचन ८. सब मजहबों के रहनुमाओं के उसूलों पर विचार-यानी तमाम सत्पुरुषों के जीवन आदर्श को विचार करके मजहबी तास्सुब और वाद-विवाद का त्याग करना।

वचन ९. अपनी जीवन अवस्था के मुताबिक़ समय और सत्पुरुषार्थ का विचार-यानी पूर्ण समय की पाबन्दी में अपनी मानसिक पवित्रता हासिल करने का पूर्ण यत्न करना।

वचन १०. अपने खानदान और जाति में बुरी रसूमात छोड़ने का विचार- यानी निरर्थक जो रीतियाँ जाति व खानदान में जारी हों उनसे अपने-आपको पवित्र करना।

वचन ११. कुल जाति के प्रचलित गुरुओं के आचरण पर विचार- यानी बुरे आचरण वाले गुरु को त्यागना और निर्मल आचरण वाले सत्पुरुष की संगत से अपने-आपको पवित्र करना।

वचन १२. अपने मन में पवित्र मनोरथ धारण करने का विचार- यानी सच्चे धर्म में अधिक से अधिक अपने तन, मन, धन से सेवा करनी।

वचन १३. सत्संग में प्रेम बढ़ाने का विचार-यानी सत्संग को अधिक कल्याणकारी समझना और एकत्र होकर अपने जीवन की निर्मल उन्नति

करनी।

वचन १४. एकता व संगठन पर विचार-यानी सब जीवों में एकता- भाव रखने की दृढ़ता और संगठित होकर सरब जीवों की उन्नति का विचार करना।

समतावाद की यह संक्षिप्त चर्चा प्रायः गुरुदेव के शब्दों में ही की गई है। कोई विशेष तार्किक विश्लेषण नहीं किया गया है। सुविज्ञ पाठक जान गये होंगे कि समतावाद कोई नया पंच अथवा सम्प्रदाय नहीं है, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक परम्परा का अभिन्न अंग है। समतावाद जहाँ साधना की अवस्था में द्वैतवाद को स्वीकार करता है वहाँ सिद्धावस्था में अद्वैतवाद की सत्यता को मानता है। समतावाद की दृष्टि में ज्ञानोदय होने पर कर्मों के खेद का अभाव हो जाता है और निष्क्रिय स्थिति की प्राप्ति होती है, परन्तु अज्ञानावस्था में अपने संस्कारों की शुद्धि के लिए कर्मों की पवित्रता आवश्यक है। समतावाद सदाचार की शुद्धि पर विशेष बल देता है क्योंकि बिना सदाचार के परमार्थसाधन असम्भव है। अतः स्वार्थ कर्मों की शुद्धि भी अनिवार्य है।

समतावाद व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन में सादगी की कल्याण- कारक मानता है और जरूरतों की अधिकता को दोनों ही के लिए घातक घोषित करता है। समतावाद के सामाजिक दृष्टिकोण की चर्चा अन्यत्र की जायेगी। यहां इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वे सब कर्म पाप रूप हैं जिनसे जीव की वासना का फैलाव होता है और उसके मोह और अहंकार की वृद्धि होती है, और वे कर्म पुण्य-रूप हैं जिनसे जीव में धैर्य, सन्तोष, निष्कामता और ईश्वरपरायणता के भाव दृढ़ होते हैं। वे सभी सामाजिक व्यवहार और परिस्थितियाँ जो मनुष्य की वासना फैलाने वाली हैं, सामाजिक अन्याय (Social Injustice) के अन्तर्गत आती हैं। जो सामाजिक व्यवहार और परिस्थितियां वासना के फैलाव को रोकने में सहायक होती हैं वे सामाजिक न्याय (Social Justice) का रूप हैं।

समतातत्त्व समस्त द्वन्द्वों से अतीत है। नित्य के मुसाफ़िर इस जीव की मंजिल है। वहाँ पहुँचकर जीव की वासना शांत हो जाती है और दृश्यमान संसार के द्वंद्व लीन हो जाते हैं। वह अनिर्वचनीय सत्ता ही माया का समाधान है। सर्वातीत होती हुई भी वह सत्ता सभी धर्मों में उनके तत्त्वरूप में समाई हुई है। वही सत्ता सत्पुरुषों के रूप में अवतरित होकर जीवों के कल्याण का कारण बनती है। विचारकों का सत्य, ज्ञानियों का ज्ञान, भक्तों का ईश्वर, योगियों का शब्द, पापियों का कल्याण, अवमानितों का मान, दुखियों का आनन्द, प्यासों की तृप्ति, और हारे हुओं को जीत वह समतातत्व ही है। वह दयासिन्धु इसी रूप में बालक 'मंगत' के सम्मुख प्रकट हुआ था। तेरह वर्ष की आयु में गुरुदेव मौनसत्ता की आवाज इन तेरह अक्षरों में सुनी थी :

"ओ३म् ब्रह्म सत्यम् निरंकार अजन्मा अद्वैत पुरखा सरब व्यापक कल्याण मूरत परमेश्वराय नमस्तं।"

इस आवाज को सुनकर फिर वे दुनिया की आवाज से बहरे हो गये। तन और मन को भस्म करके राह की धूल बन गये। मां का दुलार छोड़कर श्मशान भूमि की गोद में वात्सल्य की याचना करते रहे। जीते ही भस्मीभूत हो गये और अन्त में अपने मालिक को पाकर उसी के रंग में रंग गये।

इस अमरपुरुष की प्राप्ति के लिए ही समस्त यमनियम, योग, भक्ति और ज्ञान है। यह प्रेम का मार्ग है। मरकर जी उठने का सौदा है। जिज्ञासु अपने को मिटाकर ही अपने-आप को पाता है। इस झूठी बाजी में सच्चे बाज़ीगर को पाने के लिए 'मैं-मेरे' के झूठ की आहुति देनी पड़ती है। इस आहुति के बाद ही वह जीव की पुकार सुनता है।

सत् जिज्ञासु होय के, तत्त निर्णय ज्ञान विचारी।
अपने आप में आप को बोधे, सब भरम करम होए छारी॥

अन्तर अनुभव गति परकाशे, सत् शब्द अखण्ड निर्वाना।
गुरु के वचन में मरजीवित होये, सो परसे सार ज्ञाना॥
निर्मल चित्त इक नाम कमावे, सब आपा मति गंवाए।
तीन ताप की तपन विनासे, जन निर्भय धाम समाए।
सत् ही सिमरे, सत् ही बोधे, सत् में जीवन त्यागे।
झूठ देही का गरब विनासे, घट आतम रसना जागे॥
आतम रस सत् शब्द अविनाशी, जो अन्तर कीजे पाना।
सो जिज्ञासु सिद्ध भयो, पद परसयो निर्वाना॥
साजन मारग निर्बन्ध खोजो, सतगुरु सीख चितारो।
मानुष जन्म जग दुर्लभ पायो, नित धरम का खाट व्योहारो॥
जीवन रूप सो पार गरामी, नित अन्तर मन में घ्याओ।
'मंगत' यतन यह सार है, तत्त पूज परम पद पाओ॥

अध्याय- १५

तप (क)

दिवा तपति आदिच्चो, रतिमा भाति चन्दिमा।
सन्नद्धो खत्तियो तपति, झायो तपति ब्राह्मणो।
अब सब्बमहोरत्ति बुद्धो तपति तेजसा ॥[१] धम्मपदम्, २६/४

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥[२] गीता ७,९

गुरुदेव के अहोरात्रि[३] होने वाले तप की झांकी पाठक पहले ही देख चुके हैं। जलमादा, मटोर, निखेतर पर्वत और थट्टा के तप की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। जलमादा में आपने पूर्ण बुद्धत्व प्राप्त किया था, मटोर में कठिन तप करके जीवों का कल्याण किया था, निखेतर पर्वत की काली रातों में ज्ञानज्योति का अवतरण हुआ था और थट्टा में श्मशान की भस्म से ज्ञान की गंगा बह निकली थी। वैसे तो गुरुदेव का जीवन ही तपरूप हो चुका था, तो भी प्रत्येक वर्ष वे कुछ महीने एकान्तवास में रहकर कठिन तप किया करते थे। जीवनपर्यन्त

---

१. सूर्य दिन में तपता है, चन्द्रमा रात्रि में प्रकाशित होता है। क्षत्रिय अपने कवच में तपता है और ब्राह्मण अपने ध्यान में। परन्तु बुद्ध अपने तेज से रात दिन तपता रहता है।

२. पृथिवी में मैं पवित्र गन्ध हूँ, अग्नि में मैं प्रकाश हूँ। सब प्राणियों में मैं जीवन हूँ और तपस्वियों में मैं तप हूँ।

३. दिन-रात

उनका यह सिलसिला चलता रहा। सन् १९४२ और सन् १९४५ की गर्मियों में उन्होंने काश्मीर में सरूपा नामक भयानक जंगल में घोर तप किया। सन् १९४४ में ऐसे ही घने एक और जंगल-फीलाँ-में गर्मियों के दो मास बिताये। ये जंगल बहुत घने थे दूर-दूर तक आबादी न थी। जंगल सरुपा में तो दिन में भी रीछ और चीते घूमते रहते थे- रात की तो बात ही अलग थी। यहां भी गुरुदेव की रातें आकाश के नीचे ही बीतीं। रीछ और चीते जंगल में घूमते रहते, गुर्राते रहते और दहाड़ते रहते, लेकिन गुरुदेव की समाधि न टूटती। जैसे मटोर में उनकी समाधिस्थ अहिंसा ने इन्सानी दरिन्दों को वश में किया था, उसी अहिंसा ने जंगली दरिन्दों में भी मैत्रीभाव का संचार कर दिया। हिंसक पशु भी उनके मित्र बन गये।

एक बार गुरुदेव ने एक प्रेमी से सत्पुरुषों के प्रभाव का जिक्र इस प्रकार किया था "प्रेमी, जिस पेड़ के नीचे वे तप करते हैं, वह पेड़ तर जाता है; जिस पत्थर पर बैठते हैं, वह पत्थर तर जाता है।" गुरुदेव के तप के तेज से न केवल मानव और पशु बल्कि कथित जड़ वस्तुयें भी धन्य हो रही थीं। जंगल फ़ीलों में तप की समाप्ति पर जब आप प्रस्थान करने लगे तो आस-पास के गांवों के मुसलमान आपकी चौखट पर सिजदा करने आये। सिजदा करके कहने लगे, "पीरजी, बन्दों पर मेहर कर जाइये। हमारे गाय, भैंस और दूसरे जानवर बीमार हैं। पांव गल गये हैं, मुंह से राल टपकती है; दूध नहीं देते। मेहर करके दुआ करें।"

कुछ देर चुप रहकर आपने एक पत्थर की ओर इशारा करके प्रेमियों को आज्ञा दी कि वे महामन्त्र का उच्चारण करते हुए उस पर जल डालें। महामन्त्र के पाठ के बाद आप ग्वालों से बोले, "इस पत्थर पर दूध गिराकर मालिक से ख़ैर मांगना। ख़ुदा शफ़ा बख्शने वाला है।" ऐसी महिमा थी उस स्थान के पत्थरों की भी जहां सत्पुरुष ने तप किया था। परन्तु साथ ही प्रेमियों को आपने चेतावनी भी दे दी। ग्वालों के चले जाने पर कहने लगे, "देखा, लोग

स्वार्थ की भक्ति के कितने चाहतक है। वैसे इनका विश्वास ही इनको फायदा देगा। स्वभाव से हर एक जीव स्वार्थ की पूर्ति के लिए नित्य यत्न- प्रयत्न कर रहा है। कोई बिरला ही राहत-ए-अबदी के लिए कोशिश करता है। सिर्फ आशिक ही उसे पीने की इच्छा करते हैं।"

आस-पास के चराचर जीवों के कल्याण के साथ-साथ समस्त जीवों के उद्धार के लिए भगवती वाणी तथा आप्तवाक्यों का अवतरण भी तप के दिनों में होता रहा परन्तु जहाँ जीवों की तृप्ति हुई, वहाँ गुरुदेव के शरीर की अवस्था बिगड़ने लगी। जलमादा के तप के बाद उनका शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया था। थट्टा के तप के बाद उनका शरीर स्थान-स्थान पर फटने लग गया था। वास्तव में निखेतर पर्वत के तप के बाद ही आने वाली हालत का पूर्वाभास मिल गया था। तपस्या समाप्त होने पर प्रस्थान करने के दिन गुरुदेव ने भगतजी से कहा, "प्रेमी, आज उसी सोते पर स्नान करेंगे जहाँ से तुम रोज पानी लाते हो।" कोई एक मील नीचे जाना था जब गुरुदेव सोते पर पहुंचे तो एक पेड़ के नीचे बैठ गये। थकावट-सी महसूस कर रहे थे। थोड़ी देर सुस्ता कर स्नान करने लगे। मुश्किल से दो-चार लोटे ही शरीर पर डाले होंगे कि कहने लगे, "पानी बहुत ठण्डा है । क्या यहाँ से रोज पानी ले जाते थे ?" भगतजी ने देखा कि गुरुदेव का शरीर एकदम नीला पड़ गया है। गुरुदेव कहने लगे, "लगता है शरीर रह ही नहीं गया। एकदम अलग-सा लगता है।" एक ओर जाकर धूप में खड़े हो गये। वापसी पर थोड़ी ही दूर जाकर कहने लगे, "आती बार तो पता नहीं लगा लेकिन अब साँस फूल रही है।" कहकर जमीन पर ही बैठ गये। चढ़ाई चढ़ना कठिन हो रहा था। भगतजी के कन्धे का सहारा लेकर कहने लगे, "प्रेमी, धीरे-धीरे चलो।"

भगतजी बोले, "महाराजजी चाय की जगह दूध का सेवन क्यों नहीं करते ? उबले पानी से क्या होता है ? हम तो डर के कारण बोल नहीं पाते, लेकिन.... ।"

भगतजी आगे न बोल पाये। गुरुदेव ने धीमी आवाज में उत्तर दिया, "प्रेमी दिखाने के लिए कुछ नहीं कर रहे हैं। ईश्वराज्ञा हो ऐसी है। इसमें क्या हो सकता है ?"

केवल चाय के बल पर शरीर चलता रहा और जंगलों की धूप-छांव आंधी- तूफ़ान सहता रहा । शरीर को ढांपने के लिए एक कमली का हो सम्बल था। सन् १९४४ में फ़ीलाँ नामक वन में तप के कुछ ही समय बाद (सितम्बर सन् १९४४) आपके कान में दर्द होने लगा। जो घरेलू इलाज हो सकता था किया गया, लेकिन कोई आराम न आया। उस वर्ष गंगोठियां में सम्मेलन (२१ अक्टूबर, सन् १९४४) के दिन दर्द के कारण आप अधिक विचार भी न दे सके। दिन भर मुंह-सिर लपेट कर कमरे में पड़े रहते। दरवाजा बन्द रहता। लेकिन रात में उठकर तरेल नदी के किनारे जाकर समाधिस्थ हो जाते तब न दर्द रहता, न शारीरिक कमजोरी। कान का यह दर्द भी अजीब था । शरीर की सारी शक्ति को चूसने वाला था यह दर्द। सम्मेलन के बाद सब प्रेमी बहुत मायूसी की हालत में अपने घरों को लौटे। एक दिन भगतजी और प्रेमी राम जी दास कपड़े धो रहे थे। गुरुदेव ने उसके पास आकर कहा, "तुम कपड़े धो रहे हो! इनके कष्ट का भी तुम्हें कोई ध्यान? तुम्हारे जैसे शिष्यों की हालत देखकर यही जी करता है कि यहाँ से चल पढ़ें और चलते-चलते प्राण दे दें।"

दोनों ने कपड़े धोना बन्द कर दिया। लज्जित भी हुये। लेकिन प्रेमी रामजीदासजी कुछ सोचते रहे। अवसर पाकर महाराजजी से पूछ ही बैठे, "महाराजजी, दिन-भर आप अपने कष्ट की दुहाई देते रहते हैं, लेकिन रात को आपका कष्ट कहाँ चला जाता है ?" मुस्कराकर उत्तर दिया, "प्रेमी, संसार में रहकर संसारियों जैसा ही व्यवहार करना होता है। जब महसूस करने वाला ही न रहा हो तो दुःख-सुख की महसूपात कैसी ? लेकिन ऐसी

बातों का प्रचार नहीं किया करते। सहजभाव से ही व्यवहार करना चाहिए।[१]

तबीयत में सुधार न होने के कारण, गुरुदेव को इलाज के लिए रावलपिण्डी ले जाने का निर्णय किया गया। अधिक चलने की शक्ति न थी। इसलिए मानक्याला स्टेशन तक आपको पालकी में बैठाकर जाना पड़ा। रावलपिण्डी में अच्छे-अच्छे डाक्टरों को दिखलाया गया, परन्तु कोई सुधार न हुआ। शरीर कमजोर होता जा रहा था। चेहरे का रंग पीला पड़ गया था। प्रेमियों ने जबरदस्ती चारपाई पर लिटा दिया। ठाकुर दीवानसिंह छाया की तरह साथ रहते थे। इसी हालत में एक मास गुजर गया।

एक दिन गुरुदेव ने स्वयं ही प्रेमी कशमीरचन्द (गुरुदेव इन्हीं प्रेमी के घर ठहरे हुए थे) से कहा, "प्रेमी, तुम्हारे पिता बड़े हकीम थे। उनका कोई ग्रन्थ निकालकर तो लाओ। शायद कोई कान के दर्द का तेल लिखा हो।" उसी ग्रन्थ में लिखे एक नुस्खे के अनुसार तेल तैयार किया गया।[२] थोड़ा गर्म करके जब वह तेल कान में डाला गया तो एकदम ठण्डक-सी महसूस हुई।" कहने लगे, प्रेमी, जो टीस उठती थी वह बन्द हो गई है। शायद यह तेल कुछ लाभ कर दे।"

भगतजी बोले, "महाराजजी, आप ही प्रेरक हैं, आप ही बताने वाले हैं। हमारी चालाकियाँ क्या कर सकती हैं ?"

थोड़े ही दिनों के उपचार से दर्द बन्द तो हो गया, लेकिन स्वास्थ्य ऐसा

---

१. यह घटना प्रेमी रामजीदास ने लेखक को सुनाई थी।

२. नुस्खा इस प्रकार था: गधे की लीद का पानी= आधी छटाँक, तिल का तेल= १ छटाँक
प्याज का पानी= तीन माशे।

बिगड़ा कि फिर पुरानी शक्ति वापस न लौट सकी। प्रेमियों के बहुत आग्रह पर आप काले चने की तरी और डबल रोटी के दो सलाइस भी लेने लगे। परन्तु कुछ ही दिनों बाद उसे छोड़ दिया और चाय पर ही जीवननिर्वाह करने लगे। सन् १९४५ में सरूपा जंगल में तप के बाद यह दर्द फिर जाग उठा। इसके बाद वह बीच-बीच में अपना रंग दिखाता रहा। गुरुदेव के स्वास्थ्य के गिरने का ऊपरी कारण तो उनका तप और आहार की कमी ही कहा जा सकता है। इसका प्रमाण भी दिया जा सकता है। एक दिन एक प्रेमी ने गुरुदेव से मालटा खाने का आग्रह किया। प्रेमी का मन रखने के लिए गुरुदेव ने उसे ग्रहण कर लिया। दो-चार दिन तक प्रेमी के कहने पर मालटा खाते रहने से कान में टीस उठना बन्द हो गया। लेकिन गुरुदेव ने कुछ ही दिन बाद अपना आहार फिर चाय तक सीमित कर दिया। नतीजा वही हुआ जो होना था- उनके स्वास्थ्य में बराबर गिरावट आती गई।

और आखिर चाय ने अपना रंग दिखा ही दिया। सन् १९४९ में गुरुदेव शिमला में जाखू पहाड़ पर एकान्तवास कर थे। जाखू एक ऊँचा पहाड़ है- लगभग आठ हजार फीट ऊँचाई है उसकी। शहर के ऊपर स्थित है। इस पहाड़ की चोटी पर एक मन्दिर है जहां से हिमाच्छादित चोटियाँ दिखाई देती है। चारों ओर खुला होने के कारण ठण्डी हवायें चलती रहती हैं। गुरुदेव जाखू की चोटी से कुछ ही नीचे धौलपुर क्वाटर्ज में वास कर रहे थे। बरसात शुरू होते ही लगातार बारिश होने लगी। अक्सर बादल छाये रहते थे। ठण्डी हवायें चलती रहती थीं। सावन के प्रारम्भ की बात है। रविवार का दिन था। शाम के सत्संग के बाद आपने भगतजी से कहा, "प्रेमी थोड़ा कहवा बना लाओ। पेट की दाईं तरफ़ दर्द महसूस हो रहा है।" कहवा पीने के आधे घण्टे बाद ही उल्टी आ गई। दर्द और भी तेज हो गया। नींबू और काली मिर्च से कुछ आराम तो महसूस हुआ, लेकिन दर्द समाप्त न हुआ। दूसरे दिन सुबह जब आप बाहर से रात्रि का तप करके लौटे तो दर्द फिर तेज हो गया। कहने लगे, "दर्द फिर उसी तरह शुरू हो गया है। कल सत्संग के बाद जब प्रेमी बैठे थे तो

सहसा अन्दर से गुबार-सा उठा था। पता नहीं क्या बात है ?"[१]

गुरुदेव ने इस कष्ट के सम्बन्ध में किसी से चर्चा करने की मनाही कर दी। न ही किसी दवा का उपयोग किया। केवल क़हवा अथवा शिकंजवी से ही उपचार करते रहे। दर्द कभी बन्द हो जाता, कभी फिर शुरू हो जाता। इसी कष्ट के दिनों में आपने 'जीवन सफलता बोध' अपने करकमलों से लिखा। जब दर्द में कोई कमी न हुई तो भगतजी ने प्रेमियों से चर्चा की। डाक्टर भगतराम जो को सूचित किया। वे दिल्ली से दौड़े आये। उन्होंने चाय पर प्रतिबन्ध लगा दिया। गेस्टोमेग नामक औषधि और औलिव आयल सेवन करने के लिए प्रार्थना की। साथ में प्रतिदिन एक उबला हुआ सेब खाने को कहा। इस इलाज से रोग में कुछ सुधार तो हुआ, परन्तु कुछ ही दिनों के लिए। कोई पन्द्रह दिन बाद फिर वही गुबार अन्दर से उठा। भगतजी को चाय बनाने की आज्ञा दी और कहा, "किसी से कुछ मत कहना। बार-बार खाना-पीना ठीक नहीं रहा। सेब उबालने की अब जरूरत नहीं है। पहले की तरह एक बार चाय ही लाया करो। इन डाक्टरी तरीक़ों ने चोंचलों में डाल दिया है।"

१. इस बीमारी की चेतावनी गुरुदेव ने पहले ही दे दी थी। सिद्धपुरुषों की गति वे स्वयं ही जानते हैं। चेतावनी का ढंग भी अजीब था। हुआ यों कि प्रेमी मुकुन्दलालजी एक बार ठोकर खाकर गिर पड़े। उनके हाथ में गुरुदेव का लोटा था। ठोकर लगने से लोटे का ढक्कन तो उनके हाथ में रह गया, लेकिन लोटा नीचे खड्ड में चला गया। प्रेमी लोटा तलाश करने के लिए दूर तक नीचे खड्ड में गये, लेकिन वह न मिला। इसी लोटे में भगतजी गुरुदेव को चाय पिलाया करते थे। जब लोटा न मिला तो गुरुदेव को सूचना दी। गुरुदेव क्रोध में आकर बोले, "तुम लोग बहुत लापरवाह हो ! जरा ध्यान नहीं रख सकते ! फकीरों की चीज का गुम हो जाना साधारण बात न समझो। फ़कीरों के शरीर पर कष्ट आने की निशानी है।" प्रेमी मुकुन्दलालजी को और भी तीखी डाँट पड़ी। कहने लगे, "बड़ी सेवा करने आया है ! अगर तुमने कोई सेवा की भी है तो इन पर कोई एहसान नहीं किया। इसमें तुम्हारा अपना कल्याण है। कृपा कराते-कराते कुछ और न ले जाना।" भगतजी को भी ऐसी ही डांट पड़ी। भगतजी इस क्रोध का अर्थ न समझ सके। यही सोचते रहे कि कैसा कष्ट आने वाला है ?

इसी तरह मटन में (सन् १९४७) एकान्तवास के दौरान रसोई को आग लग गई थी तब भी आप ने इसे देश पर आने वाले संकट का पूर्वसंकेत बताया था। उन्होंने कहा था, "फकीरों की कुटिया को आग लग जाना कुछ अर्थ रखता है। शान्ति होना मुश्किल है। पता नहीं कहाँ-कहाँ की आग यहाँ लगी है।"
इस रहस्य को वे ही जानते थे। जल्दी ही देश साम्प्रदायिकता की आग में जलने लगा।

चायपान किये अभी दो घण्टे ही हुये होंगे कि आपको फिर वमन हुआ। साथ के कमरे में भगतजी सोये हुये थे। आवाज सुनकर जाग गये। जाकर देखा, गुरुदेव बहुत कष्ट में हैं। चेहरे का रंग पीला पड़ गया था। सारा शरीर काँप रहा था। भगतजी गुरुदेव के पास जा बैठे और शरीर को सहलाने-दबाने लगे। फिर सहारा देकर आसन पर लाये। कोई पाँच मिनट तक गुरुदेव की स्थिति वैसी ही रही। उसके बाद कम्पन कम हुआ, परन्तु मुख वैसे ही विवर्ण रहा। कहने लगे, "इस रोग ने तुम्हें भी परेशान कर रखा है। अच्छा, अब जाकर सो जाओ।" इतना कहकर शरीर को कमली में लपेट कर लेट गये।

उस रात्रि भी शरीर को तप की यातना सहनी पड़ी। गुरुदेव मुंह-अंधेरे वृक्ष के नीचे जा बैठे और सूर्योदय होने तक वहीं समाधिस्थ रहे। उस दिन स्नान न हो सका। रात की ठण्ड का असर शरीर पर साफ़ दिखाई दे रहा था। कहने लगे, "रोगी शरीर को रखना फ़कीरों के लिए ठीक नहीं। क्यों न इसे सुबह-सवेरे नीचे खड्ड में धकेल दिया जाये ? अब इसे रखने का कोई लाभ नहीं।"

यह सुनकर भगतजी बहुत दुःखी हुए। कहने लगे, "महाराजजी, आप सारे विश्व के मालिक हैं, और इस शरीर के भी। अपनी इच्छानुसार इसे उत्पन्न भी कर सकते हैं, लय भी। लेकिन ऐसा करने से क्या लाभ होगा ? हम अनजान हैं; हमारी परीक्षा इस तरह न लीजिये। यह शारीरिक कष्ट क्यों आया है ?"

उत्तर दिया, "प्रेमी, फ़कीरों को भी प्रारब्धकर्म भोगना पड़ता है। घबराते तो नहीं है, केवल किसी समय देखते हैं कि तुम्हारे अन्दर आत्म-रूप क्या बोलता है ? देखो, अब किस-किस को परीक्षा से गुजरना पड़ता है? जिन-जिन का इनके साथ सम्बन्ध है, उन सबको कष्ट उठाना पड़ेगा। समय-समय पर रंग बदलता ही है।"

एक दिन जब सुबह वापस आये तो कहने लगे, "दूसरा लोटा भी जाने कहाँ जा गिरा ! लगता है, यह कष्ट जल्दी पीछा नहीं छोड़ेगा। फ़कीरों की चीज़ का गुम होना कोई साधारण बात नहीं होती।"

सितम्बर का मास समाप्त होने को आया, लेकिन तबीयत में कोई सुधार न हुआ। डाक्टर भगतरामजी ने गुरुदेव को दिल्ली लाने की सलाह दी। वे अपनी देखरेख में उनका उपचार करना चाहते थे। अतः २७ सितम्बर को आपने दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। दिल्ली में आप एक बारा में बनी एक कुटिया में ठहरे।[१]

गुरुदेव का अस्वस्थ शरीर देखकर प्रेमी उदास हो गये। शरीर क्या था- हड्डियों का पंजर था। मुख निस्तेज हो चुका था। गुरुदेव कहने लगे, "संगत की सेवा के लिए इनका आना हुआ था, लेकिन इस समय शरीर की अजीब स्थिति हो गई है। बैठे-बैठे ही दर्द शुरू हो जाता है। कल सुबह आराम था, लेकिन अब भारीपन महसूस हो रहा है। उलटी आ जाये तो अच्छा हो। शायद फ़कीर पहले की तरह समय न दे पायें। ज्यादा इन्हें एकान्त में ही रहने दें तो ठीक रहेगा। आगे जो ईश्वराज्ञा ! दुखियों के साथ दुःख उठाना ही पड़ता है।"

कष्ट के बावजूद सत्संग का कार्यक्रम बनाया गया। परन्तु प्रेमी निरुत्साहित ही रहे। कारण, गुरुदेव के स्वास्थ्य में निरन्तर गिरावट आती जा रही थी। डाक्टर भगतरामजी पूरी लगन से सेवा कर रहे थे परन्तु उनका उपचार बेकार सिद्ध हो रहा था। उन दिनों की स्थिति के सम्बन्ध में भगतजी कहते हैं, "डाक्टर भगतरामजी दिन में दो बार आते थे। जो दवा निर्धारित करते वह दो-चार

---

१. यह बाग़ सराय रोहीला और शक्तिनगर को मिलाने वाली सड़क के किनारे स्थिति था। इसे ठाकुर मुक्तराम का बाग़ कहते थे। अब यह बाग लगभग काट दिया गया है।

दिन तो अनुकूल रहती, फिर कष्ट का कारण बन जाती। कोई तदबीर काम न आ रही थी। कभी महाराज अति मोहवादी जीवों की तरह तक़लीफ़ का विचार करने लगते। तब मन बहुत उदास हो जाता था। लेकिन कभी वे माया का पर्दा हटाकर ज्ञान की गंगा बहाने लगते। उस समय लगता कि यह सब लीला हम लोगों की परीक्षा लेने के लिए हो रही है।"

डाक्टर भगतरामजी भी गुरुदेव के शिष्य थे और उन पर अपार श्रद्धा रखते थे। डाक्टरी शिक्षा इंग्लैण्ड में पाई थी। फ्रन्टियर से दिल्ली तक उनकी योग्यता की धाक जमी हुई थी। परन्तु आज उनकी ख्याति जैसे लज्जित हो रही थी आज तक किसी रोगी की उन्होंने इतनी सेवा न की थी लेकिन फिर भी उनकी पेश न जा रही थी। उनकी भावना दुःखी थी, उनकी प्रवीणता कुण्ठित थी। डाक्टरी दृष्टि से यह रोग असाध्य न होना चाहिए था लेकिन न जाने क्यों गुरुदेव के शरीर पर किसी भी उपचार का प्रभाव न पड़ रहा था ! शरीर दिन-प्रतिदिन दुर्बल होता जा रहा था। सर्दी के कारण रात ठण्डी होती जा रहा था। शरीर आसमान के नीचे रात काटने में असमर्थ था, लेकिन उस पर न तो कभी पहले ही दया हुई थी और न ही अब हुई। आखिर सर्दी का असर होना जरूरी था। एक दिन नेमोनियाँ ने हमला कर दिया। इलाज का सुचारु प्रबन्ध किया गया परन्तु, इस हालत में भी रात बाहर की कटती रहीं । जोर देकर कोई रोक भी न सकता था- इतना साहस किसके पास था ? जब किसी ने दबी जबान में कुछ कहना भी चाहा तो एक ही उत्तर मिलता, "तुम से ये अधिक समझते हैं। इनके काम में दखल न दिया करो।"

नेमोनियाँ ने शरीर की रही-सही शक्ति को भी खत्म कर दिया। लेकिन इस लम्बी बीमारी में किसी ने भी गुरुदेव के मुख से 'उफ' नहीं सुना । नेमोनियाँ के उपचार के बाद आपने केवल इतना ही कहा, "यह झटका भी रहता था। अच्छा रंग दिखाया इसने !" तबीयत आहिस्ता-आहिस्ता सुधरने लगी। प्रेमी

आशावान होने लगे। सत्संग फिर से चालू हो गया। लगा, अब शायद महाराज स्वस्थ हो जायेंगे। दो सप्ताह तक कष्ट का कोई चिह्न शरीर पर प्रकट न हुआ। परन्तु एक दिन फिर पुराने दौरे ने आक्रमण किया और वह भी आगे से अधिक सख्ती से। एक दिन शाम को सत्संग हो रहा था। समाप्ति में अभी कुछ देर थी कि आपने सहसा आरती करने का आदेश दिया। आरती सम्पन्न होते ही आप उठे और कुटिया से बाहर चले गये। भगतजी प्रसाद वितरण का कार्य छोड़कर पीछे दौड़े। दूर से ही देखा कि गुरुदेव वमन कर रहे हैं। दौड़कर पीठ पर हाथ रखकर बैठ गये। देखा, मुख एकदम विवर्ण और निस्तेज हो गया था। मस्तक पर पसीने की बूंदे उभर आई थीं। चेहरे का रंग देखकर भगतजी घबरा गये। मस्तक का पसीना पोंछने लगे। गुरुदेव ने अत्यन्त धीमी आवाज में कहा, "ऐसा क्यों हो रहा है? तीसरी बार यह दौरा पड़ा है। चाय के अलावा कुछ लेते भी नहीं। अच्छा, थोड़ा कहवा तैयार करो।"

भगतजी जब कहवा बनाकर लाए तो गुरुदेव तब आसन पर लौट आये थे । भगतजी गुरुदेव के कष्ट की स्थिति देखकर चिन्तित हो उठे, परन्तु उन्हें प्रकृतिस्थ देखकर आश्वस्त हुए। उस समय डा० भगतरामजी भी वहीं थे। उनकी समझ में यह बीमारी न आ रही थी। यही निर्णय हुआ कि किसी अन्य डाक्टर की भी सलाह ली जाये। उस दिन देर रात तक प्रेमीजन वहीं बैठे रहे सिवाय गुरुदेव के बाक़ी सब उदास और चिन्तित थे। गुरुदेव समाधि में थे और प्रेमी उस चमत्कार को देख रहे थे-मौत की छाया भी उनके चेहरे की ज्योति को बुझा न पाई थी। रात के ग्यारह बजे तक गुरुदेव योगनिद्रा में मखमूर रहे। उनके समाधि से जागने तक प्रेमी भी वहीं बैठे रहे। फिर रात्रि के अन्तिम पहर में यह योगनिद्रा खुले आकाश के नीचे होने लगी

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बन्धुनं मित्रं गुरुनैव शिष्यश्चिदानन्द रूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ।।

अहं निर्विकल्पो निराकाररूपो विभुत्वाच्च सर्वत्र सर्वे निद्रयाणाम् ।
न वासङ्गतं नव मुक्तिनं मेयश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं ॥[१]

उस दिन ग्यारह बजे प्रेमी भवानीदासजी एक डाक्टर को साथ लाये । यह भी एक नामी डाक्टर थे। भारी फ़ीस लेकर आने को राजी हुए थे । उन्होंने गुरुदेव का बड़े ध्यान से परीक्षण किया। सब परिस्थिति देख-सुनकर कहने लगे, "अन्न खाने वालों का इलाज तो हम करते आये हैं, अकेली चाय पीने वालों का इलाज कभी नहीं किया। इनके लिये कोई दवा निर्धारित करना भी समस्या है। यह स्थिति आहार की कमी से पैदा हुई है। नर्वस सिस्टम बहुत कमजोर हो चुका है। दूध की मात्रा बढ़ाना अनिवार्य है। फल और तरकारी भी देना आवश्यक है।"

डाक्टर साहब के चले जाने पर आप कहने लगे, "तक़लीफ कहीं है और टूटियां कहीं और लगाते हैं। बीमारी क्या है, इनके दिमाग में बैठती ही नहीं। आहार पर जोर देने के अलावा इन्हें और कुछ नहीं सूझता । अच्छा दो-चार दिन इसका इलाज भी देख लो।"

---

१. मौत मेरे लिये मर चुकी है,
भय या शङ्का ख़त्म हो चुके हैं,
न मेरा कोई पिता है और न ही माता ।
न कोई मेरा बन्धु है, न मित्र है और न ही कोई शत्रु । न कोई मेरा गुरु है और न ही कोई शिष्य ।
न मेरा कोई जन्म है,
मैं चिदानन्दरूप हूँ ।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ।
मैं निर्विकल्प और निराकार हूँ
मैं विभु हूँ और सर्वत्र व्याप्त हूँ,
तो भी मैं इन्द्रियों से परे हूँ ।
न मैं मुक्ति हूँ,
और न ही ज्ञान का विषय हूँ । मैं चिदानन्दरूप हूँ ।
मैं शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

निर्धारित दवा दी गई। पहले ही दिन तकलीफ और बढ़ गई। गुरुदेव ने दूसरी मात्रा लेने से इन्कार कर दिया। कहने लगे, "किसी की समझ काम नहीं कर रही। व्यर्थ पैसा नष्ट करने से क्या लाभ? सब ईश्वराज्ञा पर छोड़ दो। जो आता है अपनी नयी हिकमत दिखाकर चला जाता है।"

गुरुदेव ने समस्त उपचार बन्द कर दिए। आहार में भी कोई परिवर्तन न किया- वही एक जून चाय ही चलती रही। वे अधिकतर द्वार बन्द करके कमरे में समाधिस्थ रहने लगे। प्रेमी लोग आते थे और बाहर से ही प्रणाम करके चले जाते थे। परन्तु रात के सन्नाटे में अचर संसार गुरुदेव का आह्वान करने लगता। मौन आकाश और धरती की पुकार सुनकर गुरुदेव कमरे से निकल जाते थे और सर्दी, आंधी और तूफ़ान का आलिंगन करके समाधिस्थ हो जाते थे। उनके लिये शरीर का रहना न रहना एक था। परन्तु उनके चाहने वालों की चिन्ता का कोई अन्त न था। अक्सर यह चिन्ता निराशा में बदलती जाती थी। यह स्पष्ट ही हो चुका था कि गुरुदेव का सिस्टम इतना कमजोर है कि वह न तो कोई शक्तिवर्धक खाद्य सहन कर सकता है और न ही कोई दवा। उधर गुरुदेव के कठिन नियम शरीर पर अधिक जुल्म ढा रहे थे। लगता था कि शायद अब वियोग की घड़ी आ पहुँची है। गुरुदेव तो नित्य समाधि में रहकर शरीर से उदासीन हो सकते थे-ज्ञानाग्नि ने उसे पहले ही दग्ध कर दिया था; परन्तु प्रेमियों के लिये तो गुरुदेव का शरीर ही सब कुछ था। गुरुदेव तो नित्य निष्क्रिय आत्मा में लीन रहकर शरीर के अवसान से अचिन्त हो सकते थे, लेकिन प्रेमी तो उसे बनाए रखने में ही अपना सर्वस्व देखते थे। वे कुछ करने के लिये छटपटा रहे थे, परन्तु कर वे कुछ पा नहीं रहे थे। डाक्टरों से एक प्रकार से जवाब मिल चुका था। सिवाय विवशता के और कुछ प्राप्त न हो रहा था।

डाक्टरों से निराश होकर हकीमों और वैद्यों की शरण ली गई। एक योगी वैद्य को भी बुलाया गया। उन्होंने अन्न खाने का आग्रह किया। साथ में दूध, घी

और बादाम रोगन का भी प्रयोग करने की सलाह दी। उनका मत था कि आंतों में खुश्की आ गई है। अतः चिकनी वस्तुओं का सेवन आवश्यक है। चायपान की उन्होंने भी मनाही की। उनकी बात सुनकर गुरुदेव ने कहा, "प्रेमी, हठ के लिये इन्होंने अन्न का त्याग नहीं किया था। कुछ रुचि ही हट गई थी। जनता के कष्ट को देखकर भी ऐसा करना पड़ा। यह चाहते हैं कि यह सिलसिला ठीक हो जाय। इस चाय ने ही सब मुसीबत खड़ी की है। नस-नस में प्रवेश कर गई है। कोशिश यही है इसे कम किया जाय। लेकिन ऐसी कोई वस्तु दिखाई नहीं देती जो इसकी जगह ग्रहण की जा सके। देखें, शायद कोई रास्ता निकल आये ।"

इधर योगी चिकनी वस्तुयें ग्रहण करने को कह रहे थे, उधर डाक्टर साहब ने उनके सेवन का पूर्णतया निषेध किया हुआ था। प्रेमी निर्णय न कर पा रहे थे कि क्या करें। डाक्टर साहब को जब फिर पूछा गया तो उन्होंने अपना पहला निर्णय नहीं बदला। उनका निश्चित मत था कि चिकनी वस्तुयें उस अवस्था में हानिकारक हैं। इस स्थिति में प्रेमी लोग योगीजी का इलाज शुरू न कर सके । स्वयं गुरुदेव इस झमेले से तटस्थ रहे। उन्होंने केवल इतना ही कहा, "शरीर संगत का है। जैसे चाहो करो। यत्न करने से शायद तुम्हारा कुछ बन जाये। सुबह ही यहां से चल देते हैं। चलते-चलते जहाँ खत्म हो गया, वहीं इसे छोड़ देंगे ।"

डाक्टर - वैद्यों से प्रेमी लोग आगे ही निराश हो चुके थे। गुरुदेव के इन वचनों को सुनकर तो उनकी सारी हिम्मत ही टूट गई। सब की आंखों से आंसू बहने लगे । केवल इतना ही कह सके, “डाक्टर लोग हार चुके हैं। अब आप ही दासों पर कृपा करें। सिवाय आप की कृपा के और कोई कुछ नहीं कर सकता।"

डाक्टर भगतरामजी ने एक बार फिर कोशिश की, मगर फिर असफल रहे।

जनवरी सन् (१९५०) का मास समाप्त होने को था। सख्त सर्दी पड़ रही थी। और चारा न देख डाक्टर साहब ने जलवायु परिवर्तन की सलाह दी। गुरुदेव ने कहा, "कोशिश करके देख लो। शायद दो चार वर्ष और संगत की सेवा हो जाये। इनको तो अब जरूरत नहीं रही। शरीर जवाब दे रहा है, प्रेमी भी थक गये हैं अन्दर उदासी बढ़ती जा रही है। डाक्टरों की डाक्टरी, हकीमों की हिकमत कोई काम नहीं आ रही।"

दिल्ली के आसपास महरोली, ओखला आदि स्थानों में जगह की तलाश हुई लेकिन कोई अनुकूल ठिकाना न मिल सका। दो तीन दिन गुजरने पर गुरुदेव के स्वास्थ्य में कुछ आंशिक सुधार दिखाई देने लगा। रविवार का दिन था। दोपहर बाद दो बजे गुरुदेव कुटिया के बाहर चहल कदमी कर रहे थे। सहज ही आपके मुख से ये वचन निकल पड़े :

उड़ चलिया हंस अनजाने दा
उड़ चलिया हंस अनजाने दा।[१]

पास खड़े एक प्रेमी ने ये वचन सुन लिये। कहने लगे, "महाराजजी, क्या सत्पुरुषों को ऐसे उदासी के वचन कहने चाहियें ?"

उत्तर दिया, "यह चोला अब पुराना हो चुका है।"

प्रेमी कहने लगे, "यह आपकी इच्छा की बात है-चाहे इसे चार साल रखें, चाहे चार सौ साल तक। अभी तो यह बगिया[२] लगी ही है, इसकी बालावस्था तो आने दीजिए।"

---

१. उड़ चला हँस अनजाने का
उड़ चला हँस बनजाने का
२. बगिया से प्रेमी का अभिप्राय 'संगत' से था।

बोले, "प्रेमी, फ़कीर भी किसी की आज्ञा बजाने आते हैं। जब काम हो जाता है, चल देते हैं। और चार वर्ष तक शरीर रह भी जाये तो क्या होगा ? फकीरों के वचन उनके जीते जी कोई नहीं सुनता। बाद में लोग काग़ज़ उलटते फिरते हैं। यह संसार की नीति है। बाक़ी, आना क्या और जाना क्या ? सदा किसी की बनी नहीं रही। अफ़सोस इन्हें किसी बात का नहीं सहज ही वचन निकलते रहते हैं। ज्यादा दलीलों में न जाया करो।"

भगतजी ने भी यह वार्तालाप सुना। बहुत दुःखी हुये। वर्षों से श्री चरणों में निवास कर रहे थे। पिता से भी अधिक प्रेम किया था गुरुदेव ने उनसे। आज वह सम्बन्ध टूटता दिखाई दे रहा था। प्रेमी लोग भी निराशा की ही बातें करते रहते थे। आज उन्होंने गुरुदेव से सत्संग करने की प्रार्थना की ताकि वह कुछ देर के लिए तो इस खिन्नता से छुटकारा पा सकें। किसी प्रकार वे अपनी उदासी के बोझ को उतार फेंकना चाहते थे।

उस दिन सत्संग में आपने लम्बा प्रवचन दिया। जीव की वासना का विस्तृत विश्लेषण किया और उसके गन्तव्यस्थान की भी चर्चा की। ज्ञान का प्रवाह बहने लगा। श्रोता उसमें स्नान करने लगे। किसी को याद ही न रहा कि गुरुदेव बीमार हैं। आप कह रहे थे :

"इस कठिन संसार में जिन जीवों का सत्पुरुषों के वचनों पर विश्वास होता है वे तो शान्ति प्राप्त कर जाते हैं। इसके उलट संसारी जीव की हालत उस गधे समान होती है जो दिन भर भट्ठे से ईंटें लाता है और ले जाता है:

आवे देया खोतया, पकियां ले आवना कचियाँ ले जावना ।
इटाँ नहियों मुकना, ते तू नहियों छुटना ॥[२]

---

१. ईटों के भट्ठे के गधे । तू पक्की ईंट लाता है और कच्ची ईंट ले जाता है। न कभी ये ईंटे ख़त्म होंगी और न कभी तू छूट सकेगा।

मायाधारी जीव फ़कीरों के वचनों की ओर ध्यान ही नहीं देते। जब फ़कीर संसार से चले जाते हैं तो उनकी समाधियां बनाकर पूजा करते हैं।

इकनाँ नू मत रब दो, इकनाँ मंग लई ।
इक दिव्याँ मोल न लेवंदे, एह अचरज रचना भई ।।[१]

प्रवचन में वैराग्य और आत्मानुराग, साधना और सत्कर्म सम्बन्धी उपदेश भी दिया। सत्संग में आपने देखा कि भगतजी सिर पर पगड़ी रखने की बजाये एक कपड़ा रख कर बेठे हैं। (भगतजी जल्दी में पगड़ी न बांध पाये थे)। सत्संग की समाप्ति पर आपने उन्हें खूब डांट पिलाई। कहने लगे, " तूने यह क्या स्वांग बनाया है? सिर पर टाकी बांध आया है ! खबरदार कोई नमूना बनने की कोशिश की तो पगड़ी किसको दे दी है ? फ़क़ीर जिस बात को अच्छा नहीं समझते, वह ही शुरू कर देता है।"

भगतजी ने मुस्कराकर कहा, "आगे से यह गलती नहीं होगी ।"

"शैतान, हँसता है? जिस पाखण्ड का खण्डन करते हैं, उसी को तुम धारण करो! जिस तरह साधारण ढंग से चल रहे हो वैसे ही चलते रहो।"

घटना मामूली है। परन्तु भगतजी के मन पर वह अमिट छाप छोड़ गई। वर्षों बाद उन्हें यह साधारण घटना सजीव रूप में याद है। कारण, भगतजी की उन दिनों की मानसिक स्थिति है। भगतजी के निराश हृदय में से इस डाँट ने थोड़ी देर के लिये सारी निराशा निकाल दी। गुरुदेव की इस डाँट में अपनत्व का भाव स्पष्ट था। जीवन के अन्त में भी भगतजी के कल्याण के प्रति उनका

---

१. किन्हीं को तो गति ईश्वर की देन के रूप में मिलती है; कुछ इसे माँग लेते हैं। कई ऐसे भी हैं जो देने पर भी इसे नहीं लेते यह अजीब रचना बनी है।

लगाव भगतजी को प्रभावित किये बिना न रह सकता था।

गुरुदेव का यह प्रेम भगतजी तक ही सीमित न था। इधर गुरुदेव इतने अस्वस्थ थे उधर कुछ मनमुख शिष्य मांस, शराब और सिगरेट खाने-पीने लग गये थे। गुरुदेव का कष्ट भी उनके मन द्रवित न कर सका। आपने अत्यन्त खेदमयी वाणी में उनसे कहा, "सन्तान का पाप माता पिता के लिये दुःख का कारण बनता है, शिष्यों के पाप की सजा गुरु को मिलती है। फकीरों का शारीरिक स्वास्थ्य पहले ही खराब चल रहा है। तुमसे कोई सेवा नहीं चाहते यही चाहतें हैं कि तुम अपना सुधार कर जाओ यही इनकी सेवा होगी।"

प्रेमियों ने क्षमा मांगी लिखकर प्रण किया कि वे फिर ऐसा न करेंगे। आशीर्वाद पाकर चले गये। उनके जाते ही आपको फिर उस दौरे ने आ दबाया। कुटिया के बाहर जाकर वमन करने लगे। वह वमन भी अजीब था- शरीर की सारी शक्ति को निचोड़ कर बाहर फ़ेंक देता था। भगतजी आवाज सुनकर दौड़े आये जाकर सहारा दिया। कहने लगे, "सब उपचार बन्द कर दो। दवा एक दिन थोड़ा फायदा करती है, दूसरे दिन तकलीफ़ का कारण बन जाती है।" इन दिनों आपका होमियोपैथिक उपचार चल रहा था। छोटे बच्चों के लिये दवा की निर्धारित मात्रा प्रतिदिन छः गोलियां थीं। गुरुदेव केवल दो गोलियां ले रहे थे। इस नाममात्र दवा को भी उनका सिस्टम दो दिन से अधिक सहन न कर सका। दिल की धड़कन बहुत तेज हो गई और शरीर में अत्यधिक बेचैनी महसूस होने लगी।

इस स्थिति को देखकर सबका धीरज टूट गया। सभी के मनमें एक भय प्रवेश कर रहा था जिसके सम्बन्ध में वे सोचना भी न चाहते थे। लगता था कि अब अन्तिम विछोह टल न पायेगा। मौत की काली छाया ने सबके हृदय से अन्धकार पैदा कर दिया था। मन पर एक बोझ पड़ा रहता था। बीच-बीच में गुरुदेव ज्ञानचर्चा आरम्भ कर देते थे। कभी-कभी पुरातन सत्पुरुषों के

जीवन-चरित सुनाने लग जाते थे। ऐसे समय उनके शिष्यों के भग्नहृदय में फिर से आशा झांकने लगती थी। इस तरह आशा-निराशा में तैरते-डूबते प्रेमी गुरुदेव को निहारते रहते थे वहाँ से ही कोई प्रकाश की किरण फूट सकती थी। सुबह-सवेरे कुछ प्रेमी गुरुदेव के चरण दबाते मालिश करते और शरीर को सहलाते । शरीर क्या था हड्डियों की ठठरी मात्र था। उसे साँस लेता देख-कर प्रेमी डर जाते थे। रात को जब वे घरों को लोटते तो अनेक शंकाओं से दबे होते थे। कल का कोई ठिकाना न था । जब दूसरे दिन प्रातः फिर कुटिया में पहुँचते तो देखते कि आसन खाली पड़ा है और गुरुदेव बाहर तप के लिये गये हैं। अजीब दिन थे वे भी सबसे खिलवाड़ करने वाली मृत्यु आज स्वयं खिलवाड़ का शिकार बन गई थी। यमराज का ऐसा मजाक कब किसी ने किया होगा वह भी इतनी विनम्रता से, इतनी आज़जी से, इतनी दीनता से !

सब डाक्टर हकीम जब कुछ न कर सके तो डाक्टर भगतरामजी ने फिर सोच-समझ कर इलाज शुरू किया। आज तक उन्होंने कभी ऐसी मात न खाई थी। उनका विचार था कि गुरुदेव की इस हालत का कारण विटामिन बी कॉम्प्लेक्स (Vitamin B Complex) की कमी था। उन्हें अपने नये उपचार पर पूरा विश्वास भी था, लेकिन उनका उत्साह निर्मूल सिद्ध हुआ। आखिर जब कोई चारा न रहा तो गुरुदेव ने भगतजी से कहा, "अब इधर से डेरा कूच करने वाली बात करो। सब ने अपनी हिकमत कर ली है। अब मालिक के परायण हो जाओ। सुबह जिधर की प्रेरणा हो उधर चल पड़ो।"

दूसरे दिन सुबह स्नान के बाद भगतजी को एक ओर ले जाकर कहने लगे, "प्रेमी, बहुत देर हुई तुम्हें साथ विचरते हुए। साथ रहकर तुमने अनेक दुःख उठाये। अब शरीर की जुदाई सामने खड़ी है। सदा कोई किसी के साथ न रहा। ईश्वराज्ञा से संयोग भी हुआ, अब वियोग की घड़ी आ रही है। कोई विचार करना हो तो कर लो।"

ये वचन सुनकर भगतजी रो पड़े। मुंह से कोई शब्द न निकला। लगातार आंसू बहाते रहे। उन्हें इस प्रकार मौन देखकर गुरुदेव बोले, "प्रेमी, क्या सोच रहे हो ? न कोई किसी के साथ आया है, न जायेगा। पीछे आने वाले कभी पहले चल देते हैं, पहले आने वाले पीछे। तुम्हारा इनके साथ बस इतना ही सम्बन्ध था। "

भगतजी ने कहा, "दास की इतनी बुद्धि नहीं कि सत्पुरुषों की सेवा कर सके अनगिनत गलतियाँ की हैं लेकिन किसके हवाले करके जा रहे है ?"

उत्तर दिया, "ईश्वर आदि-अन्त में सहायक और रक्षक है। तीन काल उसकी दयालुता बनी रहती है। जो समझाना था, समझा चुके। इनका कर्तव्य पूरा हो गया है। प्रयत्न करके अपने अन्दर रोशनी पैदा करो। फकीरों की सेवा खाली नहीं जायेगी। आशीर्वाद नित्य अंग-संग जानना। जो वाक्य इधर से निकले हैं, ईश्वराज्ञा समझना । प्रेमी आश्रम बनाने का विचार कर रहे हैं। वहीं ठहर कर समय काटना। वे हर प्रकार से सेवा करने वाले हैं। फ़कीरों के पास कोई धन पदार्थ नहीं है जो तुम्हें दे दें । परम पदार्थ गुरु-उपदेश ही है जो लोक और परलोक दोनों में रक्षा करता है। जितनी कमाई करोगे उतना ही लाभ होगा। पुरातन शुभ संस्कारों ने मेल करा दिया था। अब प्रेरक शक्ति बुला रही है। संसार की अचरज रचना रची हुई है। जो पैदा हुआ है उसने गिरना भी जरूर है। इस दुःख भरे संसार से उदास ही रहना चाहिए।"

उसी दिन (२७ फरवरी १९५०) ताजेवाला जाने का निश्चय हुआ । ताजेवाला में यमुना के तट पर आप पहले (१९४८ में) तप कर चुके थे। आदेश दिया, "ईश्वराज्ञा पर सब कुछ छोड़ दो। प्रेमी भी सेवा करते-करते परेशान हो रहे हैं। यदि मालिक ने सेवा करवानी हुई तो आप ही कोई सम्बन्ध बनायेगा । वरना इस बेकार शरीर को यमुना माई के हवाले कर दिया जायेगा ।"

जाने से पूर्व सर्व प्रेमियों को सत्संग में वचनामृत का पान कराया। अचानक जाने की बात सुनकर दिल्ली के सब प्रेमी बाग़ में जा पहुंचे। काफ़ी संख्या थी उनकी, फिर भी सन्नाटा छाया हुआ था। केवल सामान बँधने की आवाज आ रही थी । हर कोई अपने आंसू रोकने की कोशिश में था। धीरे-धीरे संध्या हो रही थी। सूरज डूबने को था। गुरुदेव ने कहा, "गाड़ी का समय पता करने की कोई जरूरत नहीं। कोई न कोई गाड़ी मिल ही जायेगी।"

कुछ प्रेमी साथ चलने की तैयारी कर रहे थे। बाक़ी सब चुपचाप बैठे थे। ताँगा लाने की आज्ञा हुई। तांगा आ जाने पर आप एकदम उठ पड़े और चल दिये । कोई पांच मास तक उस बाग में रहे थे, लेकिन एक बार भी कुटिया को ओर देखा तक नहीं। न ही किसी अन्य चीज को निहारा। अपनी स्वाभाविक तेज गति से बाग की सीमा के बाहर चले आये। वहां तांगा पड़ा था। उसके पास जाकर खड़े हो गये। सब संगत ने बारी-बारी से प्रणाम किया। धीरज का बाँध टूट गया और सब की आंखों से लगातार आंसू बहने लगे। लेकिन बोल कोई फिर भी न सका। बियाबान की सी शून्यता छा रही थी। सबके प्रणाम कर लेने पर गुरुदेव तांगा पर जा बैठे। तांगा चल पड़ा। पीछे-पीछे प्रेमी साइकिलों पर, तांगों पर अथवा पैदल ही आ रहे थे। तांगा आगे निकलता जा रहा था और बहुत से प्रेमी पीछे रह गये थे। सड़क के दोनों तरफ़ बाग थे। घोड़े के टापों की "ठप ठप" की आवाज आ रही थी, पहियों के घूमने की आवाज आ रही थी, लेकिन लोग सब चुप थे।

स्टेशन पर पहुंचे तो पता चला कि गाड़ी चलने में डेढ़ घण्टे की देर है । गाड़ी पर सामान रख दिया गया लेकिन आसन प्लेटफ़ार्म पर ही बिछा दिया गया। प्रेमी आते और प्रणाम करके बैठते जाते अँधेरा हो चुका था। एक घण्टे से भी ज्यादा समय गुजर गया, परन्तु न तो गुरुदेव ही बोले और न ही प्रेमी। प्रेमियों के आँसू अब बन्द हो चुके थे। सारा समय वे गुरुदेव को ही निहारते रहे। गुरुदेव शांत मुद्रा में बैठे थे। आँखें खुली थीं लेकिन देख कुछ न रही

थीं। सारे ही समय मौन छाया रहा। आवश्यक बात भी दबी आवाज में हो रही थी। गाड़ी के छूटने के पांच मिनट पहले गुरुदेव उठे और गाड़ी में जा बैठे। प्रेमियों ने प्रणाम किया और कम्पार्टमेण्ट से बाहर निकल आये। अचानक प्रेमी अमोलकरामजी ने "ओ३म् ब्रह्म सत्यम्" का नारा लगाया। प्रेमियों ने प्रतिध्वनि की तीसरी प्रतिध्वनि के साथ ही सिसकियों का ताँता लग गया। गाड़ी चल पड़ी। इंजन आसमान में धुआं उगलता हुआ आगे निकल गया। दूर तक गाड़ी की बतियाँ दिखाई देती रहीं; आखिर अन्धकार में खो गई। प्लेटफार्म खाली हो रहा था। आँसू पोंछते हुए प्रेमी बाहर जाने के लिए मुड़ पड़े।

अध्याय- १६

तप (ख)

जब गाड़ी सहारनपुर पहुँची तो रात के तीन बज चुके थे। पौ फटने में अभी देर थी, लेकिन चकरौता जाने वाली बस स्टेशन के बाहर खड़ी थी। बस में गुरुदेव और प्रेमी जा बैठे। कुल चार-पांच प्रेमियों को ही साथ जाने की आज्ञा मिल पाई थी। बाकी सब को मना कर दिया गया था। वैसे जगाधरी के रास्ते जाने में अधिक सुविधा थी, परन्तु जगाधरी में कुछ शिष्यगण बटवारे के बाद आकर बस गये थे और गुरुदेव अधिक झमेला खड़ा न करना चाहते थे। उनका ठिकाना अब यम की बहन नीलवासना यमुना का तीर था, या थीं उसकी लहरें। मनुष्य के सब उपचारों से मुंह मोड़कर वे उत्तरदिशा की ओर गमन कर रहे थे।

जब बस चली तो सुबह होने को थी। शहर के बाहर जाते ही सूरज निकल सुबह की हल्की ठण्ड में सूरज का वह रूप अत्यन्त सुखद् लगता था । खेत-खलिहानों पर उसकी किरणें भली लग रही थीं, लेकिन प्रेमियों के मन बुझे हुये थे। यह सुबह उनके लिए अन्धकारमयी थी। बार-बार उनकी दृष्टि गुरुदेव के मुखमण्डल पर जा टिकती थी। गुरुदेव अधिकतर मौन ही बैठे रहे। वे योगतन्द्रा में ही लीन रहे। देहात की बस थी- जगह-जगह रुक जाती थी। यात्रियों के चढ़ने उतरने का सिलसिला निरन्तर चल रहा था। बहस-मुबहस और चीख-चिल्लाहट भी हो रही थी, लेकिन इस चहल-पहल में प्रेमियों के मुंह

बन्द रहे और गुरुदेव की आँखे बन्द रहीं। प्रेमी उदास थे और गुरुदेव उदासीन थे।

मिर्जापुर गाँव के बाहर ही बस वाले ने उतरने को कहा। ताजेवाला वहाँ से पाँच मील दूर था। सवारी की कोई सुविधा न थी सारा रास्ता पैदल ही तय करना था । गुरुदेव के शरीर की हालत देखते हुए यह असम्भव था। लेकिन गुरुदेव ने इसी मार्ग से जाने का निश्चय किया था, इसलिए और कोई चारा न था। चाय-नाशता के बाद यात्रा आरम्भ हुई। गुरुदेव आगे-आगे चलने लगे । उनकी स्वाभाविक तेज गति ज्यों की त्यों बनी हुई थी। कोई आठ महीने से शरीर प्रायः हवा पर ही जी रहा था। पता नहीं वह टिका किस बलबूते पर था पर आज वह भूखा-प्यासा, कंकाल- प्राय शरीर खाये-पीये स्वस्थ लोगों से कहीं आगे चल रहा था। अधिकतर प्रेमी पीछे रह गये थे। केवल एक ही के साथ प्रेमी- अमोलकरामजी- गुरुदेव का साथ दे पाये थे। ताजेवाला पहुँचकर यमुना के तट पर ही टेण्ट लगाकर रात काटी गई । यमुनातीर कवियों के लिए स्वप्न लोक के समान रहा है। वे इसे कोमल मलयसमीर और कोयल की कूक के साथ जोड़ते आये हैं। आज भी यमुना का वही तट था, लेकिन आज उसका पूजन उसके सही रूप में होने जा रहा था। यमुना यम की बहन है और उसकी धारा दृश्यप्रपंच को लीन करने वाली है। जीते जी गुरुदेव यमुना माई से मौत का वरदान मांगने आये थे। यमुना के तीर पर सत्पुरुष ऐसी ही लीला रचने जा रहे थे।

दूसरे दिन हथिनीकुण्ड बंगले में रहने का प्रबन्ध किया गया। हथिनीकुण्ड में यमुना मैदानी इलाके में प्रवेश करती है। यमुना की नीली धारा यहाँ मैदानों से कहीं अधिक निखार लिये रहती है । बंगला यमुना की धारा से कोई पचास-साठ फीट ऊँचाई पर है। इस ओर हरियाणा के राज्य की पहाड़ियां हैं, दूसरी ओर उत्तर- प्रदेश के मैदानों का फैलाव है। उसी किनारे, बाँई ओर एक मुगलकालीन किला है। थोड़ी ही दूर बरफानी पहाड़ों की श्रृंखलाओं का विस्तृत फैलाव है ।

विभिन्न दिशाओं में फैली अनेक श्रृंखलाओं का मिलाप होता है यहाँ। लगता है कि हिमालय की उदात्त ऊँचाइयां मैदानों में आ बैठी हों। ताजेवाला से कुछ ही दूर है हथिनीकुण्ड, चार-पांच मोड़ ही काटने पड़ते हैं; लेकिन लगता है कि आप हिमालय के अन्तस्थ में चले आये हैं, हालांकि शहर के ट्रांजिस्टर एक ही मील नीचे बज रहे होते हैं। इस घाटी में पहुँचना सदियों पुराने युग में पहुंचना है। "दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः"[१] - ये शब्द स्वतः ही कानों में गूंजने लगते हैं। इस घाटी में पहुँचकर धरती और स्वर्ग के सामीप्य की कल्पना मनुष्य की मजबूरी है। दोनों की दूरी का विचार अयथार्थ ही नहीं बल्कि विकृत लगता है।

पहली मार्च सन् १९५० को आपने बंगले के क्वार्टरों में प्रवेश किया। बंगला भी खाली था, लेकिन गुरुदेव ने वहाँ रहना पसन्द न किया। नौकरों के लिये बने क्वार्टरों में ही रहने की आज्ञा दी। उन दिनों यह इलाका निर्जन- प्राय था, और हिंसक पशुओं से भरा था। कभी अंग्रेज लोग शिकार के लिये बंगले में ठहरा करते थे। अक्सर रेत पर शेर और सुअरों के पदचिह्न देखने को मिलते थे। ऐसे स्थान पर बीमार शरीर लेकर गुरुदेव आ बसे। पत्र- व्यवहार बन्द कर दिया; प्रेमियों को आने से मना कर दिया। उनके साथ चार प्रेमी थे और थी यमुना, हिमालय की चोटियां और उन पर झांकता नीला आसमान कहने लगे, "ईश्वर ने इस शरीर की जरूरत समझी तो आप ही कोई साधन जुटा देगा।"

मार्च ४ को 'सारनिर्णय जीवन' प्रकट हुआ। उसमें आपने आदेश दिया संसार और शरीर की तब्दीली निश्चय करके जाननी चाहिये।

अपना जीवन निर्मल कर्म में व्यतीत करना ही मानुष जन्म का परम

---

१. यदि तुम्हें स्वर्गलोक की इच्छा है तो तुम्हारा तप व्यर्थ है। तुम्हारे पिता का यह हिमालय प्रदेश ही देवभूमि है।

कर्त्तव्य है। तमाम मनुष्यों के साथ निर्वैर भाव से बर्ताव करना चाहिये । क्योंकि समय पर सब ही तब्दीली को प्राप्त हो जायेंगे। इस वास्ते प्रेम- संयुक्त जीवन ही परम शिरोमणि है।

इस संसार का दृश्य एक गहरी आंधी के समान जानना चाहिये- यानी सिवाय गर्दोगुबार और बेचैनी के और कुछ हासिल नहीं हो सकता है। यह निश्चय तमाम गुणी पुरुषों ने हासिल करके अपनी कल्याण की है।

मानुषजन्म की उत्तम कीर्ति यह ही है कि अपने यथार्थ बल अनुकूल दूसरों के वास्ते कल्याणकारी बने। यह ही निर्मल कर्त्तव्य इस नाशवान् संसार में सत्शान्ति के देने वाला है।

ऐसा निर्मल पुरुषार्थ धारण करना चाहिये जिससे मन और इन्द्रियों को शान्ति यानी निर्वास आनन्द प्राप्त हो सके। यह ही खोज परम गुणकारी है।

संसार की विनाश व निर्मल कर्त्तव्य का पालन व चित्तवृत्ति का निष्काम भाव में दृढ़ करना - यानी परम तत्त में निःचल करने की धारणा जो धारण करता है वह ही अपनी सही उन्नति को प्राप्त हो सकता है। यह सारनिर्णय-जीवन में अपनी धारणा को दृढ़ करके गुणी पुरुषों को अपना कल्याण करना चाहिये ।

उसी दिन आपने अपने अनुयायियों को एक विशेष आदेश भी दिया :

तमाम समता अनुयायी सज्जन इस नाशवान संसार में सत् आधार के परायण होकर गुरु सिखया (गुरु-शिक्षा) अनुसार अपना जीवन स्वरूप निष्काम सेवा में व्यतीत करना अपना कर्त्तव्य जानें। इस संसार में मानुष-

जीवन का यह ही परम लाभ है।

उस दिन जगाधरी से एक सज्जन आ पहुंचे। अच्छा डील-डौल था उनका। गुरुदेव की बीमारी के बारे में सुन चुके थे। बातों ही बातों में लगे योगासनों की तारीफ़ के पुल बांधने । तब तक दम न लिया जब तक कि गुरुदेव को आसन करने के लिये राजी न कर लिया। कमजोर शरीर भला आसनों की टान कहां सहन कर सकता था ! गुरुदेव को कष्ट हुआ; साथ में रीड़ की हड्डी पर एक घाव भी खा गये। कहने लगे, "यह इलाज खाने-पीने वालों के लिये है। यह गैरकुदरती (अप्राकृतिक) इलाज है और उन लोगों के लिये है जो शरीर को बढ़ाना अच्छा समझते हैं।"

नये जलवायु का कोई अनुकूल प्रभाव न पड़ रहा था। दिन में चार मील की सैर भी हो रही थी, लेकिन तकलीफ़ ज्यों की त्यों बनी हुई थी। किसी तरह दिन कट रहे थे। शरीर में जीने का बोझ ढोने की अब शक्ति न थी, लेकिन उसे तो हर रात तप की सख्ती भी बर्दाश्त करनी पड़ती थी। रात में छत तले विश्राम अब भी उसकी किस्मत में न था। गुरुदेव कालिन्दी के तौर पर मौत से रास रचा रहे थे, लेकिन वह जैसे आ-आकर लौट जाती थी। एक दिन आपने प्रेमियों से कह ही तो दिया, "देखो, पानी किधर गहरा है, ताकि वहीं शरीर को जल के हवाले कर दिया जाय।"

इस आज्ञा का पालन करने के लिये पत्थर का कलेजा चाहिये था और वह किसी के पास था नहीं। प्रेमी केवल गुरुदेव का मुंह देखने लगे। क्या देख रहे थे वे वहाँ ? किसी प्रेमी ने उस मुखाकृति का वर्णन नहीं किया है। आज उनसे पूछना भी बेकार होगा। हां, एक बार मौत के सम्बन्ध में जो उन्होंने कहा था वह सुनकर कुछ अन्दाजा लगाया जा सकता है कि उनकी मुखाकृति तब कैसी रही होगी। उन्होंने कहा था, "प्रेमी, कितना भय है आपको मौत का? और इधर दिन-रात इसी इन्तजार में रहते हैं कि वह कब आएगी-

जिस मरने से जग डरे मेरे मन आनन्द।
कब मरिये तब पाइये पूरण परमानन्द॥[१]

एक दिन दोपहर बाद प्रेमी लोग कुटिया के सामने आम के पेड़ तले विश्राम कर रहे थे। धूप में कुछ तेजी आ चुकी थी। सभी को झपकी आ रही थी। केवल गुरुदेव ही पूरी तरह जाग रहे थे। तभी सहसा आपने भगतजी से कहा, "ईश्वर तुम पर प्रसन्न है, जाओ तुम्हारा भण्डार सदा भरपूर रहेगा।" साथ ही पूछा, "यह तो बताओ तुमने फ़कीरों के पास आकर क्या देखा है ?"

भगतजी ने उत्तर दिया, "जिस तरह नदी के पास आने से ठण्डक मिलती है, उसी तरह आपके समीप आने पर शान्ति मिलती है। चित्त में कोई संसारी विकार और स्वार्थी भाव प्रकट नहीं होता।"

फिर अन्य प्रेमियों से पूछने लगे, "आज यह पाँच तत्त का शरीर लोप हो जाय तो लोग तुम से पूछेंगे कि गुरु का क्या स्वरूप था ? कौन सी चीज तुम्हें खींच कर ले जाती थी ? तो क्या बताओगे ?"

सभी प्रेमी सोच में पड़ गये-इशारा साफ़ था। सबने गुरुदेव के तप और त्याग की ही बात कही। आप बोले, "कई गुरु तो बड़े मठधारी हैं, हाथियों की सवारी करते हैं, पालकियों में बैठकर उपदेश देते हैं और तरह-तरह के रंग-रूप बनाते हैं। इनके पास तो कोई सांगोपांग है नहीं। तुम सिफ़्त करोगे तो किस बात की ? दुनिया वाले बड़े गुरु होते हैं; तुम्हें छोड़ेंगे नहीं।"

एक प्रेमी कहने लगे, "हम तो अपनी सोच-समझ के अनुसार ही कह सकते हैं। आत्मलीन सत्पुरुष की स्थिति क्या होती है हम क्या जाने ? आप ही कृपा

---

१. प्रेमी देवराज गुप्तजी से यह वार्तालाप हुआ था।

कीजिये।"

उत्तर दिया, "प्रेमियों, फकीर तो तुम लोगों से कभी कुछ पूछते ही नहीं। कुछ अपनी बुद्धि से भी काम लिया करो। ईश्वर का सरूप यदि कोई पूछे तो महामन्त्र पढ़कर सुना दिया करो। गुरु का स्वरूप अगर कोई पूछे तो गुरुपद सिद्धान्त पढ़कर सुना दिया करो।[१] गुरु, पीर, अवतारों के शरीर तो अलग-अलग होते हैं, लेकिन आन्तरिक गुण और स्थिति एक-सी होती है । निष्कामता, निर्मानता, उदासीनता, निश्चलता और परोपकार आदि महागुणों का प्रकाश सब में पाया जाता है। वैसे प्रारब्ध अनुसार कोई योगी राजा के घर जन्म लेते हैं और राजसी प्रकृति लेकर संसार में विचरते हैं, कोई दरिद्र के घर पैदा होकर समय व्यतीत करते हैं। राम का त्याग और उदासीनता उस समय प्रकट हुये जब लंका को तो आप जीता और राजतिलक किया विभीषण का। खुद फूलों की माला ही ग्रहण की। इसी तरह कृष्ण भी राजगद्दी पर नहीं बैठे। कई राजाओं को ऊपर नीचे किया लेकिन सिंहासन किसी का न संभाला। गुरु दुर्वासा के रथ को रुक्मिणी के साथ खींचा, द्वारका की सड़कों पर चाबुक की मार खाई। फिर भी अन्त में हाथ जोड़कर इतना ही कहा, "महाराज, और सेवा की कृपा करें।" दिन भर संसारियों की सेवा करते थे और रात जंगलों में काटते थे। अन्तर से किसी चीज से प्रीत न थी। मूर्ख लोग ही उस योगी को भोगी रूप में दिखाते हैं। वे एक ओर तो राज करते थे और दूसरी तरफ़ कालिया नाग पर खड़े वंशी बजाते थे। हर हालत में अपने स्वरूप में स्थित रहते थे। सब कुछ था, तो भी मान न था - सुदामा जैसे निर्धन के चरण धोकर पी गये थे। पाण्डवों को सब कुछ दिलवाया पर अपनी कोई गर्ज पूरी न की पहले प्यार से समझाया, फिर विचार से, फिर भी अगर कोई न समझा तो उसे तलवार से समझाया। यह सब करके भी आप अलग के अलग ही रहे। प्रेमियों, जिस-जिस के अन्दर भी ऐसे गुण प्रकाशित हुये वही गुरु, पीर, अवतार कहलाया। ऐसी शुभ धारणा

---

१. गुरुपदसिद्धान्त समताविलास में छप चुका है।

वाले ही संसार का अन्धकार दूर करते आये हैं। जब-जब धर्म की हानि होने लगती है, तब प्रभु आज्ञा से कोई न कोई हस्ती भी प्रकट हो जाया करती है। उसका जीवन देखकर सब जीव सत् धर्म को प्राप्त करने की इच्छा करने लग जाते हैं। और प्रेम स्वरूप में मिल-जुलकर समय व्यतीत करना अपना कर्तव्य जानने लगते हैं । ईश्वराज्ञा में दृढ़ होना और शुभ विचारों को धारण करना निष्काम भाव को प्रकट करता है। केवल एक प्रभु स्वरूप को नित प्रकाश जानना और हर समय शरीर को नाशवान देखना निर्मानता का स्वरूप है। आत्म-अभ्यास, आत्मविश्वास से उदासीनता का भाव उदय होता है और उदासीनता से निःचलता प्राप्त होती है। संसार और शरीर को मिथ्या जानना और ईश्वर के प्रति अनुराग और प्रेम ही सही उदासीनता है। सब कुछ करते हुए कर्मों के फल को ईश्वराज्ञा में समर्पित करने में ही परोपकारी भावना पैदा होती है।

"ज्यों-ज्यों बुद्धि इन महागुणों में प्रवेश करती है त्यों-त्यों ही दुर्मत अन्धकार से छुटकारा पाती जाती है और नित-आनन्द समताभाव को प्राप्त होती है। सत्संग, अभ्यास और सेवा के मार्ग पर चलते रहने से पापों से मुब्लिसी मिलती है और सर्वविजय प्राप्त होती है। ख़ाली बातों से अविश्वास पैदा होता है। आलिम जब बाअमल होगा तब ही अपना सुधार कर सकेगा। आलिम जब बेअमल हो जाते हैं तब ही उपद्रव फैलता है। फ़क़ीरों ने सब कुछ खोलकर रख दिया है-अपना खून काढ़कर कीमती समय तुम लोगों के सुधार के लिये दिया है। अब आखिरी पल आ पहुंचा है। इस समय संसार में भयानक मायावाद की बढ़ती हुई अग्नि जीवों को भयभीत कर रही है। ऐसा समय जब आता है। तब फ़क़ीरों पर भी कष्ट आता है। ऐसा होना सब जीवों के वास्ते और खासकर नजदीक आने वालों के वास्ते भले का कारण होता है । जो भी वचन फ़क़ीरों के अन्दर से निकलते हैं कुर्राहवाई (वायुमण्डल) में फैलकर असर दिखाते हैं और पवित्र बुद्धि वाले इस प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

---

१. तुलनीयः यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गीता ४-७

"इस समय समता का उच्च अक्षर विशेष कारण से फिर से प्रकट हुआ है। वैसे शास्त्रों में आया हुआ है लेकिन गुप्त रूप में। अब विस्तारपूर्वक पूरी महिमा लेकर प्रभु आज्ञा से प्रकाशित हुआ है। जब इसका आधार लेकर पूरी कोशिश से चला जाएगा तब ही शांति का दौर शुरू होगा। अभी तो इनका साया तुम सब पर है। इनके अलग होने पर मान-मद और माया के लपेट में आ गये तो तबाही का कारण बनेगा। इस समय फ़कीरों के समीप रहने से कई प्रकार की मजबूरियों से बचे हुए हो। इनकी गैरमोजूदगी (अनुपस्थिति) में कनक-कामिनी के चक्र में जीवननाशक न बनना। जीव इन भोगों को भोगकर भटकने लग जाता है। प्रभुकृपा से यह मानुष शरीर मिला हैं। इसको अन्धमति द्वारा भोगों में नाश न कर देना बल्कि योग-युक्ति द्वारा आत्मशांति को प्राप्त करना।"

बातों-बातों में समय गुजर गया। पेड़ों की छाया लम्बी होने लगी थी। सूरज डूबने में अब थोड़ी ही देर थी। गुरुदेव ने यमुना की धारा की ओर प्रस्थान किया। उठते समय सहज ही आपके मुख से ये वचन निकले।

नारी पुरुष की स्त्री और पुरुष नारी का पूत।
यह ही ज्ञान विचार के छाड़ चला अवधूत॥

नीचे यमुना दो धाराओं में बह रही थी। इधर की धारा कम गहरी थी। उसके पार बालू बिखरी पड़ी थी। आगे मुख्य धारा का बहाव था। उथली धारा के इस पार शहतीर के ठेले पर गुरुदेव और प्रेमी जा बैठे। कहने लगे, आज सुबह से फिर उसी तरह डकारें आ रही हैं, कब्ज़ भी है। पूरा इलाज तो जमना ही करेगी। देखो तो भला इस जगह जल कितना गहरा है ?"

एक बुजुर्ग प्रेमी[१] उन दिनों पठानकोट से आये हुये थे। बात का रुख

---

१. प्रेमी बिहारीलाल ऋषि।

दुःखमयी दिशा की ओर जाता देखकर कहने लगे महाराज आप सप्ताह भर बादाम रोगन लेकर देखिये शायद फ़ायदा हो जाय।"

उत्तर दिया, "यह क्या कह सकते हैं? चिकनी वस्तुओं के पास तक जाने की मनाही है। किसकी सुनी जाय ?"

पण्डितजी बादामरोगन की तारीफ़ करने लगे। उधर बाबू अमोलकरामजी डाक्टर साहब की बात दोहराने लगे। इस पर पण्डितजी चिढ़ उठे। डाक्टर साहब के प्रति यह श्रद्धा उन्हें अच्छी न लगी कहने लगे, "इधर हेडवक्र्स में भी तो एक डाक्टर है ! उससे सलाह लेते हैं।"

गुरुदेव ने कहा, "जो सोचना है, सोच लो शरीर संगत का है। उन सब- को पता तो है किस हालत में दिल्ली से चले थे ! यह जगह कोई दूर नहीं है। किसी को क्या कहा जाय ? कहते हैं महाराजजी अपनी हिक़मत कर जाते हैं ! इन्हें शरीर को कष्ट देने का कोई शौक नहीं है। जितनी शरीर की रक्षा करनी होती है, कर रहे हैं।"

इतना कहकर आप उठ खड़े हुए। आदेश दिया, "चलो, नदी की धारा पार करके गहरे पानी की तरफ़ चलें।"

प्रेमी उठ बैठे और नदी पार करने लगे। यमुना की श्यामलता इस समय और भी गहरी हो उठी थी। धूप मैदानों और पहाड़ियों को छोड़कर सामने बर्फानी चोटियों पर जा ठहरी थी। धारा को पार करके सब लोग पत्थरों पर जा बैठे। आगे गहरे पानी का तेज बहाव था। उसे देखकर गुरुदेव कहने लगे, "कल अमावस का शुभ दिन है। सुबह-सवेरे अँधेरे में ही पत्थर बांधकर इसे यहाँ (एक स्थान की ओर इशारा करके) बहा दो। जमना माई इस शरीर को स्वीकार करले तो खुशकिस्मती की बात होगी।"

फिर आस-पास दृष्टि दौड़ाई। एक हल्की मुस्कान चेहरे पर उभर आई । कहने लगे, "इस जमना के किनारे कृष्ण का काफी समय गुजरा था। हवा पानी पवित्र है, वातावरण शुद्ध है। इस जगह को यह बहुत पसन्द करते हैं। इससे अच्छा समय और स्थान कहाँ मिलेंगे ? यह स्थान सबके लिये तीर्थ रूप बन जायेगा।"

प्रेमीजन गुरुदेव का मुंह ताकने लगे। लम्बी बीमारी ने चूस डाला था सब शरीर का चेहरा पीला पड़ गया था, झुर्रीयां उभर आई थीं, आंख अन्दर को धंस गई थीं। हड्डी- हड्डी गिनी जा सकती थी तो भी एक कोमल भाव की झलक थी उसमें जो बीमारी की विकृतियों को ढँक रही थी। आँखें असाधारण रूप में साफ़ थीं, उनमें प्रेम का रस छलक उठा था। लेकिन उनके शब्द बहुत कठोर थे। प्रेमियों की तो जैसे घिग्घी बंध गई थी। किसी के मुख से कोई बात न निकल रही थी। सिर झुककर सब बैठे रहे। अंधेरा हो रहा था। यमुना का पानी काला होता जा रहा था। आसमान में कहीं-कहीं तारे उभर आये। लेकिन प्रेमी यों के त्यों बैठे रहे। आंसुओं को रोकने को जी तोड़ कोशिश कर रहे थे। आखिर प्रेमी बिहारीलालजी ने उस मायूसी के मौन को तोड़ा। कहने लगे, "महाराजजी आज रात विचार करने की आज्ञा दी जाय। जब शरीर संगत का है तो संगत को विचार करने का भी अधिकार है। हम आपसे जुदा होना नहीं चाहते।"

कहते-कहते उनका भी गला भर आया। गुरुदेव कुछ मुस्कराये। कुछ देर उन्हें निहारते रहे। फिर कहा, प्रेमियों, आज रात अच्छी तरह सोच लो ।"

इतना कहकर उठ खड़े हुए। सन्ध्या का झुटपुटा भी उनकी आंखों में छलकते प्रेम को न छिपा सका। उस फैलते अन्धकार में जैसे एक किरण उमर आई थी-धुन्धली और क्षणिक ! आगे-आगे गुरुदेव चलने लगे और पीछे-पीछे प्रेमी कुटिया तक पहुंचते-पहुंचते रात हो गई। गुरुदेव ने आसन ग्रहण किया।

भगतजी भी चरणों में जा बैठे। अन्य प्रेमीजन दूसरे कमरे में बैठकर आत्म-चिन्तन करने लगे। गुरुदेव ने भगतजी से कहा, "प्रेमी लोग बादामरोगन के लिए कह रहे हैं। तेरा क्या विचार है ?"

अन्धे को जैसे आँखें मिल गई। भगतजी ने चट से कहा, "आज्ञा हो तो लाऊं !"

गुरुदेव हंस दिये। बोले, "यह भी सब जानते हैं। प्रेमियों के मुंह की तरफ़ देख रहे हैं कि करते क्या है !"

सुनकर भगतजी को निश्चिय-सा हो गया कि गुरुदेव अपने चाहने वालों की परीक्षा भर ले रहे हैं। उन्हीं के लिये यह लीला रची गई है।

बाहर अंधेरा गहरा हो चुका था; वातावरण चुप था। पक्षियों की आवाज भी बन्द हो चुकी थी। केवल यमुना के बहाव का हल्का नाद गूंज रहा था। कुटिया में लालटेन के मन्द प्रकाश में सत्संग आरम्भ हुआ। भगतजी अपनी सुरीली आवाज़ में देववाणी का पाठ करने लगे। गुरुदेव योगनिद्रा में महमूर होने लगे। उनकी आँखें बन्द हो गई, कमर आगे को झुक गई। मुख से सभी भाव लीन होने लगे। चेहरे की गम्भीरता उदासीनता में बदलने लगी। आख़िर वह भी खो गई। अब किसी भी लौकिक भाव की झलक न मिल रही थी उसे देखकर डर भी लगता था और साथ में कशिश भी महसूस हो रही थी। बीमारी से निस्तेज चेहरा इतना प्रभावशाली भी हो सकता है, यह उसे बिना देखे कोई अनुमान भी नहीं लगा सकता। सभी प्रेमियों की आँखें बन्द हो गई। वाणी का पाठ चलता रहा। सांस की गति अपने आप ही स्थिर होने लगी और नाम की धारा से एक रूप होकर चलने लगी। सत्संग की समाप्ति पर सब प्रेमी शान्त हो गये। गुरुदेव ने आँखें खोलीं, परन्तु वे स्वतः ही बन्द होने लगीं। अनेक बार के प्रयत्न के बाद वे सहज अवस्था में लौट सके। तभी एक

प्रेमी की नजर एक सांप पर पड़ी जो गुरुदेव के आसन की ओर जा रहा था। सभी प्रेमी आगे पीछे होने लगे। एक प्रेमी ने उसे पकड़ा भी परन्तु हाथ काँप गया। साँप हाथ से छूटकर नीचे जा गिरा। फिर दूसरे प्रेमी ने उसे पकड़कर बाहर दूर जाकर फेंक दिया। इस सारे झमेले में प्रेमी इधर-उधर नाचते-दौड़ते रहे लेकिन गुरुदेव अपने आसन पर ज्यों के त्यों बैठे रहे उनका तटस्थ भाव ज्यों का त्यों बना था। समाधि की गम्भीरता अभी भी चेहरे पर झलक रही थी।

इस नाटक की समाप्ति पर प्रेमी लोग फिर गुरुदेव की ओर मुख करके बैठ गये। तब गुरुदेव बोले, "आज तबीयत ज्यादा बेचैन हो रही है। न हवा- पानी की तब्दीली से कोई फर्क पड़ा है और न ही विटामिन से। प्रेरक शक्ति ही किसी के अन्दर कोई प्रेरणा करे तो शायद तबीयत ठीक हो जाय।"

इतना कहकर लेट गये। मुंह-सिर कमली से ढँक लिया। प्रेमी लोग प्रणाम करके दूसरे कमरे में चले गये। उनकी चिन्ता फिर लौट आई थी। भगतजी चरण दबाने लगे। दूसरे कमरे में प्रेमी यह सोच रहे थे कि महाराजजी के निर्णय को कैसे बदलें। जिन चरणों में इतनी शांति थी उनसे विछोह की बात उनके लिए असह्य थी। कोई आध घण्टे बाद गुरुदेव उठ बैठे और कमरे के बाहर चले गये। कै की आवाज सुनकर भगतजी भी बाहर गये। गुरुदेव को फिर पुराने दौरे ने आ दबाया था। तारों की रोशनी में ही भगतजी ने गुरुदेव के हाथ मुंह धुलाये। और आसन पर ले आये। बाहर ठण्डी हवा चल रह थी, फिर भी शरीर पसीने से तर हो रहा था। चेहरे का भी रंग बदला हुआ था। उसे देखकर भगतजी घबरा उठे, लेकिन प्रेमियों को न बुलाया। गुरुदेव ने इतना ही कहा, "आज दोपहर से ही दिल मचल रहा था। अब क्या सोचना है ? प्रभु आज्ञा ही जब नहीं तो दलील देना भी ठीक नहीं। अच्छा, तुम जाकर सो जाओ।"

भगतजी एक कोने में जा लेटे। अनेक शंकाओं-आशंकाओं में गोते खाते

रहे। फिर अनजाने ही सो गये। आज भी गुरुदेव सुबह चार बजे बाहर चले गये। जब लौटे तो सूरज काफ़ी ऊपर चढ़ आया था। कैसी सुहावनी सुबह ! हिमालय की हिमाच्छादित चोटियों के पीछे से उठते हुए भगवान् भास्कर वन पर्वत पर अमृत बरसा रहे थे। लेकिन प्रेमियों के लिए वह सुबह सूनी थी। गुरुदेव के चेहरे को देखकर चिंतित हो उठे थे प्रेमियों को चाय-नाश्ता करने की आज्ञा हुई। उससे छुट्टी पाकर जब प्रेमी चरणों में बैठे तो वही प्रश्न उनसे पूछा गया, जिसने रात भर उन्हें परेशान कर रखा था।

"क्या तय किया है आप लोगों ने?" गुरुदेव ने पूछा।

"महाराजजी," एक प्रेमी ने उत्तर दिया, "सभी की एक ही राय है कि हेडवर्क्स के डाक्टर की सलाह ली जाय।"

"जब बड़े-बड़े डाक्टर हकीम कुछ न कर सके तो यह बेचारा डिस्पेन्सरी का डाक्टर क्या करेगा?"

प्रेमियों ने अपना निर्णय न बदला और दोपहर बाद दो प्रेमियों को डाक्टर बुलाने के लिए भेजने का फैसला किया।

उसी दोपहर गुरुदासपुर से प्रेमी बाबूराम आ पहुँचे प्रेमी रामजीदास और खिदमतरायजी का पत्र पाकर दौड़े आये थे। जगाधरी पहुंचे तो पता चला कि गुरुदेव ने हथिनीकुण्ड जाने की मनाही की है। कुछ ने तो यहाँ तक कह दिया कि वहाँ जाना गुरु आज्ञा का उल्लंघन होगा।

प्रेमी कुछ दुविधा में पड़ गये। बेचारे सीधे-साधे आदमी थे। दलीलबाजी से घबराते थे । वे कहते हैं, "मैंने यही सोचा कि हमारे गुरु महाराज को कोई तक़लीफ़ हो जाये तो हम कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं? हमने अपना सब कुछ

उनके आगे बेच दिया है। तो फिर हमें वहां जाने में क्या हर्ज है? अगर हमारे महाराजजी हमारे सिर पर चार जूते मार देंगे तो भी कौन सी बात है ? अपने प्राण भी उन पर न्यौछावर कर देंगे। उसी वक्त मैं मोटर पर बैठकर ताजेवाला हेड पर जा पहुंचा। वहां पर विस्तर सिर पर रखा और हथिनीकुण्ड की राह ली। पूछता हुआ गुरुचरणों में हाजिर हुआ। गुरुजी महाराज आम के पेड़ के नीचे बैठे थे। मुझे दूर से ही आता देखकर उन्होंने भगत बनारसीदास जी से पूछा, "क्या तुमने इसे लिखा था ?"

भगतजी ने हैरान होकर और हाथ जोड़कर उत्तर दिया, 'नहीं महाराजजी, मैंने बिल्कुल नहीं लिखा' फिर उन्होंने प्रेमी रामजीदास और खिदमतराय से भी वही सवाल किया। दोनों ने हाथ जोड़कर कहा, 'महाराजजी भूल हो गई।' गुरुदेव बोले, 'तुम बड़े बेईमान हो, आगे ऐसा न करना।' मैं कांपता हुआ श्रीचरणों में प्रणाम करने के लिए आगे बढ़ा। अर्ज किया, "महाराजजी आप को कष्ट हो, तो हम कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं? हमसे आपका कष्ट नहीं देखा जाता ।

"दास पर मेहर हुई। रहने की आज्ञा मिल गई। पता चला कि गुरु महाराजजी अपना शरीर यमुना माई के सुपुर्द करने जा रहे हैं। उस दिन भी महाराजजी ने पूछा, 'प्रेमियों, इनके लिए आप लोगों ने क्या सोचा है? यह इस शरीर को त्यागना चाहते हैं। जैसे आपको विश्वास हो, उसी तरह इसे त्याग दिया जाय।' प्रेमी कहने लगे कि यह हमसे बर्दाश्त न होगा। तब महाराज जी ने कहा, 'एक टेण्ट लगा दो। उसी में बैठकर यह समाधि ले लेंगे। सुबह शरीर सम्भाल लेना।' मैं माथे पर हाथ रखकर यह सब सुनता रहा। बर्दाश्त न हुआ। कह बैठा, 'ऐसा नहीं करना चाहिये। पण्डित लोग कहते हैं। कि ऐसा करना पाप होता है।' गुरु महाराजजी ने एकदम मुझे डांट दिया। रोता हुआ मैं कमरे से बाहर निकल आया। शाम हो रही थी। जमुनाजी के किनारे कभी इधर कभी उधर चक्कर काटता रहा। आंसू बहाते हुए जमुनाजी के आगे

फरियाद की, 'ऐ जमुना माई, मेरे गुरु का शरीर लेने का इरादा किया है तूने ! इसे बदल दे—बदल दे! इसे नहीं तो न जाने कितने और शरीर तेरी भेंट होंगे ?"[१]

उस रात सभी के मन बुझ गये थे। न कोई सत्संग हुआ और न ही वाणी का पाठ। हेडवक्र्स के डाक्टर का इन्तजार था जिसने दो दिन बाद आने को कहा था। सारी रात बेचैनी में कटी। फिर सुबह हुई—उदास और सूनी। किसी का खाने को मन न कर रहा था लेकिन पापी पेट को आहुति देनी पड़ी। गेहूं, मक्का और जौ का आटा मिला कर मोटी-मोटी रोटियां पकाई गई। मिली जुली दाल के साथ किसी तरह अन्दर ठूसी गई। दोपहर बाद गुरुदेव कुछ प्रेमियों को बँगले के दूसरे छोर पर ले गये। वहाँ एक चबूतरा बना था ताकि लोग वहां का मनमोहक दृश्य देख सकें। गुरुदेव चबूतरे पर बैठ गये। प्रेमियों को भी बैठने को आज्ञा देकर फर्माने लगे, "इनकी बात को जरा ध्यान से सुनो! यह शरीर अब रोगी हो चुका है-जनता की सेवा नहीं कर सकता । ऐसा विचार उठ रहा है कि इस तत्वक (तात्विक) शरीर को किसी महातत्व के सुपुर्द कर दिया जाय। कल सुबह चार बजे इसे हथिनीकुण्ड के जल में... सुपुर्द किया जायगा।"

जिस स्थान पर शरीर अर्पण करने की बात हो रही थी वह नीचे बाईं ओर दिखाई दे रहा था। वहाँ पानी गहरा था। गुरुदेव के वचन सुनकर और उनके चेहरे का निश्चयात्मक रूप देखकर प्रेमियों के रोंगटे खड़े हो गये। हर कोई रोने लगा। रोते हुए कहने लगे, "महाराजजी, हमारा क्या बनेगा? किसके हवाले हमें करके जा रहे हैं ?"

उत्तर मिला, "जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग भी है। न कोई किसी के साथ

---

१. जहाँ तक सम्भव था प्रेमी की भाषा को बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। तो भी अनेक स्थलों पर परिवर्तन करने पड़े है-लेखक

आया है और न कोई सदा साथ रह सकता है। तुम सबने कोशिश करके देख ली। शरीर की स्थिति ठीक ही नहीं हो रही है। इसे अब ठिकाने लगाना ही ठोक है। कुछ ईश्वराज्ञा ही ऐसी दिखाई दे रही है।"

एक प्रेमी ने अर्ज किया, "महाराजजी दासों पर कृपादृष्टि कीजिये। प्रभु चरणों में हम सब प्रार्थना करेंगे।"

गुरुदेव बिना कुछ कहे उठ बैठे और आम के पेड़ के नीचे आ बैठे। आज प्रेमी तन-मन से टूट गये थे। चलना फिरना भी भारी लग रहा था। खिन्नता शारीरिक कष्ट में परिवर्तित हो रही थी। एक प्रेमी शेषराजजी तो फूट-फूटकर रोने लगे और यमुना में डूब मरने का इरादा कर बैठे। एक उन्माद-सा छा रहा था उन पर। बड़ी मुश्किल से उन्हें शान्त किया गया। साँझ होने पर गुरुदेव की तबीयत और भी बिगड़ गई। आज्ञानुसार सत्संग भी दूसरे कमरे में किया गया। गुरुदेव अपने कमरे में लेटे रहे। उस शाम न किसी ने कुछ खाया, न पीया। चूल्हा भी न जला। शाम सत्संग हुआ। देर तक प्रेमी ईश्वर दरबार में गुरुदेव के प्राणों की भीख मांगते रहे। हर तदबीर नाकाम हो चुकी थी । इल्तजा करने के अलावा और चारा ही न था। प्रार्थना करते-करते काफ़ी रात हो गई। गुरुदेव ने उन्हें बुलाकर फिर पूछा, "क्या विचार किया है ?"

आवाज अत्यन्त धीमी थी। मुखमण्डल अत्यन्त पीला पड़ गया था। जीवन लौ बस टिमटिमा ही रही थी। इस जर्जर शरीर में प्राणों का टिका रहना ही हैरत की बात थी। प्रेमी बेचारे चुप रहे। क्या उत्तर देते गुरुदेव के प्रश्न का? किसका कलेजा था कि अपने ही हाथों से गुरु को यमुना में धक्का दे देता ! प्रेमी बिहारीलाल ऋषि ही एक प्रेमी थे जो कुछ बोल पाये। उन्होंने उत्तर दिया, "महाराजजी, जैसा आप कह रहे हैं वैसा करना हमारे बस के बाहर की बात है। आपको जलसमाधि लेते देखना इन बूढ़ी आँखों से न हो सकेगा। और यह समय भी दूसरा है। शरीर तैर कर हेडवक्र्स पर जा लगेगा। बहुत बौड़-

धूप होगी। पुलिस और डाक्टरों का झंझट पड़ेगा।"

गुरुदेव : आप लोगों को अपना डर हो तो यह लिख कर रख जाते हैं।

ऋषिजी : महाराजजी, यह बात नहीं है। हम आपका शरीर उन लोगों के हवाले नहीं करना चाहते। आप हम पर कृपा करें। एक-दो दिन और विचार करने की आज्ञा दें।

गुरुदेव : शरीर पर भारी पत्थर बांधकर हथिनीकुण्ड में छोड़ देना। पानी की तह में बैठ जायगा। मछलियाँ इसकी गति कर देंगी। फिर कोई पुलिस डाक्टर का झमेला न पड़ेगा। इसमें तुम्हारा क्या हर्ज है ?

बात का रुख बहुत कष्टदायक होता जा रहा था। ऐसी बातें सह पाने की ताक़त किसी में न थी। ऋषिजी ने कहा, "महाराजजी पहले हमें हेडवक्र्स के डाक्टर की सलाह ले लेने दीजिए। और फिर हम अपनी बादामरोगन वाली हिकमत भी करलें। अगर फिर भी कोई लाभ न हुआ तो फिर जैसा आप फ़र्मायेंगे देखा जायेगा।"

ऋषिजी बादामरोगन की ऐसी रट लगा रहे थे जैसे कि वह आब-ए-हयात हो। हालांकि डाक्टरों ने विशेषरूप से उसके सेवन का निषेध किया था। उनका आग्रह इतना दृढ़ था कि इस विषय में बहस करने पर वे क्रोधित हो जाते थे। ख़ैर, गुरुदेव ने प्रेमियों को विश्राम करने की आज्ञा दी।

उनके चले जाने पर गुरुदेव ने भगतजी से कहा, "आप सबको तकलीफ़ हो रही है। यह झगड़ा खत्म करो और अपने ठिकाने पर जाओ।"

भगतजी मुंह लगे थे। कहने लगे, "महाराजजी, सब को ही ठिकाने लगा

दीजिये। झगड़ा एक साथ ही पूरा हो जाय।"

गुरुदेव : प्रेमी, यह अकेले जा सकते हैं। देख रहे हैं कि प्रेरकशक्ति किसी के अन्दर कोई प्रेरणा करती है कि नहीं। कहीं उसने और सेवा न करानी हो ! यह कब किसी को अपना प्रोग्राम बताने वाले है ? कुछ प्रभु- आज्ञा से अड़चन पड़ रही है। अच्छा, अब तुम सो जाओ।

जिस तन लागे सो तन जाने।
और क्या जाने पीड़ पराई ॥
दीन गंवाया दुनी संग, दुनी न चाली साथ।
पाँव कुल्हाड़ा मारिया, ग्राफिल अपने हाथ ॥

संसारियों का अन्न-पानी खाने का इवज़ाना देना पड़ता है।

भगतजी : हमारा क्या बनेगा ?

गुरुदेव : अभी तो सारा बोझ इन्हीं पर है। सेवा में लगे रहने से कोई मानसिक दुःख प्राप्त नहीं होता यह शारीरिक कष्ट भो कुछ प्रारब्ध कर्म काट रहा है, इस जगह कुछ हाल (इस जन्म) का हिसाब भी चलता ही रहा है। जब भी इस शरीर पर कष्ट आया, तूफ़ान बनकर ही आया। तुम्हारे आने से पहले भी शारीरिक अशान्ति बहुत आती रही है। इम्तिहान से कोई बच नहीं सकता। सन्त, महन्त, अवतार- सब रगड़े जाते हैं। जब भावी आती है, किसी का बस नहीं चलता। सब कुछ उसी पर छोड़ दो।

रात्रि के दो बजे थे। भगतजी चरण सहला रहे थे। फर्माने लगे, "अब इन लकड़ियों को और न दबाओ। जाकर लेट जाओ। देखो, सुबह नया सूरज कैसा

चढ़ता है ?"

सुबह का सूरज भी आ निकला। अन्धकार में से ऊषा की ज्योति का जन्म हुआ सबको मार्ग दिखाने के लिए। उस दिव्यभूमि में उगते हुये सूरज की महिमा के गायन के लिए तो ऋग्वेद के कवि की वाणी चाहिए। वामदेव ने कहीं ऐसी ही ऊषा को देखकर उससे प्रार्थना की होगी :

इदमु त्यत्पुरुतमं पुरस्ताज्
ज्योतिस्तमसो वयुनावदस्थात् ।
नूनं दिवो दुतरो विभातीर्
गातुं कृणवन्नुपसो जनाय ॥[१]

अन्धकार ही ज्योति को जन्म देता है। क्या आज भी कोई मार्ग दर्शाने वाली ज्योति का आविर्भाव होगा ? गुरुदेव तो पौ फटने से कहीं पहले एकान्त में समाधिस्थ बैठे थे। प्रकाश और अन्धकार का विरोध जहाँ शान्त हो जाता है, ऐसी अखण्ड ज्योति में वे लवलीन बैठे थे यमुना के तीर पर उनकी आत्मा 'साचे कंत' का दर्शन करके तृप्त हो रही थी।

सुनो सहेली उस देश को, जो साचा कंत समाय ।
बिन धरनी के देश है, बिना देह पुरुष दिखाय ॥

दीपक जले अगम का सम कोट भान छबि धार ।
दमके निस दिन दामिनी, बिन बादल गढ़कार ॥
उतपत परलय वहाँ नहीं, नहीं काल परवेश ।
बिरले गुरुमुख जौहरी, पाया निर्मल देश ||

---

१. यह सामने पूर्व दिशा में बार-बार प्रकट होने वाली (अथवा अत्यधिक प्रकाशमान) प्रज्ञा से युक्त ज्योति अन्धकार से उत्पन्न हुई है। यह प्रकाश करने वाली द्यूलोककी पुत्रियाँ मनुष्य का मार्ग बना दें।

अमरत भोजन खाइया, अमर पुरुष के संग।
रल मिल एको होइया, रूप रेख भयो भंग ॥
ऐसे निरमल देश की, नित ही कथा विचार।
'मंगत' जो गये धाम को, नहीं बौहड़ गवन संसार।

सूरज जब ऊपर चढ़ आया तो गुरुदेव कुटिया की ओर आते दिखाई दिये। आस-पास की वनस्थली जितनी खिल रही थी, गुरुदेव का शरीर उतना ही मुर्झा रहा था। बसन्त की निखरी हुई उस सुबह में उन्हें दूर से आता देखकर मन भर उठता था। रास्ते में धूल पड़ी थी, पत्थर-कंकड़ बिखरे थे। पाँव धूल से भरे थे। उस दिन प्रेमी बाबूरामजी ने सारा रास्ता साफ़ किया। दिन भर धूप में कंकड़-पत्थर उठाते रहे। सारे रास्ते में पानी का छिड़काव किया। जब दूसरे दिन गुरुदेव चढ़ती धूप में लौटे तो प्रेमी छिड़काव कर रहे थे। देखते ही गुरुदेव के चरणों में गिर पड़े और फूट-फूटकर रोने लगे। गुरुदेव ने पीठ पर हाथ रखकर उठने को कहा। आंखों में प्रेम छलक आया था। क्या यमुना की लहरे इस ज्योतिपुंज को अपने में समा पायेंगी ? यही प्रश्न प्रेमी पूछ रहे थे- अपनी आत्मा से, यमुना से और भगवान् से।

उस दिन प्रेमियों ने फ़ैसला किया कि गुरुदेव के पास ज्यादा न बैठा जाय। गुरुदेव नित्यप्रति जलसमाधि की बात करते थे। जो प्रेमियों के लिए असह्य हो गई थी। सिद्धपुरुष का कष्ट भी दुनियादारों को कहाँ समझ में आता है ? नहीं तो सारी संगत भला क्यों दूर रहती? कितनी आज्ञाएं थी जो कि उन्होंने आज तक मानी थीं? लेकिन वहाँ न आने की आज्ञा को सबने अक्षरशः माना था। जिनके लिए गुरुदेव तप रहे थे वही अभागे उनके पास आने से डर रहे थे। जिनको उनके साथ तपने का सौभाग्य मिला था वे भी आज डरने लग गये थे। कितने कर्महीन है हम लोग !

कर्मनिष्ठ लोग गुरु से दूर रहकर कर्म में तसल्ली पाने चले गये। कोई

जंगल से लकड़ी लाने चला गया, कोई नदी से पानी कुछ खाना पकाने में जुट गये। सब के मुंह बन्द थे। आपस में बात करने का साहस न हो रहा था। गुरुदेव चादर ओढ़े आम के पेड़ के नीचे लेटे थे। मुंह भी ढाँप रखा था। वहाँ उपस्थित प्रेमियों की दृष्टि उन्हीं पर टिकी थी, पर बात करने की हिम्मत न हो रही थी।

पास ही भगतजी जंगली फूलों की चटनी घिस रहे थे। ध्यान उनका बराबर गुरुदेव पर ही था क्या देखते हैं कि चादर हटा कर गुरुदेव एकदम उठ बैठे हैं। भगतजी को पास बुलाया और नब्ज़ देखने को कहा। वहां हकीम खिदमतराय भी थे। उन्होंने नब्ज पर हाथ रखा। घबराहट में इतना ही कह पाये, नब्ज़ तो कमजोर चल रही है आगे कुछ न कह सके । गुरुदेव उठे और कहने लगे, "जल्दी-जल्दी खा पी लो ! यह नदी की ओर जा रहे हैं।"

जाते समय उनकी दृष्टि जंगली फूलों पर पड़ी। एक फूल उठाकर पूछा, "यह क्या घिस रहे हो ?" भगतजी ने अर्ज़ किया, "इनकी चटनी बनाकर खाते है।" बिना कुछ और कहे नदी की ओर चल दिये। उपस्थित प्रेमी सब काम छोड़कर गुरुदेव को नीचे उतरते हुए देखते रह गये। न उनसे रुकते बन रहा था न जाते नदी पर क्या होगा इसे देखने का बल न था, और कमरे में पड़े रहने का धीरज न था। जिस समय गुरुदेव गये उस समय एक-दो प्रेमी खाना भी खा रहे थे। खाना गले में ही अटकने लगा था। दो प्रेमी- बाबूराम और खिदमतराय - गुरुदेव के पीछे गये। गुरुदेव की चाल तेज थी; दोनों प्रेमियों के लिए पग उठाना भारी पड़ रहा था। पाँव काँप रहे थे, शरीर पसीने से तर हो रहा था। बात करने की ताकत न थी। दोनों प्रेमी गुरुदेव के कोई बीस गज पीछे चल रहे थे। उन्होंने देखा कि गुरुदेव यमुना के तट पर पहुँच गये हैं और पानी की ओर बढ़ रहे हैं। देखते ही दोनों प्रेमियों की साँस घुटने लगी। तब वे दोनों तट की बालू से कोई ४-५ गज ऊपर एक वृक्ष के पास पहुँच चुके थे। तभी उन्होंने देखा कि गुरुदेव पानी की धारा से कोई आठ फीट के फासले

पर किनारे-किनारे चल रहे हैं। दोनों प्रेमी साँस रोके उन्हें देखते रह गये। कोई १००-१५० गज़ तक वे चल कर मुड़े और वापस आने लगे। उतना ही फ़ासला तय करके वे फिर मुड़ पड़े। वृक्ष की ओट में खड़े दोनों प्रेमी गुरुदेव को देखते जा रहे थे। दोनों के दिल की धड़कन तेज थी। कौतूहल कष्टमय होता जा रहा था। दोपहर की धूप में बालू चमक रही थी। गुरुदेव ने सफेद चादर ओढ़ रखी थी। हाथ में छड़ी थी। बीच-बीच में बादलों के टुकड़े तट पर छाया फैला देते थे। धूप-छांव का अदल-बदल हो रहा था। दोनों प्रेमियों को दृष्टि चरणों पर थी। एक-एक पग वे गिनते जा रहे थे। उनका ध्यान केवल गुरुदेव की चाल के रुख पर था। आठ फीट का अन्तर था यमुना की उथली धारा में और गुरुदेव में! कहीं यह फ़ासला कम तो नहीं हो रहा? इसी बात का जायजा लेने में लगी थीं उनकी आंखें लेकिन गुरुदेव टहलते जा रहे थे। जब वे लोटते तो प्रेमी उनके मुखमण्डल को निहारने लगते। वही अथाह उदासीनता थी उसमें! जीने के अनन्त दुःख की छाप थी वहां, लेकिन फिर भी खिन्नता का नाम नहीं। जब वे लौटते तो उनकी दृष्टि उस फटी जूती पर पड़ती जो चल चल कर घिस गई थी। कभी उन पाँवों को तन्दूर की आग ने सहलाया था, आज यह यमुना की शीतल धारा इन्हें स्वीकार कर पायेगी ? धूप-छांव की आँख-मिचौनी में यमुना की धारा अत्यन्त सुहावनी लग रही थी और उस पर हिमालय की चोटियों पर वसन्ती धूप का निखार आंखों को तृप्त कर रहा था। वह दृश्य इतनी दुःखद् घटना के उपयुक्त न था। गुरुदेव लगातार ४०-४५ मिनट तक टहलते रहे और आठ फीट का फ़ासला भी बना रहा। दोनों प्रेमी ज्यों के त्यों उस दृश्य को देखते रहे। आगे जाकर बात करने का साहस न था। हाँ, यमुना से प्रार्थना करते जा रहे थे और अपने-आपको आहुति देने का भी प्रण कर चुके थे। ऐसे समय यमुना उन्हें जीवित ही नहीं, वरन् माँ-रूप में दिखाई दे रही थी। लगता था वह अवश्य उनकी प्रार्थना स्वीकार कर लेगी। तभी ऋषिजी भी उनके साथ आ खड़े हुये और पेड़ की ओर से गुरुदेव को निहारते रहे। पांच-सात मिनट तक वे इस दृश्य को देखते रहे। तब वे आगे बढ़े और गुरुदेव के साथ हो लिये और साथ-साथ चलने लगे। बहुत देर तक उनकी कोई

बातचीत न हुई प्रेमी सिर झुकाये चलते रहे। आखिर उन्होंने बात शुरू कर दी। पेड़ की ओट में खड़े दोनों प्रेमियों की जान में जान आई। थोड़ी देर बाद हिम्मत करके दोनों प्रेमी भी गुरुदेव से जा मिले। शायद यमुना ने उनकी फ़रियाद सुन ली थी।

एक घण्टे से ऊपर हो गया था गुरुदेव को टहलते ऋषिजी ने तब डरते-डरते कुटिया वापस चलने की प्रार्थना की। गुरुदेव साथ हो लिये बालू छोड़ कर बंगले का रास्ता पकड़ा और आहिस्ता-आहिस्ता चलने लगे। जब ऊपर पहुंचे तो प्रेमी लोग प्रतीक्षा में खड़े थे। ऐसा लगता था सभी के चेहरों पर राख पोत दी गई हो। भगतजी ने दौड़कर कमरे के बाहर ही आसन बिछा दिया। बैठकर गुरुदेव ने पूछा, "अभी तक तुम्हारा डाक्टर नहीं आया ?" रामजीदास ने उत्तर दिया, "कल ग्यारह बजे आयेंगे।" कहने लगे, "तुम्हारा कल पता नहीं क्या करेगा ?"

गुरुदेव ने तब बाबूजी से कहा, "बाबू, इनकी अन्तिम बेला में एक फ़ोटो ही ले ले !"

बाबूजी रोते-रोते अन्दर गये और कैमरा ले आये। उनके हाथ कांप रहे थे। सभी प्रेमियों के आंसू लगातार बह रहे थे। गुरुदेव ने भगतजी को पास बुलाया। वे पास आकर खड़े हो गये। बोले, “शैतान खड़ा है ! चरणों में झुक ! बच्चू, इस समय को याद रखना !"

भगतजी ने प्रणाम किया और बाबूजी ने दो-चार स्नैप ले लिये। गुरुदेव ने भगतजी की पीठ पर हाथ फेरा। भगतजी ने एक बार फिर प्रणाम किया और बैठ गये। गुरुदेव बाबूजी को बुलाकर कुटिया के पीछे ले गये। आदेश दिया, "बाबू, तुमने बनारसी के साथ रहना है। यह ग़लतियां कर जाता है, फिसल जाता है। तुमने इनके पीछे इसे सम्भालना है।"

अब तक गुरुदेव भगतजी को स्वयं ही सम्भालते आये थे। अनेक बार अपने संस्कारों के वश अथवा सम्बन्धियों के कहने में आकर वे गुरुदेव से आज्ञा मांग चुके थे। एक बार तो बिना पूछे ही गुरुदेव को छोड़कर चले गये थे। जम्मू में काम-धन्धा करने की सोच रहे थे। तब भी गुरुदेव ने उन्हें अमोलकरामजी को भेजकर वापस बुलाया था। अमोलकरामजी उन्हें साथ लेकर जब काहनूवान पहुंचे तो उन्हें देखकर गुरुदेव ने इतना ही कहा था.. "बच्चू, तू नहीं जानता कि यह तेरी उन्नति के कितने चाहतक हैं ! बाद उनकी आँखों से आंसू बहने लगे थे। फिर स्वयं गुरुदेव भगतजी के चरणों में हाथ लगाकर कहने लगे, "तू गुरु और हम शिष्य ! बता क्या चाहता है ? फ़कीर तेरी खुशी के लिए सब कुछ करने को तैयार हैं। दुकान चाहता है, तो वह भी तुझे खुलवा देते हैं। कोई यह न कहे कि गुरु के साथ रहकर तेरा कुछ न बना। कोई दुनियावी चीजें चाहता है तो उनका भी तेरे लिए प्रबन्ध कर देते हैं।"

इन वचनों को सुनकर भगतजी जाग गये थे और चरणों में रहने की ही इच्छा प्रकट की थी। तब गुरुदेव ने उनसे कहा था, "प्रेमी, तू नहीं जानता कि फकीरों के साथ तेरा क्या सम्बन्ध है। फ़कीर इसे जानते हैं।"[१]

आज जीवनयात्रा के अन्तिम पल में भी गुरुदेव का वात्सल्यभाव ज्यों का त्यों बना था। बाबूजी ने प्रण किया कि वे गुरुदेव की आज्ञा का पूरी तरह पालन करेंगे। कोई बीस मिनट तक बाबूजी से वार्तालाप होता रहा। उसके बाद आप अन्य शिष्यों के बीच लौट आये। आसन ग्रहण किया और फ़र्माने लगे, "दो दिन आप लोगों को और दिये जाते हैं। कल डाक्टर के आने के बाद जैसी ईश्वराज्ञा हुई आप लोगों को सुना दी जायगी।"

---

१. गुर की महिमा अपार है, कथ कथ गये ग्रन्थ ।
गुर नीवें शिष चरण पर, धारे उलटा पंथ ॥

सुनकर प्रेमियों को कुछ राहत मिली। कौन जाने ये दो दिन कोई चमत्कार ही दिखा दें। लेकिन गुरुदेव कह रहे थे, "प्रेमियों, इस रोग का निदान तो अच्छे-अच्छे डाक्टर न कर सके। यह डाक्टर बेचारा क्या करेगा ? तुम लोग क्यों कर रहे हो यह हठ ? ईसा ने तो शिष्यों के पैर धोकर पीये थे। यह तो तुम लोगों से सिर्फ इजाजत ही मांग रहे हैं। तुम लोग 'हाँ' कर दो।"

ऋषिजी ने उत्तर दिया, "हम भी अपना फ़ैसला डाक्टर के आने पर ही बतायेंगे। मुझे विश्वास है कि उसकी सलाह जरूर हम लोगों को खुशी देगी ।"

इतना कहकर ऋषिजी गुरुदेव की ओर देखकर मुस्कराये। ऋषिजी को गुरुदेव पर पूरा विश्वास था। उनका विचार था कि वे अवश्य अपनी बीमारी को दूर कर देंगे। उनके इस विश्वास से अन्य प्रेमी भी कुछ आश्वस्त हुये। ऋषिजी आगे कहने लगे, "पांच-सात दिन इस डाक्टर का इलाज देखने दीजिये। यदि कोई अन्तर न पड़ा फिर देखा जायगा ।"

उस दिन किसी प्रेमी ने ठीक से खाया न था। शाम को गुरुदेव ने आदेश दिया, "प्रेम से लंगर तैयार करके सबको खिलाओ।"

भगतजी ने खिचड़ी तैयार की प्रेमियों ने किसी प्रकार उसे निगला खाते-खाते आठ बज गये। अंधेरा हो गया। गुरुदेव के कमरे में सन्ध्या का सत्संग हुआ। मंगलाचरण के बाद देववाणी का गायन हुआ। फिर आरती हुई। सारा का सारा समय गुरुदेव समाधिस्थ रहे। हलके प्रकाश में उनके चेहरे पर भावातीत तेज चमकता रहा। प्रेमी आँखें बन्द किये बैठे रहे और मानसिक लहरों को साक्षात शान्त होता देखने लगे। आरती की समाप्ति के बाद गुरुदेव ने आँखें खोलीं। उनकी बाह्यचेतना तो लौट आई थी परन्तु मुख-मण्डल पर अब भी वह अलोकिक तेज ठहरा हुआ था। उनकी दृष्टि

पं० बिहारीलाल ऋषिजी पर आ टिकी। बोले, "अगर इस डाक्टर ने भी बादामरोगन के लिए जोर दिया तो फिर दिल्ली से इजाजत लेकर शुरू कर देंगे।"

पण्डितजी ने कुछ उतावली से कहा, "इज़ाजत अब किसी को नहीं चाहिये। आप ही की इज़ाजत लेकर शुरू कर देंगे। केवल आप ही की आज्ञा की जरूरत है। सेवक आपको पठानकोट ले जाने के लिये आया है।"

गुरुदेव बोले, "कल नाम काल का है।" फिर साथ में यह भी कहा, "शायद तुम्हारा हठ ठीक ही बैठ जाय। यह भी प्रेमियों के चित्त को देखते रहते हैं। जोर और हठ से कोई आगे होकर कदम ही नहीं रखता। अच्छा, जाकर सब प्रार्थना करो कि ईश्वर इस डाक्टर के इलाज में बरकत डाले।"

सुबह कोई साढ़े सात बजे बाहर से लौटे। आकर आसन पर बैठ गये। प्रेमी लोग भी थोड़ी दूर आकर बैठ गये। गुरुदेव की बाह्यचेतना आ-आकर लीन हो रही थी। आंखें बन्द थीं, सिर में हल्की गति थी चेहरे पर वही भावातीत शून्यता थी जिसे देखकर भय-सा लगने लगता था। लगता था कि इस भावहीन चेहरे के पीछे समस्त भावों का सार छिपा है। विचारक इस सृष्टि को रहस्यमयी कहते हैं, लेकिन गुरुदेव के समाधिस्थ स्थिति से अधिक रहस्यमयी वस्तु आज तक देखने में नहीं मिली। उस चेहरे में से एक प्रकाश- सा निकलता था जिसकी उपमा किसी भी जाने-पहचाने प्रकाश से नहीं की जा सकती। उस मुखमण्डल की याद करके आज उपनिषद् की प्रार्थना का अर्थ समझ में आ रहा है :

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये॥[१]

---

१. सत्य का मुख ज्योतिष (स्वर्णमय) पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्- सूर्ये तू उसे मुझ सत्यधर्मा की सत् की उपलब्धि के लिये उघाड़ दे।

कोई आध-एक घंटा गुरुदेव का मुखमण्डल शीतल किरणों का दान करता रहा। इतने में भगतजी चाय का पात्र लेकर आ उपस्थित हुये प्रणाम करके चाय पिलाने लगे । चाय पीकर फ़र्माने लगे "क्या सूरज चढ़ा है आज ! रात के बाद दिन आता है, दिन के बाद रात। इस तरह सैकड़ों साल बीत जाते हैं। सूरज की रोशनी में लाभ-हानि, संयोग-वियोग- जो भी हो उसे कोई खुशी-खेद नहीं। प्रारब्ध से संजोग होते हैं, कर्म खत्म होने पर सब अलग हो जाते हैं। अगर पता भी हो कि कल क्या होने वाला है, तो भी भावो को कोई नहीं बदल सकता । इस संसार में जीव इम्तिहान के लिये आये हुए हैं :

भरिया ओन्हाँ दा जानियें,
जिन्हाँ दा तोड़ चढ़े।[१]

"अच्छा प्रेमियों, दो-चार दिन और देख लो।" अन्य प्रेमियों के लिए चाय-नाश्ता तैयार होना शुरू हो गया। आज भी वे गुरुदेव के पास न बैठे। गुरुदेव चादर ओढ़ कर लेटे रहे। कोई ग्यारह बजे डाक्टर आये। अच्छी जांच की और उन्होंने भी बादामरोगन ही प्रयोग करने को कहा। और किसी दवा की जरूरत न समझी। चाय को छोड़ने के लिये उन्होंने भी कहा। भगतजी के पास कुछ बादामरोगन पड़ा था। डाक्टर ने अपने सामने ही उसे चाय में डालकर दिलवाया। उनका विचार था कि निरन्तर चायपान से आंतों में खुशकी आ गई है; इसीलिये उनमें कष्ट रहता है। प्रार्थना करने लगे, "तीन दिन मुझे बख्शें, गुरुजी की कृपा से जरूर कामियाबी होगी।" इतना कहकर प्रणाम करके चले गये ।

गुरुदेव को थोड़ी-थोड़ी देर बाद आंतों में दौरा पड़ता रहता था। कहते वे किसी से न थे और न ही उनके हाव-भाव में इसकी कोई अभिव्यक्ति होती

---

१. भरी हुई रहट की घड़िया उसी को कहना चाहिये जो कुएँ के ऊपर तक भरी हुई आ जाये।

थी। एक प्रेमी ने लेखक को बताया था कि कभी-कभी गुरुदेव आखें बन्द कर लिया करते थे और आंखों के आस-पास की नसें कुछ सिकुड़ जाती थीं। इसके अलावा और कोई चिह्न कष्ट का प्रकट न होता था। इतनी लम्बी बीमारी में कभी उनके मुंह से 'उफ' न निकला था, हालांकि डाक्टर लोग जवाब दे चुके थे, और नब्ज़ भी अनियमित चल रही थी। इसीलिये उसके आस-पास रहने वाले प्रेमी उनके कष्ट का सही अन्दाजा न लगा पाये थे। हो सकता है कि कोई और चिह्न भी शरीर में प्रकट होते हों, लेकिन प्रेमियों ने उसका कोई वर्णन नहीं किया। उनके वर्णन का आधार अधिकतर गुरुदेव के अपने ही वचन है, जोकि बहुत ही कम और अल्प थे।

बादामरोगन का चमत्कारी प्रभाव पड़ा। आंतों की फड़कन कम होने लगी। लगभग तीन बजे आपने फ़र्माया, "प्रेमी, तेरे बादामरोगन ने तो जादू का असर किया है। आँतों में जो तड़प और बेचैनी होती भी वह इस समय तक नहीं हुई ऋषि तेरी सरस्वती से जो 'बादामरोगन', 'बादामरोगन' निकला है वह शायद कुछ कमाल ही कर दे ! आप लोगों की सेवा ईश्वर सफल करने वाले है। इस तरह दो-चार दिन और बीत गये तो शायद स्वास्थ्य ठीक हो जाय कोई बड़ी बात नहीं। किसी बात के लिये हठ नहीं पकड़ लेना चाहिये कि चिकनी चीजें आंतों को हानि ही पहुंचायेंगी।"

आहिस्ता आहिस्ता स्वास्थ्य में सुधार होने लगा। डाक्टर को आशीर्वाद मिला, प्रेमियों को प्रसन्नता हुई। सभी आगे के कार्यक्रम बनाने लगे। मार्च का अन्त निकट आ रहा था। तभी आपने एक प्रेमी से कहा, "शायद इस शरीर द्वारा संगत की सेवा कुछ समय और हो जावे।" साथ में यह भी कहा, "सच्चे शिष्य सिदक नहीं हारते। लेकिन सिदक वाले जीव विरले ही होते हैं। गुरुभक्ति बड़ी मुश्किल है-ईश्वरभक्ति से भी मुश्किल है। गुरु गोबिन्द सिंह ने जब इम्तिहान लिया तो केवल पांच प्यारे निकले थे। मुहम्मद के चार यार थे। इन्होंने तो किसी को भी इम्तिहान की भट्टी में नहीं डाला। धर्म तलवार

की धार है। ईश्वर ही सब की पत रखे। चलो, भोजन-भजन करो। यह तो बारह महीने के रोगी हैं।"

इन्हीं दिनों गुरुदेव ने पण्डित बिहारीलाल ऋषिजी को प्रातः भ्रमण के समय कुछ संगत सम्बन्धी आदेश दिये। वे आदेश इस प्रकार हैं :[१]

(१) इनके बाद किसी वस्तु पर अपनी मलकीयत न जताई जाय। संसार के सब प्रेमियों को संगत समतावाद जानें। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, दीक्षित और अदीक्षित प्रेमियों में अन्तर न समझें। लिटरेचर ग्रन्थ व वाणी सब जग के लिये प्रगट हुये जानें।

(२) जायदाद यानी जमीन के प्रबन्ध के लिये बड़ी-बड़ी स्कीमें बनाना रुहानियत के अनुकूल नहीं। आश्रम इसलिए स्थापित हुये हैं या होंगे कि संगत इनमें एकत्र होकर विचारों की एकता, यत्न की एकता और आपसी मेल-मिलाप रखे और अपनी बेहतरी व कल्याण के बारे में सोचे और रिटायर्ड प्रेमी सज्जन दुनियावी कामों से फ़राग़त पाकर तप के लिये रह सकें। सत्पुरुषों के बाद चालाक शिष्य बदनामी का कारण बन जाते हैं। कई तरह के स्वार्थ खड़े कर लेते हैं।

(३) आज के समय में ब्रह्मविद्या की विशेष माँग नहीं है। समता का विचार पूर्णरूप में लिखा जा चुका है और कुछ लिखने लिखाने की जरूरत नहीं रही—जैसा कि ईश्वराज्ञा हुई है।[२] अब केवल सेवादार

---

१. ये वचन ३० मार्च को कहे गये थे।

२. श्रीसमताप्रकाश और श्री समताविलास को १९४८ में पूर्ण किया गया था। यह कार्य सिद्ध खड्ड मसूरी में सम्पन्न हुआ था। यह खड्ड मसूरी से कुछ नीचे देहरादून की सड़क से नीचे है। इसका नाम चमर खड्ड था। गुरुदेव ने ही इसका नाम सिद्ध खड्ड रखा था और कहा था, "समय बीतने पर ऐसी जगहें तीर्थस्थान बन जाया करती है। फकीरों की जगह उजाड़ हुआ करती है। मगर समय आने पर राजाओं के महल उजड़ जाया करते हैं और फ़क़ीरों बोर शहीदों की जगहों को चार चाँद लग जाया करते हैं।"

भिक्षुओं की जरूरत है जो सदाचारी पर उपकारी, पूर्ण त्यागी और समय का बलिदान करने वाले हों। ऐसे भिक्षु जगह-जगह जाकर समता के नियमों का प्रचार करें। अपने उच्च आदर्श जीवन यानी अमली जिन्दगी से और जीवों का सुधार करें: पाँच मुख्य नियमों का खुद पालन करें और अपना आदर्श पेश करके दूसरों से पालन करायें।

(४) प्रधानता और बड़ाई उसी को नसीब होगी जो कि तन, मन, धन पब्लिक सेवा में अर्पण करेगा, निष्काम भाव से मन में सोते-जागते उठते-बैठते दूसरों का दर्द समझने वाला होगा और हर छोटे-बड़े के लिये मन में प्रेम रखने वाला होगा, और अपने-पराये के भाव को खत्म करने वाला होगा।

(५) दूसरों की नुक्ताचीनी या ऐबजोई करने का किसी को कोई हक नहीं। क्या तू कोई दुनिया का ठेकेदार है? अपनी ऐबजोई कर ! दूसरों को उनकी ग़लती का एहसास अपने त्यागभाव और अमली जीवन से कराओ !

(६) समता की स्टेज से किसी के खिलाफ कुछ कहना बिल्कुल अच्छा न जानें, और प्रेमी भी खास ख्याल रखें कि खुद ऐसा कोई काम न करें जिससे तालीम पर धब्बा आये।

(७) भिक्षु संसारी लोगों से बुराईयां छुड़ायें। उलटे तरीके के रायज रिवाजों पर न जायें, और गलत कथाओं की जगह समता लिटरेचर पहुँचायें फैशन, सिनेमा, सिगरेट, तम्बाकू और मांस-मदिरा छुड़ाने लायक चीजें हैं। इन चीजों को छुड़वाकर सादा खावन, लावन, पावन (आहार और पहनावा) इख्तियार करायें। इस तरह जो धन बचे

वह पब्लिक सेवा में खर्च होना चाहिये।

(८) पब्लिक सेवा का प्रोग्राम संगत सोचे अधिकारी की सेवा, विद्या पर खर्च, बेकारी हटाने में सहूलियत - ऐसे-ऐसे शुभ कर्म ही ईश्वरभक्ति और गुरुभक्ति समझें।[१]

एक दिन आपने कहा- "यमुना माई ने शरीर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। आप लोग कुछ प्रसाद बनवाकर यमुना माई को अर्पित कर दो।" यमुना मैया धन्य हो गई।

सूर्यपुत्री को आज अखण्डज्योति का आशीर्वाद मिला था। पहले भी कह आये हैं कि सत्पुरुष का प्रेम अचर जीवों के प्रति भी उतना ही था जितना कि चर-जीवों के प्रति हमारी जड़ बुद्धि चाहे नदियों की धारा में जड़तत्त्व को ही देख सकती है, परन्तु सत्पुरुष उसमें वही तड़प देखते हैं जो कि वे मनुष्यों में देखते हैं। एक बार कहा था, "नदी की लहर किनारे से उसी शान्ति को खोज में टकराती है जिसकी तलाश में मानुष भोगों की ओर दौड़ता है, और योगी त्याग की तरफ़।" आदिकाल से प्यासी नदी आज तृप्त हो गई थी।

और आखिर यमुना तीर की वह अद्भुत लीला समाप्त होने को आई।

---

१. जहाँ तक सम्भव हो सका है प्रेमी ने जिस भाषा में यह आदेश सुनाये थे उसी में इन्हें रखा गया है। कुछ ही स्थलों में परिवर्तन किया गया है। इस स्थान पर मृतक संस्कार के सम्बन्ध में भी कुछ आदेश लिखे गये थे, परन्तु गुरुदेव ने उन्हें फाड़ डालने की आज्ञा दी थी। इसका कारण कदाचित् समतावाद के एक मत में परिवर्तित हो जाने की आशंका थी। एक बार शिमला में भगतजी ने वाणी को एक नयी लिपि में लिखने की भी प्रार्थना की थी। तब गुरुदेव ने उन्हें चेतावनी दी थी कि ऐसी बातें प्रेम के स्थान पर वैर-विरोध उत्पन्न कर देती है। पुरातन लिपि और साधारण भाषा में प्रचार करना ही उन्होंने सुखदायक समझा था गुरुदेव समता को एक पंथ नहीं बनाना चाहते थे। अतः मृतक संस्कारों के सम्बन्ध में प्रचार करना कदाचित् उनकी लाजा के विरुद्ध होगा।

चराचर जीवों का पाप अपने ऊपर लेकर वह शरीर तपता रहा, लेकिन उपकृत सृष्टि बेखबर रही। पालनकर्ता को कब किसने देखा है ? सबमें आत्मरूप में वास करता हुआ भी वह उनसे अलग है। "न त्वहं तेषु ते मयि ।"

छः मार्च की संध्या वन-पर्वत पर उतरने लगी। पक्षी पेड़ों पर चहकने लगे और चहकते चहकते सो गये। वन पर्वत अन्धकार में विलीन होने लगे। आसमान पर तारे उगने लगे। सत्संग आरम्भ हुआ, देववाणी का पाठ हुआ और फिर आरती हुई। परन्तु आज प्रेमियों का मन सत्संग में न था ९ महीने से वे तपते आ रहे थे। आज उनके चेहरे पर हंसी लौट आई थी। कल सवेरे गुरुदेव को सहीसलामत संगत को लौटाने जा रहे थे। उनकी फ़रियाद सुनी गई थी, उनके आँसू सार्थक हुए थे, उनकी श्रद्धा फलवती हुई थी। आशा की लहरें वाणी को भला कहाँ सुनतीं ? केवल गुरुदेव ही सत्संग में समाधिस्थ होकर बैठे थे। मुखमण्डल अभी कमजोर था उसमें वही राग-वैराग्य से परे, भव-भाव से अतीत सत्ता झांक रही थी। आज भी कमर आगे को झुकी थी और सिर में हल्की गति थी।

बाहर अन्धकार गहरा होता जा रहा था। आकाश में अनगिनत तारे टिम-टिमा रहे थे। अंधेरी रात्रि भी सर्वश्री सम्पन्न होकर मानो अन्धकार को नष्ट कर रही थी। थके-माँदे प्रेमी आज वैसे ही सो रहे थे जैसे कि पेड़ों पर पक्षी। अंधेरी रात्रि ने उनके मनोतम को अपने में समेट लिया था। अपने सभी प्रहरों में वह उन्हें खुले हाथों सुख लौटाती रही; सोये हुए प्रेमी उस देवी के वात्सल्य से बेखबर उसका भोग करते रहे। तभी उस कृष्णांचला ने प्रभुता और कान्तिमयी ऊषा को जन्म दिया। उस लोक की पुत्री ने अन्तरिक्ष और पृथ्वीतल का द्यूलोक की ज्योति से सिञ्चन किया। नींद में मरे हुए-से जीवों में फिर से चेतना का आविर्भाव होने लगा। उस कान्तिमयी ऊषा की गोद से बाल सूर्य उठ बैठे। नगाधिराज हिमालय के मस्तक पर अपनी किरणें फैलाते हुए वे विश्वचक्षु ऊपर उठने लगे। उनकी पुत्री यमुना किरणों का स्पर्श पाकर

प्रसन्नवदना होकर बहने लगी। पशु-पक्षियों ने अपने बसेरे त्याग दिये। उस निर्जन स्थान में रहते हुये प्रेमी भी जागे जैसे धरती गा रही थी, वैसे ही इनके मन भी गा रहे थे। लेकिन उस ज्योर्तिमयी बेला में भी गुरुदेव बाहर एकान्त में समाधि लगाये बैठे थे। न उन्हें रात्रि के जाने का पता लगा, न ऊषा के आगमन का। वे उस लोक में गमन कर रहे थे जहां न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा और न ही तारे, और न ही बिजलियां चमकती हैं। जिसके प्रकाश से सूर्य चमक रहा था, उसी परम प्रकाश से एक रूप होकर गुरुदेव प्रकाशित हो रहे थे। सब ओर से बेखबर होकर वे मस्त हो रहे थे। क्या बीमारी और क्या तन्दुरुस्ती-सभी हालतों में उनकी स्थिति समभाव में स्थित रही थी। जीवों के कल्याण के लिए वे तप रहे थे, परन्तु स्वयं इस तप से भी बेखबर थे। कौन कह सकता है कि वह अवस्था क्या थी और कौन समझ सकता है उसे? एक बार आपने कहा भी तो था, "संसार में मर्यादा के साथ चलना पड़ता है। प्रारब्ध वश आख़िरी जन्म ऐसी जगह हुआ जहाँ के लोग आम संसारी थे। उन जैसा ही बनकर रहने की आज्ञा रही। इनको पता नहीं कौन गुरु है कौन चेला? यह संसारी रीत है। लेकिन कथन में वह हालत आ नहीं सकती। चार जुग उस महाप्रभु की महिमा का वर्णन होता रहे तब भी अन्त नहीं समझ आता । अथाह और अनन्त है मालिक की जात! उस महान अवस्था में खत्म हो जाने के लिए सारी आयु है। उसकी मौज में सुबह-शाम दिखाई नहीं दे रहीं ।"

उस दिन ताजेवाला के लोगों को वचनामृत का पान कराके सत्पुरुष नयी लीला करने के लिए फिर से विचरने लगे ।

अध्याय – १७

सिद्ध या सुधारक ?

९ मई, १९४५, गोलड़ा में वास का अन्तिम दिन। सत्संग में गुरुदेव ने कहा, "ऐसे समय बार-बार नहीं मिला करते शायद फ़क़ीरों का आखिरी फेरा ही इस तरफ आने का हो। आपस में ज्यादा से ज्यादा मिलकर रहने का समय है। हर एक से प्रेम करना चाहिए। प्रेममयी जीवन ही सहायक हुआ करता है। अपनी तरफ से किसी के साथ बिगाड़ने वाली बात न करें। बाकी ख़ुद ईश्वर ही हर एक जीव का सहायक हुआ करता है।"

उन्हीं गर्मियों में काश्मीर के जंगल सपा में एकांतवास होने लगा। वहाँ लगातार बारिश होती रहती, पहाड़ों को फाड़ने वाली बिजलियां गिरती । चीते और रीछ दहाड़ते और गुर्राते रहते तो भी सबका मोह हो गया था उस जगह से १५ जुलाई को जब डेरा कूच होने लगा, तो भगतजी बार- बार मुड़-मुड़कर उस जगह को देखने लगे-जैसे फिर कभी वहां आना न हो ।

गुरुदेव तब बोले :

"आवत हरष न होवई, जावत सोग न मनाइयेजी।
ऐसी रहनी जब होवे, तब समता भाओ लखाइयेजी ॥

प्रेमी, लगाव न लगाओ। न जाने किस रूप में इधर आना पड़ जाय ! चित्त में वाह वाह दृश्य की प्रीति न रखो। मिल गई तो वाह वाह ! बिछड़ गई तो वाह वाह"

१३ जनवरी, १९४६ । दौरांगला में आपने कहा, "प्रेमियों, शायद इनका फिर इस तरफ़ आना न बन सके। हर एक प्राणी से प्रेमभाव बनायें । तास्सुब वाली बू को मन से निकाल दें। वैरभाव को रखने से देश का भला न होगा । खुदगर्जी ने पहले भी हिन्दुओं को तबाह किया है। आगे न जाने क्या चाँद चढ़ाते हैं । इस समय ज्यादा से ज्यादा प्रेमभाव की जरूरत है। इन प्रेमियों[१] के हालात का विचार किया जा रहा है। देखो, कहाँ तक ये तलवार मारते हैं ! यह देशभक्ति का नारा अलहदगी कराने वाला है। सद्विचारों द्वारा ही लोक-परलोक सुधर सकते हैं। झूठ बोलकर कभी कोई कामियाब नहीं हुआ । ऐसे ओछे प्रोग्राम ही तबाही लाया करते हैं।"

अक्तूबर १९४६ । गंगोठियां में अन्तिम सम्मेलन । सत्संग हाल नयी जमीन ली गई थी। उसी जमीन को ठीक करके टेण्ट लगा दिये गये थे ताकि प्रेमियों को सहूलियत रहे। आने वालों की संख्या अधिक थी। उनके जूतों को रखने के लिए प्रेमियों ने प्रबन्ध किया। पहली ही बार हुआ था यह प्रबन्ध। पहले लोग अपने जूते आप ही सम्भालते थे। सत्संग हुआ। जीव के बन्धन और मुक्ति का निर्णय दिया गुरुदेव ने उसके दुःख का कारण और उससे छूटने का उपाय भी समझाया। भण्डारा हुआ। मनों हलुआ बाँटा गया। खाना भी बाँटा गया। एक-एक आदमी सेर-सेर, दो-दो सेर हलुआ खा गया। साथ में बांध भी लिया। पूरी तरह तृप्त होकर लोगों ने जूतों पर धावा बोल दिया। कुछ तो जूतों को बोरियों में भरने लगे। देखते ही देखते जूते गायब हो गये ।

---

१. कुछ प्रेमी विवेकहीन भावनाओं के शिकार को गये थे। वे एक साम्प्रदायिक दल में सक्रिय भाग लेने लगे थे। यह दल वैर की भावनाओं को उभार रहा था।

पथरीली और कांटेदार जगह थी। प्रेमियों को नंगे पाँव लौटना पड़ा। जूता लूटने वालों की हालत भी कोई खास अच्छी न रही। शायद ही किसी को सालम जोड़ा मिला हो !

गुरुदेव ने आज्ञा दी कि कोई भी प्रेमी किसी को कुछ न कहे। सम्मेलन की समाप्ति पर जब आपके सम्मुख सम्मेलन का हिसाब-किताब रखा गया तो आपने तब कहा, "यह माया पीछा नहीं छोड़ती। मना करने पर भी प्रेमी इस कदर श्रद्धा-विश्वास से भेंट करते हैं। यह जगह इतनी खराब है कि यहाँ पहुँचना भी मुश्किल है। इस भूमि के लोगों का यह हाल है कि रास्ते तक बन्द कर रखे हैं। अब किसी दूसरी जगह का विचार करना चाहिये। देश के हालात बिगड़ रहे हैं। न जाने क्या गुल खिलता है !"

२ मार्च, १९४७ । लाहौर में एक प्रेमी के घर शाम का सत्संग हो रहा था । सत्संग की समाप्ति के बाद कुछ लोग घबराये हुये आये। कहने लगे, "दंगा शुरू हो गया है। मास्टर तारासिंह ने लीग का झण्डा फाड़ दिया है।" जो लोग वहाँ बैठे थे वे जल्दी-जल्दी आज्ञा लेकर चल दिये। परमार्थीजी (इन्हीं के यहाँ गुरुदेव ठहरे हुये थे) ने भी झट से दरवाजे बन्द कर दिये । साँझ होते-होते ही गोली चलने की आवाज आने लगी। एक अन्य सज्जन जो कि उसी मकान में रहते थे किसी तरह छिपते-छिपते रात को आठ बजे घर पहुंचे। कहने लगे कि लाहौरी और मोची दरवाजे में बहुत मार-काट हो रही है। उनकी बातें सुनकर सब सहम गये। एक सिक्ख भाई बन्दूक हाथ में लेकर छत पर जा बैठे। लेकिन दिल धड़क रहा था। गुरुदेव ने केवल इतना ही कहा, “घबराओ नहीं, सरकार कोई न कोई प्रबन्ध कर रही होगी ।"

घर वाले रात भर पहरा देते रहे। कोई भी न सो सका। गुरुदेव अपनी योगनिन्द्रा में बैठे रहे। सुबह चार बजे गुरुदेव बाहर चल दिये। साथ में भगतजी को भी चलने की आज्ञा दी। एक प्रेमी को दीक्षा के लिए आठ बजे का

समय दिया गया था । इसलिए साढ़े सात बजे ठिकाने की ओर चल दिये। वह इलाका मुसलमानी इलाक़ा था। रास्ते में मुसलमानों की टोलियाँ को टोलियाँ हाथों में लाठी, कुल्हाड़ी और तलवारें लिये दौड़ी आ रही थीं। लगातार अल्लाह-हू अकबर के नारे लग रहे थे। हुजूम वहीं पहुंचने को था जहाँ कि आप ठहरे हुये थे। परमार्थीजी और उनकी पत्नी ऊपर खिड़की से जल्दी-जल्दी आने का इशारा कर रहे थे भगतजी ने देखा कि वे दोनों बहुत घबराये हुये है। आगे भगतजी कहते हैं :

"श्री महाराजजी सिर नीचा किये मस्तानी चाल चल रहे थे। दास पीछे-पीछे घबराया हुआ चल रहा था।

"डर था कि कोई हमला न कर दे। जब दरवाजे पास पहुंचे तो देखा कि पुंछ हाउस के आगे गोली चल रही है। परमार्थीजी ने दरवाजा खोल दिया और हम अन्दर चले गये। हुजूम घर से जरा आगे जमा होने लगा। गुरुदेव से प्रार्थना की, 'महाराजजी, अब बाहर न काली आंधी चल रही है ।'

"गुरुदेव बोले, प्रेमियों, घबराने से काम न चलेगा। ईश्वर पर विश्वास रखो। जो होगा सब के साथ होगा ।"

गोली चलने की आवाज लगातार आ रही थी। इधर से कृष्णनगर वाले गोली का जवाब गोली से दे रहे थे।[१] किसी तरह पुलिस ने हुजूम को वापस किया लेकिन गोली दिन भर चलती रही। उस साँझ कोई भी प्रेमी सत्संग में न आ सका। दूसरे दिन भी गोली लगातार चलती रही। तीसरे दिन जाकर गोली की आवाज कम हुई। बहुत भारी भय फैला था। एक दूसरे की ख़बर खोज करना

---

१. कृष्णा नगर में अधिकतर हिन्दू रहते थे ।

मुश्किल था। चौथे दिन जाकर वातावरण कुछ शान्त हुआ।

अमृतसर और मुलतान में भी दंगे शुरू हो चुके थे। रावलपिण्डी के इलाके से भी दंगों की खबरें आने लगीं। गाड़ियों का आना-जाना बन्द हो चुका था। दूसरे दिन - ८ मार्च, १९४७ - को फ्रण्टियर मेल जाने वाली थी। यह सब सूचना डाक्टर भगतरामजी ने गुरुदेव को दी। आज्ञा दी कि दूसरे दिन चलने का प्रबन्ध किया जाय।

दूसरे दिन स्टेशन पर जा पहुँचे। आगे डाक्टर भगतराम और सेठ ताराचन्दजी खड़े थे। स्टेशन पर अपार भीड़ थी। लेकिन कोई भी बोलने की जुर्रत न कर रहा था। बिल्कुल ख़ामोशी थी वहां। बड़ी कठिनाई से फर्स्टक्लास के डिब्बे में जगह मिली-दरवाजे के पास। रास्ते में पता चला कि रावलपिण्डी शहर में भी दंगा शुरू हो गया है। लोग तीन दिन से स्टेशन पर रुके पड़े हैं। जेहलम स्टेशन पर एक प्रेमी ने जबरदस्ती नीचे उतार दिया। गुरुदेव ने बहुत कहा कि उन्हें जाने दें, लेकिन प्रेमी न माने। अहिस्ता से कहने लगे, रावलपिण्डी को चारों तरफ़ से मुसलमानों ने घेर लिया है। स्टेशन पर खड़े होने की भी जगह नहीं है। अभी रेडियो ने खबर दी है कि लगातार गोली चल रही है। कई जगह आग लगी हुई है।"

गुरुदेव बोले, "अब किधर चलना है ? जेहलम भी रुकने की जगह नहीं। आज-कल शायद यहाँ भी दंगे शुरू हो जायें।"

भगतजी ने जम्मू चलने की प्रार्थना की। इसी समय सिन्ध एक्सप्रेस प्लेट-फार्म पर आकर रुकी। तेरह घण्टे लेट थी। टिकट लेकर सेकण्ड क्लास के एक डिब्बे में जा बैठे। एक दूसरे डिब्बे में 'अल्लाह-हू-अकबर', 'मिस्टर जिन्नाह जिन्दाबाद के नारे लग रहे थे। इधर इस डिब्बे में क्या हिन्दू, क्या मुसलमान टांगों में सिर छिपाये बैठे थे। गाड़ी चल पड़ी। सब दरवाजे बन्द कर दिये गये।

यात्रियों ने बताया कि रावलपिण्डी, सेहाला और मन्दरा स्टेशनों पर गाड़ी पर हमला हुआ था। बहुत से सिक्ख मार दिये गये थे । वजीराबाद पहुँचने पर पता चला कि जम्मू के लिये गाड़ी दूसरे दिन डेढ़ बजे जायेगी। वेटिंग रूम में जाकर देखा तो भीड़ से भरा पाया। एक लोई बिछा कर महाराजजी के लिए आसन ठीक किया। घबराहट में लोग तरह-तरह की बातें कर रहे थे। कुछ लोगों को हँसी मजाक सूझ रहा था। कह रहे थे कि मरना तो एक दिन है ही, फिर डर किस बात का ? कुछ लीडरों को गालियां दे रहे थे, कुछ अंग्रेजों को। गुरुदेव कभी अपनी मौज में लीन हो जाते थे, कभी उन लोगों की बातें सुन लेते थे और हँस देते थे। सुबह सवेरे गुरुदेव स्टेशन से कहीं दूर निकल गये। जब तक लौटे नहीं भगतजी का दिल धड़कता रहा। सुबह भगतजी स्टेशन से बाहर जाकर गुरुदेव के लिए चाय बना लाये। अपने नाश्ते का भी प्रबन्ध किया डेढ़ बजे की गाड़ी से जम्मू पहुँचे ।।

जम्मू शहर में अभी शान्ति थी। अनेक सम्मानित लोग आ आकर दर्शन करने लगे । सत्संग का प्रवाह बहने लगा। उधर पंजाब भर में दंगों की आग जल रही थी। गंगोठियाँ से बाबूजी ने आकर बताया कि गंगोठियां को कैप्टेन मुहम्मद यूसुफ़ और मौलवी मुहम्मद इब्राहीम ने दंगों से बचाये रखा था। दूसरे मुसलमानों ने भी बहुत प्रेमपूर्वक बर्ताव किया था। लेकिन आसपास के गांवों में दिल दहला देने वाली घटनायें हुई थीं। स्वयं बाबूजी भी मौत के मुंह से ही बचकर आये थे। गुरुचरणों का सहारा लेकर वे एक कठिन यात्रा करके श्री चरणों में हाजिर हुये थे। उनकी कथा सुनकर गुरुदेव बोले, "प्रेमियों, धर्म का मार्ग ऐसे समय के लिए ही हुआ करता है। मगर कठिन समय में बड़े-बड़े धीरजवान भी डोल जाते हैं। सिवाय ईश्वरविश्वास के और कोई चीज धीरज देने वाली नहीं । भय में ही उसकी याद आती है। हर समय शुभकर्म ही सहायता देते हैं। "इस समय चारों ओर अशान्ति ही अशान्ति दिखाई दे रही है। अधिक वैर-विरोध की आग प्रचण्ड हो चुकी है। प्रेम के जल से ही ठण्डी हो सकती है। मगर यह सोच बाद में आवेगी। अब इनका प्रोग्राम किसी एकान्त

जगह में रहने का है। प्रेमी जफ़रसिंह अनन्तनाग में एकान्तस्थान के लिये प्रबन्ध कर रहे हैं।....”

१० अप्रैल को अनन्तनाग के लिए यात्रा आरम्भ हुई। ठाकुर जफ़रसिंह ने वहाँ के वजीर श्री रघुनाथ मट्टू को पहले ही टेलीफोन पर सूचना दे दी थी। उनका एक आदमी भी बस स्टेण्ड पर प्रतीक्षा कर रहा था। तो भी श्री गुरुदेव ने प्रेमी रामजीदास फौत्तेदार के यहाँ जाने का फैसला किया। साँझ को वजीर साहब और एक रईस पण्डित राधाकृष्ण अन्य अफ़सरों के साथ आ पहुँचे और बड़े ही आदर-मान से साथ चलने की प्रार्थना करने लगे। गुरुदेव ने बहुत टालने की कोशिश की, लेकिन पण्डित राधाकृष्ण हाथ बांधे प्रार्थना ही करते रहे। यह सिलसिला चल ही रहा था कि मकान के पीछे से बहुत सी कारें आती दिखाई दीं। सबने हाथ जोड़कर नमस्कार किया। गुरुदेव के पूछने पर वजीर साहब कहने लगे, "महाराजा साहब मछलियों का शिकार खेलकर लौट रहे हैं।"

सुनकर गुरुदेव बोले, "दुनिया मर रही है और इसे शिकार की पड़ी है ! इसे कोई सोच नहीं कि कल इधर भी ऐसा हो सकता है।"

पण्डित राधाकृष्ण कई गांव के मालिक थे। जमीन-जायदाद इतनी थी कि प्रबन्ध करना कठिन था। कई बाग़ ऐसे थे जिनकी देखभाल करने वाला कोई न था। इतने वैभव के होते हुये भी अत्यन्त विनम्र और शीलस्वभाव के थे। अतिथिसत्कार कूट-कूटकर भरा था। खाने के समय अनेक अतिथि भी होते थे। उस समय कोई भी जाना-अनजाना उनके पास आ जाता तो उसे भोजन अवश्य ग्रहण करना पड़ता। न तो वह उसका नाम पूछते, न पता ठिकाना खाने के बाद ही उसका परिचय प्राप्त करते। ऐसे पुरुष का आतिथ्य गुरुदेव को भी स्वीकार करना पड़ा। अनेक बार 'न' की, लेकिन पण्डितजी को आजज़ी के आगे उनकी एक न चली। कार्कुटनाग में एक अत्यन्त सुन्दर और एकान्त

स्थान में टेन्ट लगवाये गये। दो दिन तक पण्डितजी स्वयं सब का प्रबन्ध करते रहे। एक मई को गुरुदेव ने वहां तप आरम्भ कर दिया।

उस जगह भी चीते और रीछ रात्रि को गुरुदेव की अंग रक्षा करते रहे। ज्यों-ज्यों देश की स्थिति बिगड़ती जा रही थी, गुरुदेव का तप भी उतना ही गहरा होता जा रहा था। उधर महाराजा ने उस ओर भी मछलियों का शिकार करना शुरू कर दिया। गुरुदेव ने उसके साथ आये काश्मीरी पण्डितों से कहा कि वे उसे समझायें। "इधर तबाही आ रही है और इसे मछलियों के शिकार की सूझ रही है !"

उधर पण्डितजी को अपनी जमीन-जायदाद की चिन्ता हो रही थी। शेख मुहम्मद अब्दुल्लाह की पार्टी कानून में परिवर्तन चाहती थी। गुरुदेव ने उनसे इतना ही कहा, 'जो सबके साथ होगा वही आपके साथ होगा। अक्सर परिवर्तन होते हैं। प्रभु सबका रखवाला है।"

अनेक स्थानों से प्रेमी आये। एक दिन रसोई में जब श्री फ़कीरचन्द पनीर की टिकियाँ बनाने लगे तो तेल में आग लग गई। आग ने रसोई के तम्बू को भी आ लपेटा। गुरुदेव बाहर समाधिस्थ थे, लेकिन उसी समय आ गये। कहने लगे, "फ़क़ीरों की कुटिया को आग लगना कुछ मतलब रखता है। शान्ति होना कठिन है। अच्छा जल्दी से इसे बुझाओ।"

फिर कहा, "पता नहीं, कहाँ-कहाँ की आग इस जगह लगी है ?"

१९ जुलाई को आप श्रीनगर पधारे। वहाँ एक दिन प्रेमी दीवानचन्द सूरी छज्जियाँ गाँव से आ पहुँचे। बड़े दुःखी दिखाई दे रहे थे। गुरुदेव ने पूछा, "प्रेमी, तुम किधर ?"

वह कुछ बोल न सके। आँसू बहाने लगे। फिर दिल कड़ा करके बोले, "बड़ी मुश्किल से यहां तक पहुंचे हैं। घर के सब लोग जलकर राख हो गये। प्रेमी शिवनन्दन भी क़त्ल हो गये हैं। छज्जियाँ के सब स्त्रियां और बच्चे एक ही मकान में बचाव के लिए ठहरे हुए थे। आदमी अपने-अपने घरों में थे। रात को कुछ लोगों ने छत तोड़कर पेट्रोल डाला और आग लगा दी। सब औरतें और बच्चे मर गये। आग लगी देखकर मर्दलोग भागकर पहाड़ों में जा छिपे। हम देखते रहे। सारा कसबा जल रहा था। सुबह आकर देखा कि सब बच्चे और औरतें मरी पड़ी हैं। भागते हुए कई मर्द बरछों से मारे गये। हरिपुर में जाकर तार दिया। मिलिटरी को लेकर छज्जियां पहुंचे। सर्दी की वजह से लाशें ठीक हालत में ज्यों की त्यों पड़ी थीं। फ़ौज की हिफाजत में उनका संस्कार करके फूल लेकर हरिद्वार पहुंचे और अस्थि-प्रवाह किया। तब इधर आना हुआ है।"

सुनकर सबकी सांस घुटने सी लगी। गुरुदेव फर्माने लगे, "होनी बड़ी बलवान है। किस तरह से यह लोग सुख से रह रहे थे। अच्छा प्रेमी, प्रभु तुमको धीरज और विश्वास देवें। एक न एक दिन तो जुदा होना ही है।"

प्रेमी महाराजजी, "आपके दर्शन करने से कुछ शान्ति हो गई है। अब आगे से याद नहीं करूंगा। आप कृपा करें, चित्त टिक जाय।"

एक दिन आपने सत्संग में कहा, "जब जीव धर्म और मर्यादा को भूल जाते हैं तो कहर-ए-इलाही[१] भी नाजिल हुआ करता है। इस समय मनुष्य और पशुओं के बीच कोई अन्तर नहीं रहा। प्रेमभाव खत्म हो चुका है। वैरभाव बढ़ रहा है। राम-कृष्ण के नाम लेने वाले उनकी शिक्षा को भूल गये हैं। सगुण देह में निर्गुण आत्मा को खोज न करके पत्थरों को गले लगा रहे है और

---

१. ईश्वरीय प्रकोप

जीवों के बधिक बन गये हैं।... ज्यों-ज्यों घृणा का भाव बढ़ता जायेगा, त्यों-त्यों स्थिति और भी बिगड़ती जायेगी। अब भी समय है, मनुष्यों से प्रेम करो ऐसे अशान्ति के समय में धीरज और विश्वास ही मन को स्थिर रख सकते हैं। जब तक दिलों में स्वार्थ है, देश की सेवा नहीं हो सकती। देश की सेवा फ़क़ीर फक्कड़ ही करते आये हैं।"

बटवारा हो गया। महाराजा हरिसिंह रियासत को स्वतन्त्र रखने की फ़िक्र में थे। उधर रियासत में अफ़वाहें फैल रहीं थीं कि पाकिस्तान से हमला होगा। ऐसी स्थिति में चिनारी के प्रेमियों ने आकर गुरुदेव को साथ ले जाने के लिये कहा। चिनारी के कुछ प्रेमी भी अजीब मिट्टी के बने थे। अनेक बार गुरुदेव का सत्संग सुन चुके थे, उनका कठिन तप देख चुके थे। परन्तु उनकी विवेकहीन बुद्धि और संस्कारहीन मन अब भी अपनी तामसिक प्रवृति न छोड़ पाये थे। अब भी कुछ ऐसे प्रेमी थे जिनका खान-पान भी शुद्ध न था। मुसीबत की घड़ी में यज्ञ के लिये प्रार्थना करने लगे। गुरुदेव बोले, "तुम लोगों ने फ़क़ीरों से क्या सीखा है ? तुम लोगों का अन्न खाकर फ़क़ीर दूसरे लोगों की बुद्धियाँ भ्रष्ट नहीं करना चाहते।"

संकट में प्रेमियों ने फिर से प्रण किया कि खान-पान और लोकव्यवहार में शुद्धता रखेंगे। यज्ञ में भी आपने आई हुई हिन्दू और मुसलमान जनता को प्रेम-भाव का उपदेश दिया। प्रेमी लोग बहुत चिन्तित हो रहे थे। गुरुदेव कहने लगे, "समय के साथ ही मनुष्य को चलना पड़ता है। अब पुराना स्वाद न रहेगा । जब तक राजसत्ता है तब तक यहीं बने रहो। जब कोई गड़बड़ देखना तब विचार कर लेना । महाराजा को या तो असली हालत बताई नहीं जा रही, या उसे कोई हौसला है। 'बिल्कुल बेहोश रहेगा तो पछतायेगा। बहुत स्थानफ़ भी धोखा दे जाती है। होनी बड़ी बलवान होती है। समय पर सब की मति मारी जाती है । बड़ी सूझ-बूझ से रहने का वक्त है।"

चिनारी से चलते समय आपने फिर आज्ञा दी, "प्रेमियों आखिरी समय तक इन्तजार करना।"

अन्त में जब पठानों का आक्रमण हुआ तो चिनारी में भगदड़ मच गई। लोग सोचने लगे कि अब क्या करें ? इतने में पचास तांगे सेवों की पेटियाँ लेकर वहाँ आ पहुँचे। ये तांगे रावलपिण्डी जा रहे थे। जब तांगे वालों ने हमले की बात सुनी तो पेटियां वहीं फेंक कर वापस जाने को हुये चिनारी निवासियों के कहने पर उन्हें श्रीनगर ले आये और हवाई अड्डे के पास लाकर उतार दिया। उधर सेना पठानों के साथ लड़ने की तैयारी कर रही थी। वे लोग बहुत निकट आ चुके थे। हवाई अड्डा खाली करने की आज्ञा हुई। शहर के लोग तो डर कर अपने घरों को भाग गये चिनारी के लोग मुंह ताकते रह गये। इतने में एक हवाई जहाज सेना के जवानों को लेकर उतरा। उन्हें उतारकर चिनारी निवासियों को लेकर उड़ चला। ढाई घण्टे में सभी चिनारी निवासी दिल्ली आ पहुंचे।

X X X

चौधरी फ़कीरचन्दजी का पहले भी जिक्र किया जा चुका है। सपा जंगल में इन्हीं ने प्रेमियों की सुविधा के लिये घर-का-सा प्रबन्ध किया था। जब तक गुरुदेव जंगल में रहे, चौधरी साहब चरणों में ही बने रहे। मटन में भी पनीर की टिकियाँ बनाते समय इन्हीं के कारण कुटिया में आग भभक उठी थी। श्रीनगर में भी गुरुदेव के साथ चले आये थे और गुरुचरणों में ही रह रहे थे। बटवारा हो चुका था, लेकिन आज्ञा मिले बिना जाने की सोच भी न सकते थे। एक दिन आज्ञा हुई कि घर जाकर बाल-बच्चों को ले आओ। प्रेमी काश्मीर में शारियाँ नामक गाँव में रहते थे। चौधरीजी का विचार डोमेल में एक विवाहोत्सव में सम्मिलित होने का था। गुरुदेव ने इससे मना किया और बच्चों को ले आने के लिये फिर कहा। चौधरीजी शारियाँ पहुँचे। घर में रुपया था। उसे अपने एक सम्बन्धी के पास रखने के लिये डोमेल चले गये डोमेल पहुँचकर रुपया तो सम्बन्धी के पास जमा कर दिया, लेकिन उसी रात

पठानों का हमला हुआ। सम्बन्धी मारा गया। फकीरचन्द किसी प्रकार वहाँ से भाग निकले। घर लूट लिया गया। चौधरीजी छिपते-छिपाते शारियाँ की ओर बढ़े, लेकिन डोमेल के पुल पर पहुँचते ही पकड़े गये। ख़ुदा के बन्दों ने वहीं उन्हें कत्ल कर दिया और लाश जेहलम में फेंक दी।

अक्तूबर १९४७ को आप बस द्वारा ऊधमपुर पहुंचे। वहाँ दो-तीन दिन रहकर तांगे से जम्मू के लिये चल दिये। रास्ते भर गांव के गांव जल रहे थे। स्त्री, पुरुष और बच्चे बेघर हो क़ाफिले बनाकर चल रहे थे। इधर हिन्दुत्व की रक्षा इस वहशी तरीके से हो रही थी। इन्सान इन्सान को खा रहा था। उधर महाराजा हरिसिंह अपने को स्वतंत्र रखने की धुन में रियासत की बर्बादी कर रहे थे। इन सब दृश्यों को देखते हुए गुरुदेव जम्मू पहुंचे। वहां पता चला कि काश्मीर का भारतवर्ष में विलय हो गया है। सुनकर आप बोले, "अब चिन्ता की बात नहीं। पता नहीं किसने इसे अकल दी है ? इसने बहुत देर लगा दी।"

उन्हीं दिनों महाराजा हरिसिंह भी जम्मू चले आये थे। ठाकुर जफ़सिंह और ठाकुर निश्चिन्तचन्द सत्संग में आने लगे। उनका राजदरबार से सम्बन्ध था। एक दिन दोनों ने प्रार्थना की, "महाराजा साहब पर कृपा करें। वे बहुत घबराये हुये हैं।" उत्तर दिया, "आने में बहुत देर कर दी। अब क्या सीख दें ? पहले तो वह किसी की सुनता ही न था। श्रीनगर में मन्त्री तेजराम ने भी कोशिश की थी महाराजा तक इनका संदेश पहुँचाने की, लेकिन उसने एक न सुनी। अब क्या हो सकता है ?"

उसी रात वे दोनों सज्जन फिर हाजिर हुए और कहने लगे कि महारानी साहिबा ने हाथ जोड़कर दर्शन के लिए प्रार्थना की है।

थोड़ी देर तक मौन रहकर आपने जाने की स्वीकृति तो दे दी, परन्तु साथ

ही आदेश दे दिया कि राज्यगृह की कोई वस्तु ग्रहण नहीं की जायेगी। सभी लोग धरती पर ही बैठेंगे। वहाँ एक सफेद चादर बिछी रहे। कोई कालीनादि का आडम्बर न हो। कमरे में कोई चित्रादि भी न हों। न ही आते समय कोई भेंट दी जाय।

इन शर्तों पर आपने राजमहल जाना स्वीकार कर लिया। दूसरे दिन जब चलने लगे तो भगतजी एक धुला हुआ कपड़ों का जोड़ा लाए और उसे पहनने के लिए प्रार्थना की। गुरुदेव २१ दिन बाद वस्त्र बदला करते थे। उस अवधि को पूरा होने में अभी एक-दो दिन की कसर थी। बोले, "बेईमान, वस्त्रों के बदलने से क्या होगा ?"

भगतजी ने उत्तर दिया, "महाराज जो आप राजमहल जा रहे हैं। वे लोग कहेंगे कि इनके वस्त्र साफ़ करने वाला भी कोई नहीं है ! "

गुरुदेव ने मुस्कराकर कहा, "फ़क़ीर लोग तो गुदड़ियों में ही जाया करते हैं। सफ़ेद वस्त्र तो उसे धीरज नहीं देगा। फक़ोरों के वचन ही ढारस (धेर्य) दिया करते हैं।"

राजमहल से वापस आने के बाद कहने लगे, "महाराजा तो बहुत ही घबराया हुआ था। राजाओं के ये हाल हैं ! रियासत छोड़ने की कह रहा था। बहुत तरह से समझाया कि रियासत छोड़कर चले जाने से बहुत बेइज्जती होगी। अब गांधी, नेहरू और पटेल के कहे अनुसार चलो। शेख अब्दुल्लाह के साथ अच्छी तरह से बर्तो। फिर जब शान्ति हो जाय तो जैसा ठीक समझना करना। मन्त्री लोग उसे ग़लत बातें बताते रहे हैं। वह भी क्या करता ? अब बेबस हो रहा है। हिन्दुस्तान से पहले मिल जाता तो अधिक यश और आराम से रहता। शुक्र है अब्दुल्ला मन से कांग्रेस का साथ दे रहा है, नहीं तो दो दिन में श्रीनगर भी न बच पाता। मालिक बेसहारों का भी कोई न कोई सहारा

बना ही देता है।"

बटवारे के सम्बन्ध में आपने एक दिन कहा- (१६ जनवरी १९४८ – काहनूवान) :

"जिन मुसीबतों को तुमने देखा है, वे कोई नई नहीं। पहले भी ऐसे होता रहा है। लोग एक जगह से दूसरी जगह जाते रहे हैं। ऐसी घटनायें शिक्षा देने वाली होती हैं। संसार में सिवाय अशान्ति के और कुछ नहीं। स्वार्थी लोग सदा से ऐसा करते आये हैं। पिछली लापरवाहियों ने यह समय दिखाया है। अब भी समय है आपस में अधिक से अधिक प्रेम पैदा करो। धर्म को समझो और धारण करो अपना आहार, व्यवहार, आचार और संगत शुद्ध करो। भ्रष्टाचार, मांस और शराब की ही यह कृपा है। यह आहार बुद्धि को जड़ बना देता है और ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि आपस में मिलकर बैठना असम्भव हो जाता है। इस कारण न सही सत्संग किसी से बन सकता है, न सही विचार भ्रष्ट आहार और व्यवहार से विचार भ्रष्ट हो जाते हैं और आचार गिर जाता है। आपस में कट-कटकर मरने की सोच लोग सोचने लगते हैं। खान-पान पहनावे और विचार की सादगी जब तक नहीं होती, तब तक विचारों की एकता कभी नहीं हो सकती। ईश्वर सबको आपस में प्रेम बख्शें।"

मटन (कार्कुटनाग) में जब आप तप कर रहे थे तो आपने देश के कल्याण के लिये कुछ वचन प्रकट किये थे। जिनमें से कुछ-एक इस प्रकार हैं :

"इस जीवनमार्ग में समता और ममता दो अवस्थाएं बुद्धि की हैं। यानी अधिक शारीरिक मद से ममता का जाल बढ़ता है, और आत्म- परायण होने से समता की रोशनी बढ़ती है। ममता के जाल को ही अज्ञान सरूप माना गया है। जब बुद्धि में शारीरिक मोह की अधिक

जड़ता आ जाती है, तब वह बड़े-बड़े अनर्थक तमोगुणी कर्म करके अधिक दुःख को प्राप्त होती है। ऐसे ही प्रकृति के चक्कर में तमाम जीव भरमते हैं।

"जब शारीरिक ममता अधिक बढ़ जाती है, तब तमाम जीव वासना की गिरफ्तारी में आकर एक-दूसरे के नाशक हो जाते हैं। यह ही दशा भयानक तब्दीली के प्रगट करने वाली होती है। मानुष जीवन में आकर इन ही जीवन के भेदों को जानना और फिर सत्यत्न करना ही कल्याणकारी है।"

"स्वभाव से बुद्धि शारीरिक ममता में गिरफ्तार है और शारीरिक भोगों की अति आसक्ति में आकर नित ही प्रतिकूल कर्म करती है। तब अपने आपके वास्ते और दूसरों के वास्ते अति खेद रूप हो जाती है। यह ही अज्ञानमय जीवन सर्वकाल संकट के देने वाला है। ऐसा विचार करके जिसने नित् ही सत्परायणता हासिल करने का यत्न धारण किया है, वह ही समता रूपी सरब-शान्ति को प्राप्त होता है।"

“तमाम शरीरधारी अपने-अपने मानसिक दोषों के बांधे हुए संसार में अनुकूल और प्रतिकूल विचरते हैं। यानी जब सत्परायण होकर विचरना होता है तब सर्वशान्ति का मार्ग त्याग, वैराग, एकता, प्रेम, सेवा, सत्, सील, सन्तोष आदि देवगुण बुद्धि धारण करके नित कल्याण को प्राप्त करने का यत्न करती है। ऐसा बोध और यत्न ही निर्बन्धन सरूप स्वराज है। जिस गुणी पुरुष को ऐसा प्रयत्न प्राप्त हुआ है वह ही त्रिगुणी माया से छूटकर नित निर्वाण शान्ति को प्राप्त होता है।"

"इसके उलट जब देह मद में अति आसक्त होकर जीव विचरते हैं, तब निहायत अंधकार के मार्ग को प्राप्त होते हैं। यानी शारीरिक भोगों

में अति लीन होकर झूठ, चोरी, कपट-छल, ईर्ष्या, द्वेष, अति लोभ, अति मोह, अति काम, अति क्रोध और अति अहंकार में लवलीन होकर तमाम जीव शान्ति को नाश कर देते हैं। यानी शारीरिक और मानसिक दोषों में हर वक्त जलते रहते हैं। यह असुर गुण ही काल रूप हैं और जीवों को अधिक भय देने वाले हैं। इस वास्ते जीवन-यात्रा को सत् अनुकूल चलाना ही मानुष जन्म का सार है।"

"इस अद्भुत प्रकृति के बन्धन में तमाम जीव मजबूरी से अपनी नाश और दुःख की ओर दौड़ रहे हैं। इसके उलट और दुःख रूप यत्न से छूटने का मार्ग केवल सत्-परायणता ही है। यानी यथार्थ सरूप में जीवन का भाव समझकर नित ही मानसिक और शारीरिक विकारों को त्याग करके केवल सत्-परायण होकर निष्काम भाव से पर उपकार में विचरना ही परमस्वराज समता अखण्ड शान्ति के देने वाला पुरुषार्थ है। तमाम मानुषों के वास्ते यह ही अधिकार है कि अपनी-अपनी यथार्थ कल्याण सत्य, त्याग और सेवा के मार्ग में दृढ़ होकर करनी चाहिए तब ही सर्वशान्ति निर्बन्धन और निर्भय पद स्वराज को प्राप्त हो सकता है। जो मानुष ममता के अन्धकार और बन्धन से न्यारा होकर नित ही सत्परायण धारणा से निष्काम कर्म में विचरता है, वह ही परम शूरवीर सर्व विजय समता को धारण करने वाला महाज्ञानी परमस्वराज के भेद को जानने वाला है।"[१]

देश को स्वराज्य प्राप्त हुआ था लेकिन सही स्वराज्य शारीरिक ममता का त्याग करके आत्मलीन होने में हैं। जिस समाज में आत्मोन्नति के अनुकूल वातावरण होता है, वही समाज स्वतन्त्र समाज होता है। केवल प्रशासन की विशेष प्रकार की प्रणाली को अपना लेने से समाज और देश आजाद नहीं हो जाते। प्रणाली चाहे प्रजातन्त्र की हो अथवा तानाशाही, जीव खुदगर्जी की

---

१. समताविलास, पृ० २७४-७६ ।

मजबूरी में अपनी उन्नति और दूसरे की हानि को विचार करते रहते हैं। यह अन्धा स्वार्थ बिना सत्परायण हुए कभी नहीं जा सकता। इसीलिए किसी भी देश की उन्नति उपभोक्ता सामग्री अथवा उत्पादों (Products) की अधिकता में नहीं होती, बल्कि ऐसे वातावरण में होती है जहाँ लोग आत्मपरायण हो सकें। इस सम्बन्ध में आपने कहा था-

"किसी कोम और मुल्क की दायमी तरक्की महज मानसिक ख्वाहिशात यानी जरूरियातेजिन्दगी को निहायत बढ़ाने से क़ायम नहीं रहती है-जब तक कि त्याग स्वरूप रूहानी जिन्दगी की साथ-साथ तहक्कीकात न की जावे। जरुरियातेजिन्दगी की ज्यादती अक्सर तबाही कर देती है। यह दृढ़ निश्चय होना चाहिए।"

गुरुदेव यद्यपि एकान्त में ही रहे थे तो भी आज की दुनिया की प्रवृत्ति को देखते हुये वे जानते थे कि अन्य देशों की तरह भारतवर्ष भी विज्ञान और टेक्नोलॉजी की ओर झुकेगा। आधुनिक युग अन्तर्मुखी दृष्टि का परित्याग करके बहिर्मुखी हो रहा है। आज के मानव के विचार में प्रकृति का ज्ञान ही परमज्ञान है, इसीलिये प्रेक्षण और प्रयोग (observation and experiment) ही को ज्ञान के साधन माना जाता है। और तो और नीतिशास्त्र (ethics) और सौन्दर्यशास्त्र (aesthetics) आदि मानवीकियों (humanities) में भी आगमिक न्याय (inductive logic) का प्रवेश होने लगा है। विचार का सम्बन्ध या तो प्रकृति से है अथवा विकृति से। संस्कृति को असत्य समझ कर त्यागा जा रहा है। जुलाई १९४७ में ही गुरुदेव ने इस प्रवृत्ति के विरुद्ध चेतावनी दे दी थी।

"माद्दे यानी तत्त्वों की तहकीकात अगर गहरी से गहरी भी की जाय

---

१. वहीं पृ० २७१

तो भी असली तसल्ली नहीं होती, जब तक कि रुहानी जिन्दगी यानी जीवन- शक्ति की तहकीकात न की जावे जो असली सरूप समता का है।"[१]

देश की स्वतन्त्रता के बाद नेताओं ने गांधीजी की बात मानना बन्द कर दिया था। साम्प्रदायिक भावनायें पनप रही थीं। गुरुदेव कहते रहे कि ये भावनायें किसी की बलि लेकर ही शान्त होगी।[२] गुरुदेव का विचार था कि गांधीजी से दिल्ली जाकर सदाचार के सम्बन्ध में विचार-विनिमय किया जाय, ताकि स्वतन्त्र भारत की नीतियों का आधार कल्याणकारी और मजबूत हो, लेकिन ऐसा सम्भव न हो सका। गाँधीजी की हत्या कर दी गई। गांधीजी के बाद ऐसा कोई और नेता न था जिससे कुछ कहा सुना जा सकता था। नये नेता दूसरे देशों की देखा-देखी अपनी योजनायें बनाने लगे। आन्तरिक खोज के स्थान पर भौतिक प्रकृति की खोज होने लगी, सादगी के जीवन के स्थान पर भोगमयी जीवन के स्वप्न देखे जाने लगे। विलासोपकरणों के उत्पादन के लिये योजनायें बनने लगीं। शहरों के आकार बढ़ने लगे और नेतागण कारयुग लाने के स्वप्न देखने लगे। आर्थिक उन्नति के लिये योजनायें बनने लगीं, लेकिन वह उन्नति कहाँ तक ही ओर कैसी हो इसकी ओर किसी का ध्यान न गया। एक शिष्य ने गुरुदेव से एक बार देश की आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में प्रश्न किया था। उसका उत्तर उन्होंने एक पत्र द्वारा इस प्रकार दिया था :

"दूसरा प्रश्न आर्थिक हालत की दुरुस्ती का है-सो वाज्या होवे कि हर एक जीव शारीरिक कैद में अपनी-अपनी आर्थिक हालत में लगा हुआ ही रहता है। इसमें कोई ज्यादा गौर की जरूरत नहीं है। स्वभाववश हो करके मानुष

---

१. "ये सभी उद्धरण नित का जीवन, नित की शान्ति नित का स्वराज केवल समता ही है" नामक प्रसंग से लिये गये हैं जिसका रचनाकाल था, जुलाई १९४७। स्थान एकान्तवास, मटन। देखिये समताविलास, पृ० २७३।

२. दिसम्बर १९४० में आपने ऐसा मत प्रकट किया था। नवम्बर १९४७ में भी आपने यह बात कही थी। स्थान : काहनूवान।

को ऐसा जरूरी करना पड़ता है। गौर इस बात की करनी चाहिये कि अधिक तरक्की किस हद तक होनी चाहिये ? और उस आर्थिक उन्नति में मानुष का क्या फ़र्ज होना चाहिये जिससे वह आर्थिक उन्नति को प्राप्त करके महत विषयाचारी ही न बन जाये। सो इसके मुतल्लिक गौर करने का न किसी बुद्धिमान को मौका मिला है और न ही कोई जरूरत समझते हैं। आम लोग तो महज़ आर्थिक तरक्की करके अपने-आपको विषयाचारी बनाने के यत्न में लगे हुये हैं। जो थोड़े ही समय में तमाम उन्नति को नाश के स्वरूप में देखेंगे। यह प्रकृति का खेल है। खास निर्णय यह है कि अध्यात्मवाद के सहित आर्थिक तरक्की कल्याणकारी है। इस वास्ते इन सब हालतों का विचार करके सही आर्थिक उन्नति करना जिससे अध्यात्मवाद परम पवित्रता का निश्चय बना रहे (कल्याण के देने वाला यत्न है।) सही आर्थिक उन्नति असली कल्याण के देने वाली है और समता के अनुकूल है।"

सही आर्थिक उन्नति से अभिप्राय उस उन्नति से है जोकि मनुष्य में मोह उत्पन्न न करे, उसके विवेक को न छीन सके और उसमें मौत को याद बनाये रक्खे । जो उन्नति उसके अन्तर्मुखी होने में बाधा डाले, जो नित्यानित्य के विवेक का नाश कर दे, जो अच्छा-बुरा, धर्म-अधर्म की तमीज खत्म कर दे, और इन्सान को अपनी चमक से भुलावे में डाल दे वह दुःखदायी है और व्यक्ति और समाज दोनों का नाश करने वाली है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के पास केवल गुजारा मात्र हो ताकि उसे यह विचार बना रहे कि वह नित्य का मुसाफिर है । इससे अधिक उन्नति उसमें मोह उत्पन्न कर देगी और वह अपने-आपको और अपनी धन-सम्पत्ति बचाने के चक्कर में दूसरों के नाश के साधन सोचने लगेगा। यह बात जितनी व्यक्तिगत जीवन पर लागू होती है, उतनी ही सामाजिक जीवन पर भी लागू होती है। इस सम्बन्ध में गुरुदेव के वचन विचारणीय है :

"...जितना भी यत्न सत्स्वरूप आत्मा के निश्चय बगैर, यानी हैं

महज अभिमानवश होकर शरीर की अन्दरूनी या बैरुनी रक्षा का अधिक से अधिक किया जावे और नाना प्रकार के शारीरिक भोगद्रव्य प्राप्त, करके भोगे जायें, और बैरुनी, (बाह्य) रक्षा के भी कई किस्म के ऐसे सामान बनाये जायें, जिनसे सब मुतीह हो जायें, या सबका नाश हो जाय और एक अपना ही शरीर कान्तिमय बना रहे यहाँ तक अगर रक्षा का प्रबन्ध कर भी लेवें, तो भी समय पर इतने सामान होते हुये भी शरीर नाश को प्राप्त हो जाता है और जीव को अत्यन्त पश्चाताप होता है। ऐसी संसार की यात्रा का विचार करना जिज्ञासु का परम धर्म है।

"मर्यादा के बगैर जितनी भी शारीरिक रक्षा की जाय, उतना ही शरीर नाश को प्राप्त हो जाता है। ऐसे ही एक शरीर, या अनेक शरीर, समाजिक बल या राजबल में जितनी सत्ता[१] को छोड़कर महज लोभ और मान में गिरफ्तार होकर रक्षा का प्रबन्ध किया जावे उतना ही वह अनीति अनुकूल यत्न जल्दी नाश के करने वाला होता है। इस वास्ते सत् नियम अनुकूल यत्न शारीरिक उन्नति, समाजिक उन्नति और देश की उन्नति के वास्ते चिरकाल तक कल्याणकारी है। गो समय पर जाकर यह भी उन्नति अपना-अपना स्वरूप तब्दील कर देती है, क्योंकि ईश्वर की माया का यह नियम है। केवल सत्स्वरूप एक आत्मा ही है-यह निश्चय होना चाहिये।"[२]

आधुनिक युग की दो मुख्य विचारधारायें-पूंजीवाद और मार्क्सवाद का आधार भौतिक प्रकृति की खोज है। दोनों विचारधारायें विज्ञान की उपज हैं। भौतिक प्रकृति की खोज ने आश्चर्यमय आविष्कारों को जन्म दिया है। जिनके फलस्वरूप मनुष्य को अपार भोग्य-पदार्थों की प्राप्ति हुई है। इसी कारण उसकी भोग-पिपासा में वृद्धि हुई है। इस तरह ये दोनों विचारधारायें मनुष्य की भोगमयी वृत्तियों का पोषण कर रही हैं। दोनों का उद्देश्य अन्ततः

---

१. आत्म-सत्ता २. श्री समताविलास १० २७८

भोगपरायण समाज का निर्माण है; अन्तर केवल वितरण प्रणाली का है। दोनों उद्योगीकरण को अन्धाधुन्ध बढ़ावा दे रही हैं और मनुष्य को भोगव्यसनी बनाकर उसकी पाश्विक प्रवृत्तियों का शोषण कर रही हैं। भारत के तत्कालीन शासक भी विज्ञान और टेक्नॉलोजी की चमक से चौन्धिया गये थे। वे भी विशालरूप में उद्योगीकरण की योजनायें बना रहे थे। दिसम्बर १९५२ में गुरुदेव ने 'विश्व- शान्ति सन्देश'[१] प्रसंग लिखा। उसकी एक प्रति तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद को भी शिष्यों ने भेज दी। उस प्रसंग में आपने चेतावनी दी थी :

मादा परस्ती यानी इन्द्रियों के भोगों में अधिक आसक्ति ही परम नाश के देने वाली है। जिस वक्त आम मानुष ऐसे भोगमयी जीवन अन्धे हो जाते हैं, उस वक्त अपने अन्तर में बढ़ती हुई तृष्णा की अग्नि अधिक उपद्रव की तरफ रागिब करती है यानी दूसरे के नाश के यत्न को धारण करती है। तब साथ ही अपनी भी नाश हो जाती है। यह भयानक भ्रष्टाचार का नतीजा है। "[२]

"ऐसे भोगवाद, प्राकृतवाद और नास्तिकवाद के नतीजे को समझ करके अपनी गलत तहकीकात[३] से बाहोश होकर के जीवन-शक्ति की तहकीकात में यत्न करना चाहिये, जिससे अन्तर में सत्शान्ति प्राप्त हो और बाहर भी सत्शान्ति अनुभव होवे। इस मादा-परस्ती और भोगवाद जीवन को धारण करके जो चौबीस घण्टे अन्तर तृष्णा की अग्नि जलाती रहती है और अधिक बेक़रार करती है, ऐसी बेचैनी में ग़रक हुये मनुष्य जो बाहर अमन का ढिंढोरा पीटते हैं, वे खुद धोखे में हैं और दूसरों को भी धोखा दे रहे हैं। यानी अमन का सरूप अपने तईं तो अनुभव ही नहीं है,

---

१. उन दिनों सभी देशों के नेता 'विश्वशान्ति" के सम्बन्ध में चिन्तत थे। अमेरिका और रूस में शीत युद्ध चल रहा था।

२. समताविलास पृ० ३३१

३. अर्थात्- प्रकृति की खोज

फिर दूसरों के वास्ते अमन का कौन सा रास्ता हो सकता है ? इस वास्ते हर एक मनुष्य का प्रथम धर्म यह है कि अपने अन्तर की बेचैनी को दूर करे और निर्भय शान्ति को प्राप्त होवे। तब दूसरों के वास्ते उसका जीवन और वचन कल्याणकारी है।[१]

"मादा-परस्ती से कभी जरूरतों की अधिकता कम नहीं होती बल्कि दिन-ब-दिन बढ़ती जाती है और तमाम मानुषों में शत्रुपन का भाव प्रकट करती है, और नित ही खेद के देने वाली है। इस वास्ते इस खेदयुक्त नामुकम्मल जीवन के निश्चय को त्याग करके जीवनशक्ति जो सत् का स्वरूप है उसके परायण होना और अपनी जरूरतों को बिल्कुल कम करने की कोशिश करना ही परम कल्याण और परम पवित्रता के देने वाला यत्न है। चूंकि यह जीवन-निर्णय का प्रसंग अति गुह्य है और इसका वर्णन करते-करते कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं, इस वास्ते थोड़ा सा विचार तमाम गुणी पुरुषों की भेंट किया जाता है जिससे वे इस बढ़ते हुए मादा-परस्ती, खुदपरस्ती और भोगपरस्ती के सैलाब को रोकने की कोशिश करें-अपने-अपने पवित्र आचरण और सतग्रही निश्चय से। अगर यह सैलाब रोका न गया तो इसका नतीजा एक निहायत विनाश की शक्ल अख्तियार कर लेगा, और इस मादीयत (भौतिकवाद) के चमकदमक के जमाने को एक तारीकी की सही शक्ल में तबदील कर देगा- क्योंकि मादापरस्ती का नतीजा अक्सर ऐसा ही होता है। सब गुणी पुरुषों को जीवन की सही तहक़ीक़ात में कोशिश करनी चाहिये जिससे निर्मल त्याग, परहित, निर्भयपन, अखण्ड शान्ति निर्वास पद प्राप्त होवे, जो इस जीवन का असली मिशन है।[२]

परिणाम वही हुआ जिसकी पहले से ही आशंका थी। राजेन्द्र बाबू की ओर

---

१. वहीं, पृ० ३३१-३२

२. समताविलास, पृ० ३३३-३४

से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। सत्पुरुषों की बात, जैसा कि गुरुदेव कहा करते थे, उनके जीवनकाल में कोई नहीं सुनता। बटवारे के पूर्व वे गाँव-गाँव एकता और प्रेम का उपदेश देते रहे लेकिन किसी ने उनकी बात न सुनी। स्वतन्त्रता प्राप्ति से कुछ दिन पहले ही उन्होंने सही स्वराज्य का स्वरूप प्रकट किया, लेकिन वह सन्देश किसी नेता ने न सुना। महात्मा गांधी शायद उस सन्देश से सहमत होते परन्तु उनसे वार्तालाप का अवसर न मिल सका। इस प्रकार देखने में तो ऐसा ही लगेगा कि उनके उपदेश व्यर्थ गये। स्वयं गुरुदेव भी यही कहते थे कि इन विचारों को सुनने वाला अब कोई नहीं रहा। एक बार तो देश की दशा की बात करते-करते उनकी आंखें भी गीली हो गई थीं। तो भी यह कहना गलत होगा कि उनको कोई खेद था। एक बार उन्होंने एक प्रेमी से यहां तक कह दिया था, "संसार में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं, मानुष को इनमें उलझकर समय नष्ट नहीं करना चाहिये। उसे अपने कल्याण की बात सोचनी चाहिये।"

जहां देश की दुर्दशा हो रही वो वहां संगत की स्थिति भी कोई अच्छी न थी। अक्सर प्रेमी मनमुख हो रहे थे। अधिकतर प्रेमियों ने तो उपदेशों का सही मनन भी नहीं किया था उन पर चलने की बात तो दूर रही। जो समझते थे वे भी सिर का सौदा करने को तैयार न थे। और तो और, स्वयं भगतजी भी आये दिन छुट्टी मांगते रहते थे। गुरुदेव की कद्र किसी ने न की थी। एक दिन खिन्न होकर उन्होंने कहा था, "आने वाले सालों में अगर यह शरीर रहा तो शिष्यों की कड़ी परीक्षा होगी। ये ऐसे ही मीठी-मोठी बातें नहीं करते- बड़े कड़े और सख्त हैं।

"कितने समय के पाबन्द आप लोगों के लिये ये हैं। सुबह से कीली की तरह एक आसन पर गड़कर बैठे रहते हैं ये हर एक बशर (मनुष्य) को अपने से उच्च समझते हैं। आप लोगों का भला करने के लिये ये अपने बाल

---

१. देखिये परिशिष्ट (१)

भी नुचवाने को तैयार हैं। किसी पर आज तक नाराज़ नहीं हुये। फिर भी फ़ायदा न उठाओ तो किसकी गलती ?

"जब तक इनका नश्वर शरीर में वास है तब तक कुछ परवा नहीं है। इनका शरीर छूटने के बाद जब तुम (पन्ने) उलट उलट कर इनकी वाणी और विचार देखोगे तो रोओगे और पछताओगे कि हमने क्या किया ?

"इनकी तो बस यह ही सेवा है कि तुम अपना जीवन निर्मल बनाओ और कुछ सत् नाम की कमाई कमा लो अपनी तपिश बुझाओ और अपने आप को ठण्डा कर लो ये तुम सब लोगों को जीव-स्वरूप समझते हैं और सहजभाव यह चाहते हैं कि आप लोग इस तपिश से छुटकारा पा जाओ।

"अपनी गाढ़ी कमाई को कोई नालियों में थोड़े ही डालता है ? बनो कुछ तो सही ! श्रद्धावान ही बनो । इस समय सब प्राणी महासंशय को प्राप्त हो रहे हैं। वे कभी भी शान्ति प्राप्त न कर सकेंगे। होश करो और कुछ अपने- आप को सम्भालो !"

इस चेतावनी में गुरुदेव के व्यक्तित्व के अनेक विरोधाभास उभर कर आते हैं। एक ओर तो शिष्यों के लिये वे "अपने बाल भी नुचवाने को तैयार हैं" और दूसरी ओर वे उनकी कड़ी परीक्षा लेने की बात कर रहे हैं। एक ओर वे शिष्यों को अपने से ऊंचा समझते हैं, और दूसरी ओर उनकी मनमुखी हालत की चेतावनी दे रहे हैं। शिष्यों के लिये दिन-रात प्रयत्न कर रहे हैं लेकिन उन्हें अपने अथक प्रयत्न की चिन्ता नहीं है-चिन्ता है तो केवल इस बात की कि वे अपना संकट दूर कर लें।

गुरुदेव के व्यक्तित्व के अनेक रूप थे। कभी वे सेवक के रूप में व्यवहार करते थे, कभी विचारक के रूप में। कभी वे उदासीन हो जाते थे, और कभी

वत्सलस्वरूप । कभी उनमें विचारक मुखरित हो उठता था और कभी प्रेमी। और अधिकतर उनकी स्थिति इन सब झमेलों से अलग होकर अन्तर्मुख रहती थी। तब वे समाधि में प्रवेश कर जाते थे।

जब वे सेवक के रूप में व्यवहार करते थे तो वे अत्यन्त विनम्र हो जाते थे और अत्यन्त दीनता से पेश आते। वे एक बार एक प्रेमी, श्री देवराज गुप्त उठकर जाने लगे, तो आप कहने लगे, "प्रेमी, बैठो न ! क्या इनकी बातें अच्छी नहीं लगीं ?"

प्रेमी को एक आवश्यक काम था। उनका उत्तर सुनकर बोले, "अच्छा प्रेमी, काम पूरा कर लो। लेकिन आना जरूर शिष्य बनकर नहीं तो गुरु बनकर ही आ जाया करो !"

प्रेमी ने देखा कि गुरुदेव की आँखें गीली थीं । गुरुदेव अक्सर प्रेमियों को मिन्नतें तक किया करते थे एक ही प्यास थी कि वे अपनी प्यास बुझा लें। कहा भी तो था उन्होंने, "प्रेमी ये भी मजबूर हैं। ये किसी पर एहसान नहीं कर रहे। इन्हें सब के कल्याण के लिये सब कुछ मजबूरन करना पड़ता है।"

कभी उनका दूसरा ही रूप प्रकट हो जाता था। एक बार हँसकर कहने लगे, "संसारी लोगों की भी क्या हालत है ? दिन-रात उधेड़बुन में लगे रहते हैं। कभी तोले की सोचते हैं, कभी माशे की। इधर अव्वल तो कोई संकल्प उठता ही नहीं और यदि उठ जाय तो इन्होंने एकदम उसे पूरा कर देना है। तब कोई शक्ति इन्हें रोक न पायेगी।"

शिष्य : यदि आप इस समय जगाधरी जाने का संकल्प कर बैठें और रास्ते में यमुना में बाढ़ आई हुई हो तो ?

गुरुदेव : तो यह यमुना में पैर डाल देंगे।

शिष्य : फिर ?

गुरुदेव प्रेमी, यह शरीर नष्ट हो जायेगा। तब ये सही समझेंगे कि प्रेमियों से जो इनका सम्बन्ध था, समाप्त हो गया। प्रेमी, अन्तर से ये किसी के भी नहीं हैं !

ऐसे समय में गुरुदेव केवल द्रष्टामात्र होते थे। दुनिया की घटती-बढ़ती से अलग। देश-सुधार की इच्छा उनमें थी, लेकिन साथ ही प्रेमी ओमकपूर से उन्होंने एक बार यह भी कहा था, "यह दुनिया रज-तम-आत्मिक है और आदिकाल से इसी तरह चली आई है। इसका सुधार कभी नहीं हो पाया।"

जब गुरुदेव में निहित विचारक मुखरित हो जाता था तब एक ही निर्णय उनका होता था कि प्रकृति की कोई भी वस्तु और कोई भी स्थिति जीव को तसल्ली नहीं दे सकती। जो आज उसका सुख है, वही कल उसका दुःख होगा। जीव जब तक अपने जीवत्व का होम नहीं कर देता, तब तक न तो उसका दुःख मिट सकता है, न उसका पाप। उसकी हर सोच, हर कर्म और हर आशा पापमय है - वह स्वयं पाप का स्वरूप है।

अक्सर ऐसा विचार करते समय उनमें परम वैराग्य के भाव प्रकट होने लगते थे। वे मौन हो जाते थे। खुली आँखें होते हुए भी वे किसी वस्तु पर दृष्टि न डालते थे प्रौढ़ चेहरे पर वृद्धावस्था की झुर्रियां उभर आती थीं लगता था जैसे उनकी आयु में पच्चीस वर्ष और आ जुड़े हों। एक गहरा विषाद दिखाई पड़ता था वहाँ।

यह वैराग्यभाव समाधि में बदल जाता था। तब समस्त भावभंगिमायें लीन

हो जाती थीं। न वहाँ सुधारक रहता था, न प्रेमी, न विचारक और न गुरु सत्पुरुष ऐसी अवस्था को गुणातीत अवस्था कहते हैं। यही उनका वास्तविक स्वरूप होता है उनकी आशायें और निराशायें, वैराग्य और अनुराग, और प्रेम मन-वाणी के व्यापार होते हैं-उनकी प्रारब्ध-लीला होती है। उन विचार उपाधियों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। वे तब क्या होते हैं-वही जानें ! वाणी में कहा है :

सार जुगत में लीन समाया, मन पवन इक कीना |
गगन गुफा में किंगरी बाजी, परम पुरख घर चीना ॥
सुरती अन्तर गगन समाई, सुने शब्द धुन्न राग।
जीवत मिरतक दिशा पछानी, पाया पूरण भाग ||
तीन भवन में भँवर गुजारी, गुरमुख साझी पाई।
जनम मरण का ताना टूटा, आयो प्रभ सरनाई ॥
मन भया मतवाला घर में, सुध बुध बिसराई।
पूरण भाग पाया सत नाओं, निज घर आन समाई ||
अगमपुर देश अनुपन जोती, शबद मेघला गाजे'|
'मंगत' गुरमुख साजन कोई, जो सच खण्ड माँहा विराजे ॥

अध्याय - १८

सम्मेलन - १९५३

१६ अक्तूबर, १९५३ - दोपहर ढलने जा रही है। साढ़े तीन बज रहे होंगे। जगाधरी स्टेशन से कोई चार मील दूर छछरौली रोड पर एक ताँगा चल रहा है। ज्यों ही ताँगा जगाधरी रोड पर पहुँचता है खेतों और पेड़ों के पार तीन कमरे दिखलाई पड़ते हैं- एक-दूसरे से कुछ दूरी पर और विभिन्न स्थलों पर छछरौली रोड तंग है-एक ही वाहन उस पर चल सकता है। सड़क के दोनों ओर खेत हैं-कहीं-कहीं पेड़ भी हैं। दाईं ओर दृष्टि दौड़ाओ तो सीधी हिमालय की ऊंची दीवार से टकराती है-जो इस समय धुंधली आकृति लिये हुये है । सड़क पर कोई चहल-पहल नहीं है। तांगे के पहिये और घोड़े की टाप की आवाज के सिवाय और कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ती। कभी-कभी मौन इतना गहरा हो जाता है कि कानों के पद पर उसकी अनुभूति होने लगती है। सड़क के पास जब कभी कोई पेड़ आ जाता है तो पक्षियों की कूज भी सुनाई पड़ जाती है।

खेतों को रबी की बोआई के लिये जोत दिया गया है। इसलिये हरियाली का कहीं दर्शन नहीं होता । कहीं-कहीं गन्ने की फसल अवश्य खड़ी है और आम के पेड़ भी हैं। पेड़ों का संगीत भी मौन है। कार्तिक की ढलती बेला एक कोमल पीलापन लिये है कोई एक मील दूर घना जंगल शुरू होता है जो कि हिमाचल प्रदेश तक फैला हुआ है। जंगल में शेर और चीतों का वास है और सुना है कि

उनकी आवाज किसी-किसी सुबह आश्रम में भी सुनाई देती है।

ज्यों ही तांगा दादूपुर की सड़क के पास पहुँचता है आश्रम का गेट आ जाता है जो कि चूने से पुता हुआ है। आश्रम में प्रवेश करते ही दाईं ओर एक कुआँ दिखाई देता है; बाईं ओर खेती है, जो अभी काटी नहीं गई। कोई सौ गज पर रसोई का गेट है। बाहर आश्रम के खेत है जिनमें कुछ दूरी पर प्रेमियों के रहने के लिये टेण्ट लगे हैं। टेण्टों से आगे एक पण्डाल है।

रसोई के अहाते में प्रवेश करने पर भगतजी दिखाई देते हैं-साथ में अन्य प्रेमी हैं। प्रेमी लद्धाराम का बलिष्ठ शरीर इस समय भी बर्तन मांजने में व्यस्त है। ज्यों ही नये लोग प्रवेश करते हैं सब के चेहरों पर प्रसन्नता के भाव उभर आते हैं। दौड़-दौड़कर सब एक-दूसरे से मिलते हैं। प्रेमीजन आने वालों का सामान सिर पर उठा लेते हैं और टेण्टों में ले जाते हैं। नये आने वाले प्रेमियों को कोई सामान नहीं उठाने देता। प्रत्येक संगत के टेण्ट अलग-अलग निश्चित है।

आश्रम की सीमा पर लोहे के तार लगे हैं। जो मौन आश्रम में है वह सड़क पर भी है,[१] खेतों में भी है। वह मौन निखरे आकाश में भी है और धुंधले हिमालय में भी। तीसरे पहर को सुखद् धूप में वातावरण और भी निखर उठा है। इस समय प्रेमी लोग आश्रम के अन्तरंग भाग में प्रवेश कर रहे हैं। आश्रम का यह अन्तरंग भाग ईंटों की दो फुट ऊँची दीवार से आश्रम के खेतों से अलग कर दिया गया है। हर कोई गेट से इस भाग में प्रवेश करता है- दीवार फांदने की यहाँ आज्ञा नहीं। अन्तरंग भाग में सब ओर फलदार पौधे हैं-अभी कोई दो फुट तक ही ऊंचे हो पाये हैं। आश्रम की दूसरी ओर, सीमा से सटी हुई,

---

१. आज समस्त वातावरण बदल गया है। छछरौली रोड अब चौड़ी कर दी गई है। दोनों तरफ पेड़ हैं। अनेक फैक्ट्रियां बन गई है। रात दिन ट्रैफिक का जोर रहता है।

गुरुदेव की कुटिया है। अधिक चहल-पहल है यहां। फिर भी शोर-शराबे का नाम नहीं। जूते बाहर उतार कर कुटिया में प्रवेश करना होता है। एक प्रेमी हाथ धुला रहे हैं।

कुटिया एक साधारण-सा कमरा है-पुराने तरीके से बना हुआ। खिड़कियों में सलाखें लगी हैं। छत में लकड़ी के बाले हैं। दो अलमारियां है। दो ही दरवाजे हैं।[१] दायें दरवाजे के सामने गुरुदेव बैठे है। जाग्रतावस्था में है इस समय आने वाले प्रेमियों को देखकर मुस्करा रहे हैं। प्रेमीजन फलों की भेंट रखकर प्रणाम करते हैं और एक अर्धगोलाकार बनाकर बैठ जाते हैं। गुरुदेव सबसे एक-एक करके कुशल मंगल पूछते है।

ताजेवाला छोड़े तीन वर्ष और सात मास बीत चुके हैं। चेहरा अब भी कुछ पीला है-कहीं-कहीं सुर्खी के दर्शन भी हो जाते हैं। आंखें आज प्रेम बरसा रही हैं। उदासीनता की स्वाभाविक भंगिमा को इस प्रेमाकृति ने ढक दिया है तो भी वह बीच-बीच में झांकने लगती है। शरीर अभी पचास का ही हुआ है, फिर भी झुर्रियां उभर आई है। लेकिन है वह वैसा ही कोमल और कान्तिमय। अंग- अंग में चमक रही है यह पुरानी कान्ति !

क्या कारण है इस वात्सल्य भाव का ? कौन सी बात है जो कि चट्टान से भी अधिक निर्वैयिक्तिक व्यक्ति को प्रेम करने पर मजबूर कर रही है ? पन्द्रह वर्ष से अधिक हो गये हैं उन्हें घूमते-गाँव-गाँव, नगर-नगर ! धूप-छांव, आन्धी-तूफ़ान, जंगल बस्ती कभी उनकी राह में रुकावट न बन सके। प्रकट रूप में इस बलिदान का क्या असर हुआ है ? बटवारे के पहले एकता और प्रेम का उपदेश देते रहे- आचार से भी और प्रवचन से भी। लेकिन उनकी आँखों के सामने

---

१. यह बदकिस्मती की बात है कि कुटिया की मुरम्मत कराते समय उसका रूप ही बदल दिया गया। उसके आकार को फैलाकर एक हाल बना दिया गया है।

ही खून की होली खेली गई। अनेक प्रेमी भी उस आग में होम हो गये। उस संकट में गुरुदेव ने घोर एकान्त में फिर तपस्या की और देश के कल्याण के लिये सद्विचार को प्रकट किया। लेकिन पुराने देशभक्त राजसत्ता के मद में देश का अमंगल करने लगे। कोई सुनने सोचने वाला न रहा । चतुराई, छल, कपट और विलासता का बोलबाला होने लगा। जहां देश की हालत बिगड़ती जा रही थी, वहाँ संगत की स्थिति भी अच्छी न थी। सामाजिक वातावरण का प्रभाव संगत पर भी पड़ रहा था।

ऐसा कटु अनुभव होने पर भी सत्पुरुष प्रेम की गंगा बहा रहे थे। चार बजे सत्संग का समारम्भ हुआ। इधर वाणी पाठ होने लगा और उधर सत्पुरुष सधाम में विचरने लगे । श्रोता आँखें बन्द करके वाणी का श्रवण करने लगे । वाणी सुनते-सुनते लेखक ने देखा कि उसका मन स्वतः ही एकाग्र होने लगा है। श्वास का चलना भी धीमा पड़ने लगा था। वाणी की आवाज के साथ मन जैसे एक रूप होने लगा था।

वाणीपाठ की समाप्ति पर गुरुदेव ने आँखें खोलीं। बहुत ही धीमा आवाज में बोलना शुरू किया। तत्पर होकर सब सुनने लगे। आवाज धीरे-धीरे ऊँची होने लगी। जीव की दुःखमयी स्थिति की चर्चा कर रहे थे महाराज । सुनते- सुनते मन में वैराग्य के भाव उठने लगे। आँखों से आँसू बहने लगे। साथ में लेखक ने यह भी महसूस किया कि उसका मन शान्त होता जा रहा है। उसके अपने जीवन की घटती-बढ़ती एक दूर की चीज लगने लगी- हालांकि उसकी दुनियावी स्थिति काफ़ी खराब और चिन्ताजनक थी। एक लम्बे अर्से के बाद आज उसने अपने आपको मन की उधेड़-बुन से आजाद पाया। कोई बीस मिनट बाद प्रवचन समाप्त हो गया।

सामने सड़क पर यमुनानगर जाती हुई बस का शोर सुनाई दिया। बस का शोर भी सुखदाई हो सकता है - यह पहली बार ही जाना। एक हल्की-सी सिहरन

शरीर में दौड़ गई। जब वैराग्य वाणी का पाठ आरम्भ हुआ तब भी वह सिरहन जारी रही-बल्कि पहले से तेज हो गई। रोम खड़े होने लगे। शरीर में ठण्डक महसूस होने लगी। आँसू बहते रहे। वाणी का पाठ जारी था-

काया रूप है हाण्डिया, विषय भोग का भात |
आठ पहर जलती रहे, अगिन तृष्णा साथ ॥
जैसे खाल लुहार की, फूंके बिना प्रान।
करनी बिन मानुष जो, विचरे पशु समान ॥
हीरा नाम विसारिया, कांच के सम्पे ढेर।
अन्तकाल यह अन्धमति, फिरे चौरासी फेर ॥
आसा जीवन की करे, देखे काल सरूप।
अमरत इच्छया मन करे, बीजे बिख का कूप ॥

वाणी का पाठ धीमी गति से हो रहा था। प्रत्येक पद के बाद आवाज़ बन्द हो जाती थी। उस विरामकाल में शां३ शां३ की आवाज सुनाई पड़ती थी-वैसी ही आवाज जैसी कि गहरी तंग घाटी में सुनाई देती है। उस समय मन की हालत को अर्धचेतना ही कहना पड़ेगा। वहां शरीर की संवेदना तो थी लेकिन मन के संकल्प बहुत ही कमजोर पड़ गये थे। वे उठते ही लीन हो जाते थे सारा तन सुख-संवेदनाओं का समूह मात्र महसूस हो रहा था।

वाणी का पाठ समाप्त हुआ। आरती हुई, प्रसाद बँटा। कोई पौने छः बजने को थे। धूप बहुत हलकी पड़ गई थी। शस्यहीन खेतों पर सोना बरसने लगा। धुंधले हिमालय की आकृति कुछ स्पष्ट होने लगी- पश्चिम से पूर्व की ओर फैली चली गई थी उसकी श्रृंखलाएँ। गुरुदेव पण्डाल छोड़कर चल दिये। उनके जाते ही बातचीत होने लगी। प्रेमी लोग बाहर घूमने निकल पड़े। अनेक टोलियां इधर-उधर फैल गई। दादूपुर की सुनसान सड़क पर खूब चहल-पहल होने लगी। बातचीत होने लगी। कैसा प्रेम का वातावरण था वह ! कहीं कोई

खींचा-तानी न थी। बाद में सम्मेलन भी होते रहे, भीड़ भी इकट्ठी होती रही; लेकिन वैसा प्रेमभाव फिर नजर न आया। लगता था जैसे आस-पास के मौन वातावरण की शान्ति प्रेमियों के अन्दर जा बसी हो। भीड़ में भी एकान्त का अनुभव हो रहा था।

धीरे-धीरे सन्ध्या हो गई। सूरज का प्रकाश चोटियों पर चमकने लगा । जब प्रेमी वापस लौटे तो अँधेरा हो चुका था। आश्रम में लालटेनें जल उठी थीं। सेवादार प्रेमी काम में जुटे थे। रात के भोजन की तैयारी हो रही थी। तो भी अनेक प्रेमी समय निकाल कर कुटिया की ओर खिंचे जा रहे थे कमरे और बरामदे में संगत बैठी थी। कुछ लोग नीचे जूतों में ही बैठे थे। सब तल्लीन होकर प्रश्नोत्तर सुन रहे थे।

रात्रि के भोजन की घण्टी बजी। प्रेमी लोग रसोई के बाहर पण्डाल में आ इकट्ठे हुये । पंक्ति पर पंक्ति बैठती गई । बाँटने वालों का उत्साह देखते ही बनता था-थकावट का कहीं नाम न था। शोर में भी शान्ति थी । सेवाकार्य अन्तर की शान्ति में कहीं बाधा न डाल रहा था। अनेक प्रेमी गवाही देंगे कि सेवा करते हुए उनके नाम का प्रवाह लगातार चलता रहा। यह प्रवाह घर में एकान्त में भी सम्भव न हो पाता था ।

लगातार प्रेमी आते जा रहे थे। कई लोग टेण्टों मे जाकर एक-दूसरे का परिचय प्राप्त कर रहे थे। दस बजे सोने का समय था। सुबह तीन बजे नींद खुल गई। उठते ही प्राण और मन स्वतः एक होकर चलने लगे। प्राण की गति कल की तरह धीमी थी— संकल्पों का बहाव भी मन्द था। घर पर इनका बखेड़ा छोड़ता ही न था। यहाँ पता ही न चला कि कब सवेरा हो गया ।

टेण्ट से बाहर निकलकर देखा । देवलोक का-सा वातावरण था वहाँ। पहाड़ों के पीछे से सूरज की किरणें ऊपर आकाश की ओर उठ रहीं थीं । पर्वतों

के बीच एक गर्त में से एक किरण-राशि नीचे धरती को ओर उतरती दिखाई दे रही थी। स्वयं सूर्यदेव अभी पर्वतों के पीछे थे लेकिन अरूण ने उनके आगमन की सूचना पहले ही दे दी थी। पक्षियों की डारें उड़ रही थीं। कुयें पर रहट चल रहा था। पले हुए सफेद बैल उस रहट को चला रहे थे। सब लोग स्नान करने लगे। तभी सूर्यदेव ऊपर उठे धरती और आकाश को ज्योतिदान देते हुए आश्रम चमक उठा।

उधर रात्रि के तप के बाद गुरुदेव आश्रम की ओर आते दिखाई दिये। वहीं तेज चाल थी उनकी। प्रेमी लोग दौड़-दौड़ कर प्रणाम करने लगे। अनेक तो पृथ्वी पर ही लेट गये। लेकिन गुरुदेव अपनी स्वाभाविक गति से आश्रम की ओर बढ़ते चले गये। न तो उन्होंने किसी को ओर देखा और न ही वे मुस्कराये। चेहरे पर गहरा ठहराव था— देखने वाला एक बार तो आतंकित हो उठता था। न तो वहीं उदासी का भाव था, न प्रसन्नता का न वहां कोमलता थी, न कठोरता। न वहाँ वैराग्य था और न प्रेम। शव के चेहरे पर मौत की गति- हीनता होती है, लेकिन वह भी वहां न थी। लगता था कि इस चेहरे में वास करने वाला जीव गायब हो चुका है और उसका स्थान ले लिया है उस सत्ता ने जो जीती भी है और मरी हुई भी है। उगते हुये सूर्य को आमा निस्संदेह उस मुखमण्डल के आगे फीकी पड़ गई थी। यह बात कवि-कल्पना नहीं, ठोस सत्य है ऐसा कौन था वहां जो उस मुखमण्डल को देखकर सूरज की ओर देखने की भी कोशिश करता ?

गुरुदेव का स्नान बहुत मुख्तसर-सा होता था। कपड़े पहनकर आप सीधे कुटिया की ओर बढ़े। कुटिया में भीड़ लगी थी। आपके आसन ग्रहण करते ही सब ने प्रणाम किया। गुरुदेव की आँखें स्वतः ही बन्द होने लगीं। रह-रहकर आप समाधि में प्रवेश कर रहे थे। प्रबन्धक लोग कुछ बात करना चाहते थे, लेकिन गुरुदेव की योगनिद्रा ज्यों की त्यों चल रही थी। आश्रम प्रबन्ध के सम्बन्ध में नियम लिखे जा चुके थे। वे आज संगत को स्वीकृति के लिये पेश

किये जाने थे। बाबू अमोलकरामजी को आज्ञा दी गई थी कि जमीन-जायदाद को व्यापारिक रूप न दिया जाय और न ही रुपया-पैसा जमा किया जाय। साथ में उन्हें यह भी आदेश दिया गया था कि आश्रमप्रबन्ध से जल्दी अलग होकर अपनी साधना पूरी करें।

एक प्रेमी ने आश्रम प्रबन्ध सम्बन्धी नियम[१] पढ़कर और गुरुदेव की भाव- भंगिमा देखकर निष्कर्ष निकाला कि गुरुदेव संगत को छोड़कर कहीं जा छिपेंगे।

---

१. एक ट्रस्ट बनाने की योजना थी। साथ में सुझाव दिया गया था कि कुछ समय बाद एक निर्वाचित समिति का भी गठन किया जाय। समिति का नाम सेंट्रल प्रबन्धक मण्डल हो । मण्डल का काम ट्रस्टियों को आवश्यक निर्देश देना था और उनके काम पर दृष्टि रखना था। मण्डल के कार्यकर्ताओं के अभिवादन 'प्रधान', 'सेक्रेटरी' आदि न रखकर 'अतिमुख सेवादार' आदि रखे गये ताकि उनमें सेवा और विनम्रता के भाव बने रहें। उनकी आपेक्षित योग्यतायें इस प्रकार थी :

(१) अतिमुख सेवादार सर्वसमर्पण भाव रखने वाला ।

(२) मुख सेवादार समर्पणभाव रखने वाला ।

(३) भावुक सेवादार - भावना सहित सेवा करने वाला ।

साथ में ये आदेश भी दिये गये-

१. चूंकि परमार्थ मार्ग में सेवादारों का ही प्रबन्धक होना कल्याणकारी होता है इसलिये ऊपर के नामों के अनुसार ही प्रधान या सेक्रेटरी के नाम होने चाहियें।

२. अक्सर परमार्थ में प्रधानता की खातिर बड़ी-बड़ी धड़ेबजियाँ हो जाया करती है, इसलिये 'प्रधान' शब्द का त्याग करके 'सेवादार' का शब्द निश्चित कर लेना चाहिये ।

३. अतिमुख-सेवादार भाव वाला प्रेमी न मिले तो मुख-सेवादार के भाव रखने वाले को ही मुखी (प्रमुख) नियुक्त कर देना चाहिये। अगर मुख सेवादार की भावना रखने वाला भी न मिले तो भावुक सेवादार को ही मुखी कायम कर लेना चाहिये।

४. यदि बिना रजिस्टर किये संगत का काम चल सके तो चलाते जायें नहीं तो संगत को रजिस्टर्ड करा लें।

५ सत्यवादी त्यागी, पर उरकारी तथा मुकम्मल पाँच उसूलों के सहित सेवादारों का स्वरूप तमाम संगत और तमाम संसार के वास्ते जीवन रूप है। ऐसा निश्चय होना चाहिए। उस दिन संगत ने इन नियमों को स्वीकार कर लिया।

एक दूसरे प्रेमी ने कहा, "प्रेमी लोगों से वे अप्रसन्न हैं। एक दिन कह रहे थे, 'इनका जी चाहता है कि यह सारी वाणी पानी में बहा दें।"

उन दिनों एक भारी उदासीनता उनके चेहरे पर छाई रहती थी। वैसे तो यह हालत शुरू से ही चली आ रही थी, लेकिन अब वह उदासीनता और भी गहरी हो गई थी। अक्सर उनकी आँखें नीचे की ओर झुकी रहती थीं। फिर भी कोई न कह सकता था कि वे दुःखी हैं। लगता था जैसे वे अपने ज़ाहिरी भावों से अलग हैं।

उस दिन शाम को सत्संग में धर्म का स्वरूप समझाया। अन्त में आप ने कहा-

"प्रेमियों ये मेल-मिलाप कभी-कभी ही जीवन में होते हैं। जो खड़ा है उसने गिरना जरूर है। आज जो समय तुमको मिल रहा है शायद फिर न मिल सके। अन्त की घड़ी सदा नजदीक आती समझें। आज जो देख रहे हो, सुन रहे हो-फिर जीवन में ऐसा समय मिलना हो सकता है या नहीं— [कौन जाने?] शरीर सब के आखिरकार बदल कर रहते हैं। बड़े उच्च भागों में जीवन में सत्संग मिला करता है। हर घड़ी अपने कल्याण के वास्ते सोचो, समझो। जब तक खुद कुछ नहीं करोगे तब तक कुछ उन्नति होने वाली नहीं। जब तक किसी उसूल को धारण नहीं किया जाता, तब तक दर्शन से कोई लाभ नहीं

ऐसी ही चेतावनी गर्मियों में गुरुदेव दे चुके थे। तब आपने कहा था :

"प्रेमी, शरीरों का कोई भरोसा नहीं। आज खड़े हैं, कल बदल जायें। सामग्री इकट्ठी हो चुकी है धूनी तुमने लगा दी है। आहिस्ता-आहिस्ता धधकती रहेगी। इस पर मरने वाले परवाने आप

ही एकत्र होते रहेंगे। इनके पास जो सम्पत्ति थी, हवाले कर दी गई हैं जो भी लिखा है उसमें एक हो जाओ। " एक दिन और भी कहा था।

"बनारसी, इनके शरीर की हालत तुम्हें मालूम ही है जुदाई हर समय खड़ी है। जो भी प्रभु आज्ञा से सिद्धान्त लिखा गया है उसे ही अपना गुरु समझें। जब भी एकान्त में बैठकर याद करोगे, रोना पड़ेगा। शरीर छोड़ने से पहले अपना कल्याण आप करो। नहीं तो इस जन्म-मरण के चक्कर में पड़े रहोगे रास्ता लम्बा हो जायेगा।"

संयोगवश उस दिन जो वाणी सत्संग में पढ़ी गई, उसमें भी शिष्यों को चेतावनी दी गई।

गुरु तो मिलना कठिन है, पर शिष होना कठिन अपार।
तन मन वारे गुरु चरण में, पहले होये दातार॥
पहले दाता सिख भया, पीछे भया गुरुदेव।
गुप्त भेद परगट कियो, देख के साची सेव॥
सत धाम दिखलावता, मारग बड़ा उध्यान।
सीस देके शिष चले, रख गुरु बचन ध्यान॥
गुरु के बचन में जीवत मरे, तब पावे सच सार।
दर्शन करे निज निज रूप के, मिटे तृखा संसार॥

दूसरे दिन यज्ञ था। बड़ी-बड़ी देगों में खाना तैयार हो रहा था। पानी के लिये केवल एक ही हैण्डपम्प था। उसी से हजारों आदमियों की जरूरत के लिये पानी निकाला जा रहा था। एक-एक प्रेमी घण्टों हैण्डपम्प चलाता रहता। रात भर लंगर तैयार होता रहा। रसोई में प्रेमी लद्धाराम और अन्य प्रेमी आटा मल रहे थे। मशीन की तरह काम कर रहे थे वे। साथ में लद्धाराम गुरु-

चरणों में आने की कहानी भी कहते आ रहे थे।

"गुरुदेव तब दिल्ली में ठहरे थे। एक दिन प्रेमी लद्धाराम जा धमके कुटिया में। चौड़ा, तगड़ा शरीर-जिसे लगातार कसरत ने फ़ौलादी बना दिया था। ऊपर से पठानी सलवार कमीज और तुर्रेदार पगड़ी का ठाठ था। आंखों के काजल ने तो किसी कसर के लिये कोई गुंजाइश ही न छोड़ी थी। फकीर की आजमायिश लेने के लिये इससे बढ़कर और क्या रूप हो सकता था ? सोचा था कि यह भी कोई पाखण्डी फ़क़ीर होगा और उसका पर्दाफाश करने के मौके से चूक जाने की लद्धाराम की इच्छा न थी। लेकिन लद्धाराम अभी बैठ भी न पाये थे कि डांट पड़ गई, "आगे-आगे क्यों हो रहे हो ? पीछे होकर बैठो ! "

उस सख्त शरीर को ऐसी आवभगत की आदत न थी। कटकर रह गये, लेकिन इतना कह पाये, "जब दूसरे यहां बैठ सकते हैं, तो मुझे नहीं बैठने देते ?"

एक ही उत्तर मिला- "चल पीछे होकर बैठ !"

दूसरे दिन लद्धाराम कुछ चीनी ले आये। उन दिनों चीनी का राशन चल रहा था। सोचा, महात्मा लालच में आ जायेगा। आकर प्रणाम करने ही जा रहे थे कि महाराज बोल उठे, "तू फिर चला आया ?"

उत्तर दिया, "महाराजजी, आप मुझे क्यों दुत्कारते हैं। मैं तो सेवा के लिये हाजिर हुआ हूँ। आप के लंगर में दिन भर चाय दूध बनता रहता है। इसलिए चीनी लाया हूँ।"

"तेरे जैसे आदमी की चीज फ़क़ीर नहीं ले सकते।"

"महाराज, मुझ में क्या बुराई है?"

"अपनी करनी याद कर छोटी कमाई फ़क़ीरों को खिलाता है ?"

प्रेमी की जुबान पर ताले लग गये। चुपचाप बैठे रहे। फिर न जाने क्या सोचकर कहने लगे, "सुना है, आपने एक किताब लिखी है। मुझे भी यह किताब दीजिए।"

"क्या करेगा लेकर ? किस काम आयेगी तेरे वह किताब ? उठ यहाँ से- फ़क़ीरों का समय नष्ट न कर !"

इतनी कहानी सुनाकर प्रेमी रुक गये। आटा मांडते हुए हाथ भी ठहर गये। वहम उनके चेहरे की मुस्कान और भी खिल उठी। कहने लगे, "मैं सोचने लगा यह महात्मा तो क़ाबू में ही नहीं आता ! वापस जाते हुए यही सोचता रहा कि इस महात्मा को कैसे फांसूं ! मैंने भी उसका फ़क़ीरी नकाब हटाने की ठान ली। दूसरे दिन जेब में दो सौ-सौ के नोट डाले। सोचा, अब देखता हूँ महात्मा कैसे इन्कार करता है ! लेकिन ज्यों ही उसने 'हाँ' की और नोट मैंने अपनी जेब में डाले !"

दरबार में पहुँचकर बड़ी आज़जी से प्रणाम किया। नोट सामने रखकर स्वीकार करने की प्रार्थना की। बहुत मिन्नत-समाजत की, लेकिन एक न चली। जब बहुत अनुनय-विनय करने लगे तो गुरुदेव ने उन्हें बाहर निकल जाने को कह दिया। प्रेमी चुपचाप कुटिया से बाहर निकल आये और चबूतरे पर जा बैठे। यह झमेला उनकी समझ में न आ रहा था। काफ़ी समय तक वहीं बैठे रहे। तब एक प्रेमी ने गुरुदेव से शिकायत की, "महाराजजी, वह तुर्रे वाला आदमी अब भी बाहर बैठा है।"

कहने लगे, "इसे धक्के देकर बाहर निकाल दो। पता नहीं कौन है यह ? कोई सी० आई० डी० का ही आदमी न हो !"

छः-छः आदमियों को एक साथ चित्त करने वाला आदमी ऐसे व्यवहार को सहन न कर सकता था। लेकिन आगे की घटना प्रेमी गम्भीर होकर यों सुनाने लगे, "इन वचनों को सुनकर मेरा दिल बैठ-सा गया। देह काँपने लगी और मैं पसीने-पसीने हो गया। बड़ी मुश्किल से साइकिल उठाई और घर की राह ली। रास्ते भर सिर चकराता रहा और दिल धड़कता रहा। लगा कि अब गिरा, कि अब गिरा! उस रात मुझे रामलीला में हनुमान का पार्ट अदा करना था, लेकिन वहां भी न जा सका। रामलीला के साथी बड़े परेशान हो रहे थे, लेकिन मैं लाचार था। चारपाई पर छटपटाता रहा। घर वाली घबरा गई। कहने लगी, फकीरों से न उलझा करो। यहाँ कौन है हमारा ! मैंने उसे चुप होने को कहा। सारी रात आँखों में कटी। घरवाली को भी मैंने कमरे से जाने को कहा। डर था कहीं प्राण ही न निकल जायें। जब पौ फटने को हुई तो हाथ जोड़कर कहा, 'मेरे मालिक, आगे से ऐसी बेअदबी न होगी ! अब की बार माफी बख्श दें।' प्रार्थना करते-करते आँख लग गई। सुबह हुई तो तबीयत ठीक ही थी। लेकिन फिर महाराजजी के दर्शन करने न गया। साल भर मैं उस रास्ते की तरफ भी जाने की जुर्रत न कर सका। उस तरफ के इलाक़े पर नजर पड़ते ही घबराहट होने लगती थी।"

इस घटना को कहते-कहते प्रेमी अत्यन्त गम्भीर हो चुके थे। सुनने वाले भी अनजाने में आटा मलना भूल बैठे थे। सभी तल्लीन होकर सुन रहे थे। बाहर ईश्वर-महिमा का गायन हो रहा था। माताएँ चपातियाँ पका रही थीं। हलुआ बनने की भी महक आ रही थी। कुछ प्रेमी मला हुआ आटा बाहर देने गये। लेकिन लद्धाराम से आगे की घटना उनके लौट आने तक न कहने को कह गये। उनके लौट आने पर लद्धाराम कहने लगे, "सम्मेलन आने पर प्रेमी लखमीचंद ने मुझे साथ चलने को कहा। लेकिन मैं तो महाराजजी की याद से

ही घबरा जाता था, दर्शन का तो सवाल ही न उठता था। मैंने प्रेमी से लाचारी जाहिर की और साथ ही आप भी कह सुनाई। सुनकर प्रेमी बोले, 'साफ़ मन से चलोगे तो कुछ न होगा।' मैंने प्रेमी की बात मान ली और साथ चल दिया। रास्ते भर घबराता रहा। एक ही सहारा था मैं किसी बदनीयत से नहीं जा रहा था। सोचा, महाराज अन्तर्यामी है-ठुकरायेंगे नहीं ।"

आश्रम में पहुँचकर प्रेमी ने चौखट पर सिजदा किया। देखते ही महाराज बोले, "तू यहाँ भी आ पहुँचा !" लेकिन आज वे मुस्करा रहे थे। प्रेमी बोले, "भिखारी बनकर आया हूँ। दास पर कृपा करें।" गुरुदेव का चेहरा देखकर मन को कुछ तसल्ली हुई। आज्ञा हुई, "जाकर संगत की सेवा करो।"

आश्रम के बाग़ में तब ट्यूबवेल के लिये कुआँ खोदा जा रहा था। प्रेमी ने प्रण कर लिया कि जब तक महाराजजी खुद नहीं रोकेंगे मैं रूकूंगा नहीं । कुदाली लेकर मिट्टी खोदने लगे घण्टों कुदाली चलती रही देह पसीने से गीली हो गई। हाथों से खून निकलने लगा। रह-रहकर हाथों पर मिट्टी लगा लेते और कुदाली चलाते रहे। आखिर आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा । अन्य प्रेमियों ने बहुत कहा कि काम छोड़कर खा-पी लें, लेकिन प्रेमी लद्धाराम पर तो जैसे कोई धुन सवार हो गई थी। जब तक मालिक का दिल न पिघले तब तक सब व्यर्थ था। आखिर सिर में चक्कर आने लगा, आश्रम घूमता-सा दिखाई देने लगा। तभी आवाज आई, "प्रेमी, महाराजजी ने आज्ञा दी है कि काम बन्द करके लंगर ग्रहण करो।"

प्रेमी बोले, "क्या महाराजजी ने खुद कहा है ?"

प्रेमी अमोलकराम बोले, "हां, प्रेमी उन्हीं की ऐसी आज्ञा है ।"

लद्धाराम के आँसू आ गये । आखिर मालिक की नज़र-ए-मेहर हो ही गई।

अपनी कहानी कहकर लद्धाराम कहने लगे, "एक बार महाराजजी ने फर्माया, 'तू इधर यों हो नहीं आया। डण्डे के जोर से तुझे यहाँ लाया गया था।"

प्रेमी की कहानी सुनकर सभी श्रोता द्रवित हो गये। चुपचाप आटा मलते रहे और रसोई के बाहर पहुँचाते रहे । रात भर में कई बोरी आटा मला जा चुका था। बाहर हल्की-हल्की ठण्ड पड़ रही थी। ईश्वरमहिमा का पाठ निरन्तर हो रहा था। साथ में प्रसाद बन रहा था। सारी रात भर चहल-पहल होती रही। पौ फटने पर सारा का सारा भोज तैयार हो गया ।

सुबह सूर्योदय होने पर गुरुदेव रात्रि के तप के बाद आश्रम में पधारे। स्नान करके वे सीधे रसोई घर में आये और पकी हुई चीजों पर एक नजर दौड़ाई और पानी का छींटा दिया। उसके बाद प्रेमियों को आशीर्वाद देकर कुटिया में जा बैठे।

वही अनिर्वचनीय भाव चेहरे पर आज भी था, जो कि हर सुबह होता था । रह-रहकर समाधि लग जाती थी। आज अल्पाहार के बाद विशाल सत्संग होना था। कोई आठ बजे भगतजी दूध लेकर आ उपस्थित हुये। बीमारी के बाद चाय का स्थान दूध ने ले लिया था। कटोरी में डालकर भगतजी दूध देते जा रहे थे और गुरुदेव पीते जा रहे थे। उनके हाव-भाव से ऐसा लग रहा था जैसे कि वे एक अत्यन्त अप्रिय काम कर रहे हों। चेहरे पर अरुचि के भाव स्पष्ट दिखाई दे रहे थे।

दूधपान के बाद सत्संग के सम्बन्ध में बातचीत होने लगी। आज के दिन प्रेमी भी अपने विचार व्यक्त करने जा रहे थे। अन्य प्रेमियों के अलावा कुछ प्रेमी देवराज गुप्त को भी अपने विचार प्रकट करने की आज्ञा हुई । प्रेमी ने हाथ जोड़कर और कुछ हँसकर कहा, "महाराजजी, मैं भुगत चुका हूँ। अब वह गुस्ताखी नहीं कर सकता ।"

सुनते ही गुरुदेव की भावभंगिमा बदल गई। आंखों में प्रेम झलकने लगा। वत्सल-भाव में बोले, "लालजी, आज ये खुद कह रहे हैं। तुम अपने विचार जरूर प्रकट करो।"

गुरुदेव का वत्सल रूप देखकर प्रेमी ने 'हाँ' कर दी। एक वर्ष पहले इन्हीं प्रेमी ने जोर देकर समय लिया था। गुरुदेव ने तब कुछ अन्य प्रेमियों को तो बोलने के लिये कहा था, लेकिन प्रेमी देवराजजी की अवहेलना की थी। देवराजजी अभी नौजवान ही थे और अपनी योग्यता का सम्मान करते थे। बचपन से ही स्टेज से बोलने की आदत थी; वाणी पर अधिकार था। ऊपर से दर्शनशास्त्र के मेधावी विद्यार्थी थे। जिस महफ़िल में भी बैठते सहज में ही उसके केन्द्र बन जाते थे। उनकी दृष्टि में अन्य वक्ताओं की कोई गिनती न थी। स्वाभाविक ही था कि उनका धीरज टूट जाता। कह ही तो बैठे, "महाराजजी, मुझे भी बोलने का समय दिया जाय !"

गुरुदेव ने प्रबन्धकों से कहा, "हां, इन्हें भी दस मिनट दिये जायें।"

प्रेमी बोले, "महाराजजी दस मिनट में क्या होता है.?"

गुरुदेव ने बीस मिनट समय देने को कह दिया। बीस मिनट में तो प्रेमी का गला ही साफ़ होता था। असली राग तो बाद में शुरू होता था। लेकिन अधिक समय मांगने का मन न हुआ। संकोच में चुप रहे। सत्संग शुरू हुआ। प्रेमी संगत के सामने आये। संगत के अनेक प्रेमियों ने उन्हें गुरुदेव से बात-चीत करते सुना था। बहुत ही विवेकपूर्ण वार्तालाप करते थे। जब वे बोलते थे तो अन्य प्रेमी श्रोतामात्र बने रहने में सुख महसूस करते थे। गुरुदेव भी उनके प्रश्नों का उत्तर बहुत प्रेम से देते थे। इसी कारण वे संगत में लोकप्रिय थे। उस दिन जब वे बोलने को उठे तो बहुतों को आशा थी कि आज कानों में असली वाग्रस घोल दिया जायगा। लेकिन प्रेमी का अनुभव इससे ठीक उलटा था।

ज्यों ही उन्होंने बोलना शुरू किया, मस्तक से विचार गायब होने लगे। बहुत कोशिश की अपने को एकाग्रचित्त करने की, लेकिन सफल न हो सके। जवान सूखने लगी, गला रुक-सा गया। पानी पीकर फिर जोर मारा, लेकिन कोई बात न बनी। आखिर इतना कहकर बैठ गये, "मैं समझ नहीं पा रहा कि मेरे साथ क्या हो रहा है! मैं चुप हो जाने को मजबूर हूँ। यह अनहोनी बात है।"

उस दिन उनका मन बहुत कुण्ठित था, लेकिन गुरुदेव ने इस सम्बन्ध में उनसे कोई चर्चा न की थी। हाँ, अन्य विचार होते रहे और खूब प्रेम से होते रहे। आज जब गुरुदेव ने बोलने की आज्ञा दी थी तो प्रेमी को वह घटना याद आ गई थी। लेकिन आज वह अपनी योग्यता की धाक जमाने नहीं जा रहे थे- केवल गुरु आज्ञा का पालन करने जा रहे थे। गुरुचरणों का ध्यान किया और संगत के सामने आ उपस्थित हुये। अपना भाषण भी तैयार न किया। सोचा, जो दाता बुलायेगा वही बोलेंगे। जब बोलने लगे तो विचारों की एक बाढ़-सी आ गयी। प्रेमी अबोध होकर बोल रहे थे, और संगत मस्त होकर सुन रही थी। सत्संग में नारा लगाने की इजाजत नहीं होती, लेकिन अनजाने उस दिन दो-एक नारे भी लग गये। पच्चीस मिनट का समय जाने कब खत्म हो गया। संगत और समय के लिये पुकारने लगी लेकिन प्रेमी ने और समय लेने से इन्कार कर दिया। तब पास बैठे गुरुदेव ने उन्हें अपना भाषण जारी रखने की आज्ञा दी। प्रेमी बोल रहे थे, और उन के करणधार उनकी उक्तियों का मुस्कराते हुये अनुमोदन कर रहे थे।

भाषण की समाप्ति पर संगत 'वाह-वाह' कर उठी, लेकिन प्रेमी जानते थे कि उनके वाग्देवता कौन हैं। बड़ी ही आज़जी से मन में गुरुचरणों में नमस्कार किया और एक ओर बैठ गये। जो स्वयं सरस्वती के स्वामी थे वे तो सदा से ही साधारण भाषा में बोलते आये थे। न वहाँ व्याकरण की बारीकियों के लिये स्थान था और न वाक्पटुता के लिये। गुरुदेव के प्रवचन श्रोताओं को सोचने के लिये मजबूर करते थे। जहाँ मनुष्य को अपनी कहनी रहनी का लेखा-जोखा

करना होता है, यहाँ 'वाह वाह' के लिए कोई स्थान नहीं रहता। प्रेमी देख रहे थे कि उनके भाषण की प्रशंसा तो हो रही थी, लेकिन जो उन्होंने कहा था उस पर सोचने की कोई भी कोशिश न कर रहा था। प्रेमी ने गम्भीर विचार दिये थे। उन्होंने बताया था कि किस प्रकार का राजनीतिक और आर्थिक ढाँचा मनुष्य के लिये कल्याणकारी हो सकता है। लेकिन इस विषय पर किसी को सोचने का समय ही न था। इसलिये प्रेमी अपनी नजरों में केवल मनोरंजनकर्त्ता बन कर रह गये थे। बधाइयाँ उन्हें लज्जित कर रही थीं। बोलने वाला कोई और था और यश किसी और को मिल रहा था।

प्रेमी के भाषण के बाद गुरुदेव का प्रवचन आरम्भ हुआ। स्टेज के नाम पर एक तख्तपोश डाल दिया गया था। उस पर एक सफ़ेद खादी की चादर बिछा दी गई थी। गुरुदेव उस पर आसीन थे। आज बोलने से पहले गुरुदेव समाधिस्थ न थे। बड़े प्रेम से प्रेमी देवराज जी का भाषण सुन रहे थे। इसलिये जब प्रवचन आरम्भ हुआ तो आवाज में वह धीमापन न था जो कि उनके प्रवचनों के प्रारम्भ में हुआ करता था। प्रवचन शुरू होते ही एकदम खामोशी छा गई। सब की दृष्टि गुरुदेव पर टिकी थी। गुरुदेव की वाणी एक स्वर होकर प्रवाहित होने लगी। उनके हाथ उनकी गोद पर टिके थे। कमर सीधी थी। शरीर में ठहराव था। कभी-कभी हल्की-सी हरकत भी दिखाई पड़ती थी-नाम मात्र को कोई। चार हजार स्त्री-पुरुषों का जमाव था वहां लेकिन पण्डाल की शान्ति और खेतों की खामोशी में कोई अन्तर न था। सारा वातावरण लाऊडस्पीकर की आवाज से गूंज रहा था। दो-चार बार गुरुदेव की वाणी में तीव्रता भी आई-स्वर में उतार-चढ़ाव भी आये, लेकिन जनता की खामोशी न टूटी न ही किसी की दृष्टि इधर-उधर भटकी। जनता एकटक उन्हें देखती जा रही थी। कुछ चेहरों पर आंसू भी ढुखलक आये थे। वहां पड़े-पड़े सूखने लगे थे लेकिन पोंछने की याद ही श्रोताओं को न थी जो उपदेश उन्होंने उस दिन दिया उसका निर्जीव-सा सार इस प्रकार है :

"आप प्रेमियों का बड़ा धनवाद (धन्यवाद) है कि आप सब वक्त निकाल कर जीवन कल्याण की शिक्षा लेने के लिये एकत्र हुये हैं। कुछ विचार आपके चरणों में भेंट किये जाते हैं। ध्यान से श्रवण करें।

"शरीर रूपी संसार को धारण करके सब मानुष, पशु, पक्षी ब्रह्माण्ड में दौड़ रहे हैं और असली खुशी की खातिर यत्न-प्रयत्न कर रहे हैं। मगर खुशी इन्हें प्राप्त नहीं हो रही। बल्कि जीव ही खात्मा की तरफ जा रहे हैं। जिसने इस भेद को नहीं समझा वह मानुष नहीं है। जिस तसल्ली और निर्भयपन के लिये यह जीव पाँच तात्त्विक शरीर को धारण करके दौड़ लगा रहा है वह इसे इस तब्दीली युक्त संसार में प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसा समझना ही सत् विवेक है और मानुष जीवन का असली सार है। जिन सुखों के लिये उपद्रव करता है वे बदलने वाले हैं और शरीर भी बदलने वाला है। वे कैसे तसल्ली दे सकते हैं ?

जो देखन में आये साजन,
सो अगन वाँग तपताए।
अनक जतन करे दिन राती,
तो भी न तृप्ताए॥

"इसलिये परमेश्वर का निश्चय रखकर अपने भोगों की पूर्ति को छोड़कर पर की सेवा करो। नहीं तो यह शरीर अभिमान-वश होकर मानसिक विकारों के जेर-असर हो जायगा और भोगों की पूर्ति की खातिर ही यत्न- प्रयत्न करेगा, और इस तरह नाश को प्राप्त होगा।

"इस अशान्त हालत से बचने के लिये सत्पुरुषों ने एक नुक्ता समझाया कि इस शरीर के भोगों में मर्यादा धारण करते हुये तू होना और न होना प्रभु आज्ञा में देख, और दुःख-सुख प्रभु समर्पण कर। जिस तरह तू अपने

सुखों को चाहता है उस तरह तू दूसरों को सुख पहुँचाने वाला हो। इससे तेरे अन्दर ऐसी भावना पैदा होगी कि तू नातसल्ली हालत से निकल कर तसल्ली को पा सकेगा।

"इस वक्त झूठ की हद नहीं, छल-कपट की मर्यादा नहीं। ऐसे समय में मानुष गहरी नींद में सो रहे हैं। दरअसल आराम व बे-आरामी तेरे कर्त्तव्य में है। इसलिये तू श्रेष्ठ कर्त्तव्य को अपनाने वाला हो। खोटा कर्म करना ही नाश के देने वाला होता है। उससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही बिगड़ जाते हैं। इसलिये तू निजी जीवन को पवित्र करने का यतन (यत्न) कर सत्कर्म, शुद्ध आहार, शुद्ध व्यवहार धारण कर ताकि खोटी वासनाओं का अभाव हो जाय।

"यह शरीर तुझे इसलिये मिला है कि तू सही रास्ते पर चलकर अपनी यात्रा पूरी कर ले। इसलिये सत्वादी होकर इस सफ़र को पूरा करने का यत्न करो। बीच में इसे छोड़ देना कोई अक्लमन्दी नहीं।

"हे भागशाली पुरुषों ! अपने उच्च जीवन द्वारा अपने देश की कल्चर को जगाओ। फ़क़ीर लोगों ने तो प्रार्थना ही करनी है-अमल आप लोगों ने करना है। सोशल जीवन बनाने का यतन करो। गृहस्थी (गृहस्थ) के लिये यह ही एक बहुत बड़ी तपस्या है। उसके लिए सत्संग ही एक साधन है।

"इस बुद्धि को विवेकमयी बनाने के लिये शुद्ध विचारों को अन्तविखे जगह दो ताकि सदाचारी जीवन की बुनियादें पक्की हों और अन्दर से ममता का नाश हो और कल्याण का मार्ग नजर आने लगे। ईश्वर सब सज्जनों को सुमति देवे ताकि समाज, देश और उनके परिवार को असली शान्ति प्राप्त हो।"

सत्संग की समाप्ति पर प्रसाद बंटा। खाने-पीने के बाद सबने कुछ विश्राम किया। कार्तिक की संध्या जल्दी ही खेतों पर फैलने लगी। उन दिनों प्रेमी रविवार को आश्रम में ही रहते थे। सोमवार से ही उनका जाना शुरू होता था। आज शाम सबके पास काफ़ी खाली समय था। इसलिये बहुत से प्रेमी कुटिया के अन्दर-बाहर इकट्ठे हो गये। प्रत्येक संगत की इच्छा थी कि महाराजजी उनके नगर पधारें। लेकिन आप में कुछ उत्साह न था। हर एक संगत को 'न' में ही उत्तर मिलने लगा। कुछ एक ने सोचा शायद गुरुदेव प्रेमियों की मनमुखता के कारण नाराज हैं। लेकिन आपने कहा, "ये नाराज किसी पर नहीं विचरने का अब कोई प्रोग्राम नहीं है। इनका बेशुमार समय नष्ट हुआ है। अब ये एक तरफ़ बैठना चाहते हैं, किसी से मिलना-जुलना नहीं चाहते।"

एक प्रेमी[१] बोले, "महाराजजी, यदि क्षमा हो तो एक बात कहूँ ?" गुरुदेव ने उत्तर दिया, "कहो प्रेमी, क्या कहना चाहते हो ?"

प्रेमी बोलें, "एक भिखारी को किसी ने आधी रोटी देकर उठा दिया। भिखारी रोकर कहने लगा, 'आधी रोटी खिलाकर भगा रहे हो ! इससे तो न देते तो अच्छा था। तब भूख सो तो रही थी ! अब तो यह बेदर्द जाग गई है। अब मैं कहाँ जाऊँ ?' "

गुरुदेव चुप रहे। सिर झुकाकर केवल मुस्कराते रहे।

वह प्रेमी आज कुछ खिन्न थे। कहने लगे, "महाराजजी, आज लंगर में जरूरत से कुछ अधिक खा गया। भगतजी ने उड़द में कुछ चाय उंडेल दी थी। फिर भी मन लालच न छोड़ सका। जब खाने का यह हाल है, तो यह लम्बी यात्रा

---

१. श्री देवराज गुप्त

कैसे पूरी हो पायेगी ?"

गुरुदेव से ही आगे को झुके बैठे रहे। कोई उत्तर न दिया। हां, चेहरे पर अब मुस्कराहट न थी। वातावरण चुप हो गया था।

प्रेमी ने कुछ देर के बाद कहा, "महाराजजी, इस तरह तो कई जन्म लग जायेंगे ! "

उत्तर मिला, "हां प्रेमी, यह सफ़र लम्बा तो है ही ! "

प्रेमी : क्या गुरु इस लम्बाई को कम नहीं कर सकते ?

गुरुदेव : प्रेमी, अपनी कमाई ही पार लगाती है।

प्रेमी : महाराजजी, क्या गुरु में शिष्य को आत्मदर्शन कराने की शक्ति नहीं होती ?

गुरुदेव : प्रेमी, सच्चा गुरु सब कर सकता है। लेकिन कच्चा शिष्य उस अवस्था को संभाल नहीं सकता।

इतना कहकर गुरुदेव ने बुल्लेशाह की कहानी सुनाई। बुल्लेशाह खोजी व्यक्ति थे। सैय्यद होते हुये भी राई[१] जाति वाले इनायतशाह की चौखट में सिजदा करने चले गये। इनायतशाह पहुँचे हुये फ़कीर थे। जब बुल्लेशाह वहाँ पहुँचे तो इनायतशाह खेत में काम कर रहे थे। बुल्लेशाह ने बड़ी नम्रता और आज़जी से अपनी जिज्ञासा प्रकट की। विरही मन देखकर इनायतशाह ने नज़र-

---

१. सब्जी बोने और बेचने वालों को पंजाब में राई कहा जाता है। ये लोग मुसलमान होते हैं।

ए-इनायत कर दी। बुल्लेशाह को यहाँ तक कह दिया :

बुल्लेबा इस रब दा की पाना।
ऐथों पुटना ते ऐथे लाना॥[१]

गुरुकृपा से बुल्लेशाह मस्त हो गये लगा कि अब जो चाहिये था मिल गया। गुरु की चौखट में जाना भी बन्द कर दिया। अपनी नजरों में कामिल फ़क़ीर बन गये। लगे आडम्बर को फैलाने। उधर पूरी रहनी वाले इनायतशाह अपने शिष्य की बाट जोहने लगे, लेकिन शिष्य ने दर्शन न दिये। शिष्य का उद्धार करने वाले गुरु शिष्य के मन का दरवाजा खटखटाने खुद हाजिर हुये। बुल्लेशाह महफिल सजाकर बैठे थे। अपने सैय्यद लोगों की बज़्म में मुर्शिद के आगे सिजदा तक करना भूल गये। बैठे-बैठे ही उनकी तरफ़ हाथ बढ़ा दिया। इनायतशाह ने हाथ पकड़कर ज्यों ही छोड़ा, बुल्लेशाह की सारी मस्ती जाती रही। उधार ली हुई सम्पत्ति छिन गई। सदा के कंगाल को तब अपनी कंगाली का भान हुआ। सारी ऐंठ जाती रही। जब तक कुछ कहते, इनायतशाह जा चुके थे।

शर्मसारी में मुर्शिद के दरबार में जाने की हिम्मत न पड़ी। रात दिन मिन्नतें करते रहे, लेकिन पीर के घर से बेघर हुये बदनसीब को ख़ुदा के दरबार में भी कोई सुनाई न हुई। आखिर एक नाचने वाली की शरण ली। सैय्यद होकर भी उसकी खिदमत करते, हुक्का भरते और टहल-सेवा करते। उससे एक ही मांग की कि वह उन्हें मुजरा सिखाये और अपने स्थान पर एक दिन मुजरा करने दे।

---

१. बुल्लेशाह, ईश्वर के पाने में क्या मुश्किल है ? पौधे को एक जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह लगाने वाली बात है। वृत्ति को ख़ुदी से हटाकर बेख़ुदी में लगा दो। बस यही खुदा को पाना है।

उस इलाके का रिवाज था कि किसी खास मौके पर गांव में मुजरा होता था और लोग उसे देखने आते थे। बुल्लेशाह ने नाचने वालों के कपड़े पहने और घूंघट निकालकर मुजरा करने लगे। गुरु की निगाह से उनकी यह करनी छिपी न थी। वे भी मुजरे में गये और जोर से कहा, "क्यों, तू बुल्लाह तो नहीं है ?"

बुल्लेशाह एकदम चरणों पर गिर पड़े। कहने लगे, "मेरे मालिक, मैं बुल्ला नहीं - भुल्ला (भूला हुआ) हूँ।"

पीर को फिर नजर-ए-करम उन पर हुई। भटके हुये को रास्ता मिल गया।

यह कथा सुनाकर गुरुदेव कहने लगे, "प्रेमी, बिना अपनी कमाई के और कोई छुड़ाने वाला नहीं। अगर गुरु कृपा कर भी दे तो हाजमा कहाँ से लाओगे ?"

चट से प्रेमी बोल पड़े, "महाराजजी, जहाँ कृपा की जाय वहाँ हाजमे की गोली भी तो दी जा सकती है।"

गुरुदेव ने कोई उत्तर न दिया। केवल मुस्करा भर दिये।

प्रेमी ने फिर पूछा, "क्या पूरा गुरु शिष्य को आत्मज्ञान को जज़्ब करने की शक्ति नहीं दे सकता ?"

उत्तर मिला, "कर सकता है-अगर चाहे तो ! "

प्रेमी बोले, "महाराजजी, आप साफ़-साफ़ बताइये न। 'अगर' 'मगर' की शर्त क्यों ?"

प्रेमी पकी पकाई चाहते थे। लेकिन गुरुदेव चुप रहे। उनका मस्तक आगे की ओर झुका रहा। वे अत्यन्त गम्भीर हो गये। किसी को आगे कुछ कहने- सुनने की हिम्मत न हुई। सारी संगत पकी-पकाई चाहती थी-सिर का सौदा कोई न करना चाहता था। पकी पकाई चाहने वालों के मन की चालाकी को गुरुदेव खूब समझते थे। इसलिये ऐसे प्रश्नों के उत्तर देना भी उतना ही निरर्थक था जितना कि यह प्रश्न था ।

सब प्रेमी चुपचाप बैठे रहे। कुछ समय बाद स्वयं ही गुरुदेव एक और कहानी सुनाने लगे। जब श्रीकृष्ण का बहुत मान-सम्मान होने लगा तो उनके गुरु दुर्वासा को बहुत फ़िक्र होने लगी। एक दिन जा पहुँचे द्वारका नगरी। जब श्रीकृष्ण को समाचार मिला तो वे रानी रुक्मिणी के साथ सेवा में उपस्थित हुए। पूछने लगे, "बिना किसी सूचना के कैसे शुभागमन हुआ ?"

ऋषि ने उत्तर दिया, "राजन् ! द्वारका नगरी की बहुत ख्याति सुनी थी। उसे देखने के लिये ही आये हैं।"

श्रीकृष्ण ने रथ उपस्थित किया और उस पर बैठने की प्रार्थना की। दुर्वासा बोले, "हम संन्यासी हैं-अहिंसा हमारा धर्म है। हम घोड़ों को कष्ट पहुँचाना नहीं चाहते। लेकिन तुम हमारे शिष्य हो। यदि तुम और तुम्हारी रानी रथ खींचे तो कोई दोष नहीं होगा। शिष्य की सेवा स्वीकार करना गुरु का धर्म है।"

श्रीकृष्ण ने नमस्कार किया। घोड़ों को खोल दिया। एक तरफ़ वे और दूसरी ओर रानी रुक्मिणी रथ खींचने लगे । रथ में बैठे दुर्वासा उन पर कोड़ों की निर्दय मार बरसाने लगे। दोनों की पीठ लहूलुहान हो गई, लेकिन कोड़ों की मार में कमी न हुई। द्वारकावासी अपने प्रिय नायक की यह गति देख रहे थे। किसी की समझ में यह लीला न आ रही थी । आखिर जब सब गलियों

और मार्गों की यात्रा समाप्त हो गई तो श्रीकृष्ण ने रथ रोक दिया। दुर्वासा नीचे उतरे। श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर बड़े ही प्रेम से बोले, "गुरुदेव, कोई कष्ट तो नहीं हुआ? दास के लिए और क्या आज्ञा है ?"

दुर्वासा ऋषि ने एकदम श्रीकृष्ण को अपने अंक में भर लिया। गद्गद् वाणी में बोले, "आज तुम्हारी साधना पूरी हुई मेरे पास और कोई ज्ञान आपको देने के लिये नहीं है।"

कहानी सुनाकर गुरुदेव चुप हो गये। गुरुकृपा की दोहाई तो सब दे रहे थे, लेकिन उनमें से कितने थे जो इस कृपा का अर्थ समझ रहे थे ? श्रीकृष्ण पर कृपा तो कोड़ों की मार के रूप में हुई थी। प्रेमी उसे किस रूप में चाहते थे ? बिना दुःख सहे कौन गुरुकृपा के रूप को समझ सकता है ?

दूसरे दिन सुबह के नौ बजे प्रेमी लोग एक-एक, दो-दो करके कुटिया में आने लगे। जाने के लिये आज्ञा लेने वे आये थे। मगर मुंह से कोई भी आज्ञा न माँग रहा था। स्वयं गुरुदेव ही पूछ लेते थे, "क्या जाना है ?" अक्सर प्रेमी लोग केवल सिर हिलाकर 'हाँ' कर देते थे। तब वे कह देते "अच्छा, जाओ।" एक असाधारण गम्भीरता थी उनके चेहरे पर। विदा देते समय पहले वहाँ मुस्कान खिल उठती थी, आँखों में वात्सल्य भाव झलकने लगता था। लेकिन आज वह सब नहीं था। उनके चेहरे के हाव-भाव देखकर भय-सा लगता था। आज्ञा पाकर प्रेमी लोग प्रणाम करके कुटिया के बाहर जाते जा रहे थे-बिना कुछ कहे सुने। लगता, जैसे हर कोई सहमा हुआ है। कुटिया के बाहर आकर उसे कुछ आराम मिलता-चैन पड़ता। उस सुबह ऐसा लग रहा था कि सत्पुरुष अपने शिष्यों से बहुत दूर हो गये हैं, बहुत ऊँचे उठ गये हैं। उनसे कोई सम्बन्ध जोड़ पाना असम्भव था। हिमालय की चोटी से कोई रिश्ता नहीं जोड़ा जा सकता ! उस सुबह के मुखमण्डल को याद करके आज भी मन आतंकित हो उठता है। तब कौन जानता था कि वह झलक अन्तिम झलक थी ?

कोई सप्ताह भर में आश्रम लगभग खाली हो गया। केवल इने-गिने प्रेमी ही आश्रम में रह गये। गुरुदेव विचरना नहीं चाहते थे। फिर भी संगतों के लगातार आग्रहवश पहली नवम्बर से पंजाब में विचरने का कार्यक्रम बना । भगतजी कुछ दिनों के लिये अपनी बहन से मिलने सहारनपुर गये हुए थे। उनके आने पर ही यह यात्रा आरम्भ होनी थी। जब निश्चित दिन भगतजी न लौटे तो गुरुदेव ने एक बार फिर अमोलकरामजी को उन्हें लौटा ले आने की आज्ञा दी। कहने लगे, "देखो, मूरख फिर वहां बैठ गया है। गृहस्थ उसे चक्कर में डालकर खराब करेंगे। जाओ, उसे ले आओ।"

भगतजी जब लौटे तो गुरुदेव ने प्रेमी ओमकपूर को उन्हें समझाने को कहा। प्रेमी ने भगतजी से बात करके गुरुदेव से कहा, "महाराजजी, लगता है कि भगतजी आपके साथ रहते हुये भी आपका सही मानों में सत्संग नहीं कर सके। आपके ज्ञानरूप को उन्होंने नहीं पहचाना। न ही वह अपना जीवन नियमित कर सके हैं। आप उन्हें नियमपूर्वक रहने की आज्ञा दीजिये ।"

गुरुदेव ने कहा, "प्रेमी, बार-बार कहने का क्या फ़ायदा ? कई बार इसे कह चुके हैं कि अभ्यास नियमपूर्वक किया करो।"

प्रेमी के कहने पर गुरुदेव ने भगतजी की दिनचर्या निश्चित की। कुछ सप्ताह तो वह उसे निभा पाये, लेकिन फिर दिल छोड़ बैठे। कहने लगे, "यह सब मुझ से नहीं निभ पाता।"

सुनकर गुरुदेव बोले, "अच्छा प्रेमी, नहीं कर सकते तो तुम्हें जल्दी ही छुट्टी मिल जायेगी।"

गुरुदेव की यात्रा का अन्तिम चरण आरम्भ हो चुका था ।

अध्याय- १९

महासमाधि

दिल्ली, ४ फ़रवरी १९५४ : कल से लगातार पानी बरस रहा है। सड़क पानी में डूबी पड़ी हैं। शाम को समाचार मिलता है कि आज सुबह अमृतसर में गुरुदेव परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये और उनका पार्थिव शरीर जगाधरी आश्रम लाया जा रहा है।

जगाधरी के लिये गाड़ी रात साढ़े दस बजे चलती थी। बारिश रुकने का नाम न ले रही थी। रात भर पानी बरसता रहा, बादल गरजते रहे और बिजली चमकती रही। सुबह पौने चार बजे गाड़ी जगाधारी स्टेशन पर रुकी। तब तक बारिश का जोर कम पड़ गया था-मामूली बूंदाबांदी हो रही थी। आसमान में कहीं-कहीं तारे भी दिखाई देने लगे थे ।

पौ फटने से पहले ही आश्रम पहुँच गये। तब तक बारिश पूरी तरह थम चुकी थी। गेट पर एक प्रेमी लालटेन लेकर खड़े थे। लालटेन की रोशनी में सब प्रेमी कुटिया की ओर चल दिये। किसी के मुंह से एक भी शब्द न निकला । कुटिया में भी लालटेन जल रही थी। जहां गुरुदेव बैठा करते थे, वहीं शरीर को लिटा दिया गया था। एक आंख थोड़ी खुली रह गई थी। नीचे का होठ दाँतों से कुछ दवा था। सिर से पगड़ी हटा दी गई थी लेकिन मुंह से नीचे का

भाग सफेद चादर से ढका था।

हर कोई शरीर को एक टक देखे जा रहा था। कुछ देर तक तो कोई प्रतिकिया नहीं हुई- पूर्ण निस्तब्धता छाई रही। बाद में सिसकियाँ शुरू हो गई। चरणों के समीप भगतजी, महता मेहर सिंह, पण्डित रामजीदास और अन्य प्रेमी बैठे थे। रोने से उनकी आँखें सूज गई थीं। नवागन्तुक भी रोने लग गये। एक-एक करके सब ने चरणों में नमस्कार किया और एक ओर बैठ गये। लेकिन रोना ज्यों का त्यों बना रहा।

जब कुछ शान्ति हुई तो भगतजी से पूछा, "यह सब कैसे हो गया ?" किसी ने भी इस घटना की आशंका न की थी। जिस किसी ने भी कल शाम खबर सुनी थी वह स्तब्ध-सा रह गया था। कुछ समय तक तो विश्वास ही न हो रहा था। चेतावनियां मिलती रही थीं लेकिन किसी का उस ओर ध्यान ही न गया था। सम्मेलन में भी काफी इशारे किये थे लेकिन कोई समझ न सका था।

वास्तव में कई दिनों के अतिसार ने शरीर को बहुत कमजोर कर दिया था। ५० वर्ष का शरीर बहुत वृद्ध लगने लगा था। ३१ जनवरी को गुरुदेव अमृतसर पधारे थे। वहीं उनकी तबीयत अधिक खराब हो गई थी। ३ फ़रवरी की सुबह को तो चलने फिरने में भी कठिनाई महसूस होने लगी। सुबह कोई दस बजे आपने भगतजी को एक काढ़ा बनाने को कहा। भगतजी ने काढ़ा तैयार किया, लेकिन ज्यों ही उसमें दूध डाला वह फट गया। दूसरी बार जब तैयार किया तो घबराहट में चीनी की जगह नमक डाल बैठे। तीसरी बार जो काढ़ा तैयार किया तो वह अन्दर टिक न सका। आज भगतजी का भाग्य सो गया था; उनकी सेवा पूरी हो चुकी थी। कहने लगे, "बस अब और कुछ बनाने की जरूरत नहीं है।"

दिन भर तबीयत गिरी रही; दो-तीन बार दस्त भी आये। दोपहर तीन

और चार बजे के बीच आप अकेले ही कमरे में बैठे थे। प्रेमी लोग वरामदे में थे। अचानक कमरे से महाराजजी की आवाज आई। कमरे में जाकर देखा तो गुरुदेव को आसन पर बैठे पाया। वे धीमी आवाज में कह रहे थे, "उफ़, यह क्या हो गया है ?" इतने में चेहरे पर हरा, पीला, नीला आदि-अनेक रंग एक-एक करके एकदम प्रकट होकर लीन हो गये। थोड़ी देर बाद शरीर कांपने लगा। एक प्रेमी[१] ने इसका कारण सर्दी की अधिकता समझकर पास में पड़ी कमली ओढ़ने को कहा। गुरुदेव ने कमली उठाने के लिये हाथ बढ़ाया, लेकिन हाथ कमली तक पहुँच न सका। गुरुदेव मौन रहकर शरीर की यह हालत देखते रहे।

प्रेमी ने कमली ओढ़ा दी और आसन पर ही लिटा दिया। एक अन्य प्रेमी डाक्टर बुलाने दौड़े। डाक्टर के आने तक गुरुदेव चुप-चाप लेटे रहे। बीच-बीच में आंखें अवश्य खोल लेते थे, लेकिन बोलते न थे। डाक्टर ने आकर जांच की, पैरों पर चाभी घिसी हाथ से चुटकी काटी। लेकिन गुरुदेव ने न तो कोई प्रतिक्रिया की और न ही बोले हां, एक बार उनका हाथ इंजेक्शन देने को मना करने के लिए अवश्य ऊपर उठा था जब कि डाक्टर इंजेक्शन देने की बात कर रहे थे। यह स्थिति देखकर प्रेमियों ने डाक्टर को आपके खान-पान की स्थिति दी और साथ में दवाओं से हुई प्रतिक्रियाओं की हिस्ट्री भी बतला दी। डाक्टर ने इंजेक्शन देना ठीक न समझा। जाते समय इतना कह गये, "कमजोरी की अधिकता है। बीच में थोड़ी-थोड़ी चाय देते रहें। यदि सुबह तक सुधार न हो तो हस्पताल ले जायें।"

मगर गुरुदेव के शरीर की हालत का सही अन्दाजा न तो डाक्टर ही लगा पाये और न प्रेमीजन ही। आधी रात के बाद शरीर में रह-रह कर ऐंठन-सी प्रकट होने लगी। रात भर मुख से कोई शब्द न निकला और न 'हाँ' 'हूँ' ही। हाँ, आँखें अवश्य खुली थीं- कोई चार-एक बार; लेकिन थोड़ी ही देर के लिये।

---

१. प्रेमी खिदमतराय

अन्यथा आपको समाधि लगी रही। जो शान्ति समाधि की हालत में आपके चेहरे पर होती थी, वह इस समय भी बनी हुई थी शरीर की ऐंठन का उस पर कोई प्रभाव न पड़ रहा था। सुबह पौ फटने से पहले ही आप परिनिर्वाण को प्राप्त हो गये।

सभी संगतों को तार द्वारा सूचना दे दी गई। लगातार बारिश में एक स्टेशन पर शरीर को जगाधरी लाया गया। पांच फरवरी की सुबह को शिष्यों का आना प्रारम्भ हो गया। जो कोई भी आता अपने को सम्भाल न पाता। वैराग्यवाणी का लगातार पाठ हो रहा था। प्रेमी लोग आँसू बहाते जा रहे थे और वाणी का पाठ करते जा रहे थे।

प्रेमी मेहरसिंह बार-बार गुरुग्रन्थ साहिब को एक पंक्ति 'संत मरे क्या रोइये जो अपने घर जाये' को दोहरा रहे थे, लेकिन खुद अपने आँसुओं को न रोक पा रहे थे। गुरुदेव के वे शब्द सुनाने लगे जो उन्होंने केवल दो दिन पहले कहे थे :

"इनका मिशन पूरा हो चुका है। वाणी प्रगट हो चुकी है। जैसा कोई रोगी होगा अपने रोग का इलाज तलाश कर लेगा।"

यह स्वाभाविक ही था कि प्रेमी लोग गुरुदेव के अन्तिम दिनों के वचन सुनने की इच्छा करते। जो वचन उस दिन सुनने में आये वे इस प्रकार थे :

"कृष्ण जब देहत्याग करने लगे तो उद्धव ने रोकर कहा, 'महाराज, मेरे लिये क्या आज्ञा है?' कृष्ण ने उत्तर दिया, 'तुम पन्द्रह वर्ष मेरे साथ रहे लेकिन तत्त्वज्ञान को न समझ सके। जाकर बदरिकाश्रम में अपनी कमी पूरी करो मैं तुम्हारा कुछ नहीं कर सकता। "

"समता का प्लेटफार्म तैयार है जो इन्होंने अपने खून से सींचा है। प्रेमी भिक्षु रूप में सामने आयें और समता की रोशनी को फैलायें। इसमें

और जीवों का और उनका अपना कल्याण है।"

"इस संसार में ये पहरा देने आये थे। अब पहरा खत्म है।"

रोशनी होते-होते अनेक प्रेमी आश्रम में पहुँच चुके थे। कुटिया के अन्दर 'और बाहर भीड़ बढ़ती जा रही थी। लगातार तीन दिन तक बरसने के बाद बादल छंट चुके थे और उजली धूप निकल आई थी। लेखक कुटिया से बाहर निकल आया और बाग में टहलने लगा। टहलते-टहलते लेखक को वही शान्ति अपने अन्दर महसूस होने लगी जो कि पिछले सम्मेलन में हुई थी। कुटिया में से लाऊडस्पीकर से वाणीपाठ की आवाज आ रही थी :

छिन छिन औसर जात है, जैसे बहता नीर।
समाँ गया ना आयेगा, करो विचार मति धीर॥
जो आया तिस जावना, यह खरा खराना खेल।
रहना किसे न पावना, जी जुग चारे मेल॥
धरती गई नीर में, नीर को पावक खाये।
पवन गरासे पाचक, आकाश में पवन समाये॥
तत्तों में सब तत्त मिले, रूप रंग मिट जाये।
यह ही कला शरीर की, छिन छिन रूप बटाये॥
बालापन को जोबन खाये, गई जरा जोबन को खा।
काल जरा को खा गया, 'मंगत' जीव पछता॥

अन्तर की शांति लगातार बढ़ती जा रही थी। आंखें लोगों का रोना देख रही थीं लेकिन मन दुःख का भाव ग़ायब होता जा रहा था। दोपहर तक बाणी पाठ होता रहा और प्रेमीजन आते रहे। अमोलकरामजी और डाक्टर भगत रामजी भी दोपहर के बाद आ पहुँचे। दोनों बुजुर्ग आंसू बहा रहे थे। उनके आने पर शरीर को नहलाया गया। फिर शरीर को सफ़ेद वस्त्र पहनाये गये।

सिर पर सफ़ेद पगड़ी भी पहनाई गई। इसके बाद शरीर को कुटिया के बाहर दर्शनों के लिये रख दिया गया।

चेहरे पर कुछ पीलापन आ गया तब तक। महाराजजी की दो बहनें भी आई थीं—अन्य सम्बन्धी भी आये थे। बड़ी बहन ने तो उन्हें लगभग पाला ही था। गुरुदेव को देखकर लगातार रो रही थीं। अन्य सम्बन्धी भी उदास थे और गुरुदेव के प्रारम्भिक जीवन की घटनायें सुना रहे थे। बेला ढलने के पहले ही शरीर को चिता पर रख दिया गया। शहर में गुरुदेव की महासमाधि की खबर फैल चुकी थी। इस कारण आश्रम में भारी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। आश्रम की दीवार पर अनेक बच्चे खड़े होकर चिता का दर्शन कर रहे थे।

इस सारे दृश्य में लेखक की सुखद् शून्यता बनी रही। सब कुछ असत् सा लग रहा था। जब शरीर को लकड़ियों पर लिटाया गया तो लगा कि उसके वस्त्र अजीब प्रकार का उजालापन लिये हुये हैं। आँखें देख रही थीं कि चेहरा पीला पड़ गया है लेकिन फिर भी मौत का ध्यान न आ रहा था। जब चिता से ज्वालायें उठने लगीं तो वे भी न जाने कैसी लग रही थीं! उन्हें सुन्दर कहना काफ़ी न होगा। बार-बार अपने को जैसे याद दिलाना पड़ रहा था कि यह मौत का दृश्य है। लेखक तब अठारह वर्ष का था। न वह तब अपनी मानसिक स्थिति को समझा था और न ही आज समझ पा रहा है। अग्निदाह से पहले जो चेहरा देखा था वह अनेक दिनों तक याद आता रहा। आज तक उस मुखमण्डल को मौत से नहीं जोड़ पाया।

अग्निदाह के बाद आई हुई संगत को खाना खिलाया गया। लंगर जब समाप्त हुआ तो सूरज डूबने जा रहा था। सारा का सारा दृश्य असामान्य रूप में लाल हो उठा था। बर्फानी चोटियों पर तो जैसे केसर उग आया था। हिमालय का इतना विराट और उजला रूप पहले आश्रम से कभी न देखा था। उत्तर-पश्चिम से दूर पूर्व-दक्षिण की ओर फैली चोटियाँ नई बर्फ से लदी पड़ी थीं।

ऊपर आसमान भी लाल हो उठा था । चिता की लपटों को देखकर जो सुखद् शून्यता का अनुभव हुआ था वही अनुभव संध्या को उस लाल आभा को देखकर भी होने लगा। वह संध्या मन पर कभी न मिटने वाली छाप छोड़ गई ।

दूसरे दिन सुबह तक अग्नि शान्त हो गई। अस्थियों को इकट्ठा किया गया। रात निर्णय हुआ था कि अस्थियों को ठीक उसी जगह प्रवाहित कर दिया जाय जहाँ कि आज से चार वर्ष पूर्व गुरुदेव ने जलसमाधि लेने की बात कही थी। तीसरे दिन सुबह सवेरे ही हथिनीकुण्ड के लिए दस-बारह प्रेमियों की पैदल यात्रा शुरू हुई। छब्बीस मील का सफ़र था। ईश्वरमहिमा और बैराग्य वाणी का पाठ करते हुए प्रेमी रास्ता तय करने लगे। रास्ते में घने जंगल थे- दो दिन पहले की वर्षा से धुले हुये। गजब का मौन था उनमें। उजली धूप में वे चमक रहे थे। सूरज जब पश्चिम की ओर झुका तो यात्रा समाप्त हुई हथिनीकुण्ड बंगले और उसके आस-पास के वातावरण पर उसी रूप का निखार आज भी था जो कि चार वर्ष पहले था जबकि गुरुदेव कंकाल-प्राय शरीर लेकर यमुनातट पर आ बसे थे। अन्तर केवल इतना था कि नई वर्षा से वह रूप और भी उज्जवल हो उठा था। पर्वतों पर पड़ी नई बर्फ की कांति और भी अधिक प्रखर हो उठी थी। सामने आम का पेड़ आज भी अपनी वह छाया लुटा रहा था जिसकी भेंट वह प्रतिदिन गुरुदेव को किया करता था।

नीचे यमुना की धारा बह रही थी। प्रेमी लोग बँगले के नीचे उतरे। फिर उथली धारा के साथ-साथ चलने लगे जहाँ कि एक दिन गुरुदेव कोई घण्टे भर चक्कर लगाते रहे थे। तब उनके चाहने वालों के मन शंकित थे — डरे हुए थे । आज वह डर सदा के लिए जाता रहा था। आखिर वह स्थान भी आ पहुँचा जहाँ पानी गहरा था और जहाँ आपने जलसमाधि लेने की इच्छा प्रकट की थी। आज पानी का बहाव उस दिन से कहीं अधिक तेज था-ढलती धूप में कान्तिमय और नीला निखार लिये हुये । चार वर्ष पहले यमुना की इस वनस्थली को देखकर गुरुदेव मुग्ध हो गये थे। प्रेमियों के अनुनय-विनय करने पर शरीर -

त्याग तब स्थगित कर दिया था। आज उनकी अस्थियां अपने प्रिय और इष्ट स्थान पर फिर लौट आई थीं। अस्थियों को फिर स्वीकार करके यमुना मैया की भी वर्षो की प्रतीक्षा समाप्त हो गई।

अस्थियों का विसर्जन करके देर तक प्रेमी लोग यमुना की लहरों को देखते रहे। वैसी ही सन्ध्या आज भी वन पर्वतों पर उतरने जा रही थी जोकि वर्षों पहले उतरी थी। तब कृपानिधान इसी स्थान पर पानी की गहराई का जायजा ले रहे थे। सुबह-सवेरे शरीर को यमुना की भेंट करने की बात हो रही थी। उस दुःखद् घड़ी में संध्या का झुटपुटा उनके आँखों में बसे प्रेम को छिपा न सका था। आज वह प्रेमपुंज का अवशेष यमुना को भेंट हो चुका था। क्या इसकी श्यामलता उस अनुराग को अपने में समायें रखने की क्षमता रखती है ? क्या मौत उनमें और इस पार रहने वालों में वह अन्तर पैदा कर सकेगी जो कि वह अन्य सब सम्बन्धों में किया करती है ? यही प्रश्न आज सबके मन में उठ रहे थे।

उपसंहार

"मेरे परमेश्वर, मेरे गुरु तूने बहुत जल्दी की। मैं कसम खाकर कहता हूँ कि तूने मुझे कहीं का नहीं छोड़ा।

मैं जानता हूँ कि तेरा हमसे बेपनाह प्यार था। कि तू दयालु और कृपालु मैं जानता हूँ दोनों ही एक साथ था। कैसे भूल सकता हूँ पिछले वर्ष सम्मेलन को वह आखिरी सुबह जबकि मेरी अभागी आँखों ने तुझ से विदा ली थी ? तूने किस मुस्कराहट से, किस प्रेम से मेरे पापी सिर पर हाथ रखा था ! वह कौन-सा जादू था जो कि अब भी मुझे बांधे हुये है ?

फिर भी न जाने मेरे टूटे दिल को शिकायत क्यों है ? तुझ में शक्ति थी — ताक़त थी ! क्या तू मौत के हमले को कुछ देर तक रोक नहीं सकता था ? शायद तेरी बेरुखी की जिम्मेदारी हम लोगों पर ही है। हमने कब तेरी आज्ञा का पालन किया ! हमने तेरी रहबरी की परवा न की। जब काँरवा ने ही मीर-ए-कारवाँ का साथ न दिया तो वह रुख क्यों न फेर लेता! तेरी यह जुदाई मेरे लिये इतने अफ़सोस का मुक़ाम नहीं जितना कि शर्म का है !

"खैर, अब क्या हो सकता है ? जो होना था सो हो चुका। तेरा शरीर समाप्त हो चुका है लेकिन तेरी आत्मा जीवित है। वह अब भी हमें फ़िजाओं में

से देख रही है। वह अब भी मेरा ईमान है, मेरी उम्मीद है और मेरा सहारा है।

"मेरे मालिक, एक बार तूने ही अपनी जुबान-ए-मुबारक से मुझे आशा की झलक दी थी। उस समय मेरे शंकित मन में अनजान में ही तेरी मौत की चर्चा हुई। मैंने अर्ज किया 'क्या गुरु मौत के बाद भी मार्गदर्शन करता है ?" और उत्तर यों था 'यह तेरी श्रद्धा और प्रेम पर है। जो सच्चा गुरु होगा वह कई जन्मों तक अपने शिष्य का साथ देता है। यह अटल नियम है।' मुझे उम्मीद है कि अपने इस वचन को तू भुला न सकेगा।

"मेरे गुरु मुझे शक्ति दो ! प्रेम दो, जज्बा दो ! तुम स्वयं अमर हो, मुझे भी अमर बनाओ ! तुम खुद शहीद हो मुझे भी शहादत का दरस दो।"[१]

आशा-निराशा में उभरते डूबते ये उद्गार प्रतिनिध्यात्मक कहे जा सकते हैं। प्रेमियों की मानसिक स्थिति ऐसी ही थी। अस्थिविसर्जन के बाद आश्रम सुनसान हो गया। जो नाउम्मीद हो गये थे उन्होंने अपने आपको सांसारिक कार्यों में लगाया। कुछ एक संगत के कार्य में तल्लीन हो गये। आये दिन नयी से नयी योजनाएँ बनने लगीं। कुछ प्रेमी बाह्य नियमों को कड़ाई से लागू करने के लिये छटपटाने लगे। अन्य कुछ देश सुधार और समाजसुधार के स्वप्न देखने लगे। सुधारकवृत्ति तनाव पैदा करने लगी, मानवीय कमजोरियाँ अपना रंग दिखाने लगीं। कुछ परहेज़गार बन कर अपनी धाक जमाने लगे, कुछ उदार-चित्त होने का दावा करने लगे; कुछ बीती हुई को सोचकर उदास थे, कुछ भविष्य की सोचकर आशावान् थे। कुछ एक तो गुरू तक भी बन बैठे - पाखण्ड और आडम्बर फैलाकर दूसरों के कल्याण का दावा करने लगे।

---

१. यह उद्गार प्रेमी देवराज गुप्त के हैं। वह अन्त्येष्टि के समय उपस्थित न हो सके थे। उस समय देवराजजी नौजवान ही थे।

इस खींचातानी के बावजूद संगत की आस्था बनी रही। प्रेमभाव भी बना रहा। जिन्होंने संसार से मुंह मोड़ा और अपने अन्दर गुरु की आवाज सुनने की कोशिश की, वे निराश नहीं हुये। उन्होंने गुरुदेव को पहले से भी अधिक निकट पाया। यह बात उनके निजी अनुभव से सम्बन्ध रखती है। गुरु है कि साधनाकाल में हुई गुरुकृपा को अपने मन में ही समेटे रही इसलिये इन अनुभवों का वर्णन इन प्रेमियों के जीवनकाल में शायद ही सम्भव हो सके। इसी कारण यह जीवनचरित अधूरा ही रहेगा। लेकिन इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि गुरुदेव का पहरा आज भी वैसे ही चल रहा है। आपकीय उचित "ये पहरा देने आये थे अब पहरा ख़त्म है"-कम से कम उनके शिष्यों पर लागू नहीं होती- चराचर संसार के प्रति भले ही इसका कोई व्यावहारिक अर्थ रहा हो। गुरुदेव आज भी उनके प्रेमियों के ठौर है, उनकी आशा है और उनके परमेश्वर हैं।

गुरुवन्दना

मनसः ह्यूनोभावे गोचरं तमगोचरम् ।
जनियोगमजन्मानं वन्दे तं मङ्गतं गुरुम् ॥१॥

अकालपुरुषं मौनं शब्दं शिखरवासिनम् ।
हकारं च सकारं च तप्तजीवानुकम्पनात् ॥ २॥

जो मन द्वारा अमनीभाव को प्राप्त हो जाने पर गोचर होते हैं
ऐसे उस अगोचर को-
और जिन्होंने अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण किया
ऐसे उस गुरु मङ्गत को मैं नमस्कार करता हूँ॥ १ ॥

जो अकालपुरुष हैं
मौन हैं
शब्द हैं
और जिनका निवास (कपालरूप) शिखर पर है
फिर भी जिन्होंने तप्त जीव पर
अनुकम्पा कर के
हकार और सकार रूप में अवतार लिया ॥ २ ॥

स्व-पर-वस्तु-भीतानां नानाधर्मप्रवीक्षिणाम् ।
भोगचिन्ताविमूढानां संशयारूढचेतसाम् ॥३॥

लोकानां यो भयं हन्तुं समाधि सहजं जहौ ।
कल्याणमूर्तिमथेशानमद्वैतं परमं गुरुम् ॥४॥

अनुकम्प्य तु लोकेभ्यः सर्वदुःखप्रहाणये |
अदिक्षद् धर्मयोगौ यो वन्दे तं मङ्गत गुरुम् ॥५॥

अपने से डरे हुये
पराये से डरे हुये
सत्य से डरे हुये
नाना विषयों का नित्य ही पर्यवेक्षण करने वाले
और भोगों की चिन्ताओं से विमूढ़ हुये
और संशय ही जिन की बुद्धि का वाहन है-
ऐसे लोगों के भय को दूर करने के लिये
जिन्होंने सहजसमाधि का भी त्याग कर दिया
ऐसे कल्याणमूर्ति परमेश्वर
और अद्वैत रूप परम गुरु को (मैं नमस्कार करता हूँ) ॥३-४ ॥

जिन्होंने लोगों पर कृपा करके
और सब दुःखों का नाश करने के लिये
धर्म और योग का उपदेश दिया
ऐसे गुरु मङ्गत को मैं नमस्कार करता हूँ॥ ५ ॥

गणेशीं मातरं वन्दे वत्सलां च सुमङ्गलाम् ।
शङ्करं पितरं वन्दे तितिक्षुं सत्यचारिणम् ॥६॥

वन्दे गङ्गोठियाधूलिं तत्पादन्यासपावितम् ।
वन्दे ख्वाजावनं घोरं सूर्यरश्मिविभीषणम् ॥७॥

स्निग्धच्छायतरुच्छन्नां वितस्तानादगुञ्जिताम् ।
सनकेष्टां धरां वन्दे प्रज्ञाज्योतिः प्रकाशिताम् ॥८॥

वत्सला और सुमङ्गला माता गणेशी को मेरा नमस्कार है।
पिता गौरीशंकर को मेरा नमस्कार है।
जो कि सत्य और तितिक्षा के व्रत का पालन करते रहे ॥ ६ ॥

गंगोठिया की धूलि को मेरा नमस्कार है-
उस धूलि को जो कि उनके चरण का
स्पर्श पा कर पवित्र हो गई;
पीरख़्वाजा के उस भयानक वन को भी मैं
नमस्कार करता हूँ
जहाँ कि सूरज की किरणें भी प्रवेश करते
हुये डरती थीं ॥ ७ ॥

जहाँ पेड़ अपनी कोमल छाया फैलाये रहते हैं
और जहाँ जेहलम नदी अपनी तान छेड़े रहती है।
जो भूमि कभी सनकादिक ऋषि के प्रेम में रंग गई थी
और जहाँ (गुरुदेव के तप के समय) ज्ञानज्योति का प्रकाश फैला था,
ऐसी जेहलम की तटवर्ती भूमि को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ८ ॥

विनयः

कर्मणि सुखकामोऽहं आशया मनने रतः ।
चातुर्यात् शिवमिच्छामि नित्यं विषेति मे मनः ॥ १॥

निर्वासितश्च भ्रष्टोऽहं शरणं नय मां निजम् ।
सर्वाणि क्षिणु कर्माणि भिक्षुर्दातारमागतः ॥ २॥

कर्म करता हूँ तो सुख की कामना लेकर
मनन करता हूँ तो कोई आशा लेकर
चतुराई से मुझे अपने कल्याण की आशा है
मेरा मन सदा डरा रहता है ॥ १ ॥

अपने घर से निकाले हुये
अपने पथ से भटके हुये
मुझे अपनी शरण में जगह दो
तुझ दाता के दर का भिखारी बन कर आया हूँ।
मेरे सब कर्मों का नाश कर दो ॥ २ ॥

परिशिष्ट- १

(देखिये अध्याय १७, पृष्ठ ३३१)

राजनीति सम्बन्धी वार्तालाप

जिज्ञासु - महाराजजी साम्यवाद यानि मौजूदा कम्यूनिज्म के बारे में आपका क्या ख्याल है ?

गुरुदेव - लालजी, साम्यवाद यदि अध्यात्म को साथ लिए हुए हो तो ईश्वर का स्वरूप है और यदि खुदगर्जी को साथ लिए हुए है तो शैतानियत का स्वरूप है।

असली साम्यवाद यह है कि हर मानुष अपने स्वभाव और आदत का गुलाम है। बुद्धि शरीर के हर एक पुर्जे (अंग) की हर समय देखभाल कर रही है। इस शरीर में कितने ही कल और पुर्जे हैं; हर एक का काम अलग-अलग है। ये सब के सब इस तीन हाथ पर शरीर के हिस्से जरूर हैं लेकिन सब अपना-अपना काम अलग-अलग रूप में पूर्ण करते हैं-हाथ, हाथ का काम करता है; कान, कान का काम करता है-वग़ैराह वग़ैराह। लेकिन बुद्धि कभी भी किसी पुर्जे के साथ (पराये) का सा बर्ताव नहीं करती। यदि आँख में तक़लीफ हो गई है तो सब तरफ़ बुद्धि अपना ध्यान हटाकर आंख में लगा देती

है, जब तक कि आंख को आराम न हो जाये। इसी तरह से और भी शरीर का व्यौपार इन्द्रियों और दूसरे शरीर के अंगों द्वारा साम्यता से चल रहा है। बुद्धि हर एक अंग की साक्षी होकर सबका समान रूप से ख्याल रखती हैं। टाँगें चलने का काम करती हैं और दिमाग सोच विचार का काम करता है। यदि दिमाग यह सोचने लगे कि मैं ऊंचा है, टाँगें नीची तो इन बातों को बुद्धि गवारा नहीं करेगी। वह टाँगों को और दिमाग की एक जैसी कद्र करती है क्योंकि दोनों अंग अपनी-अपनी जगह पर बड़े हैं।

इसी तरह संसार के स्वरूप में जो कि इस जिस्म के मानिंद ही है, इसमें सब बशर (व्यक्ति) एक ही जैसे हैं। राजा का कर्तव्य है कि सबको उनकी योग्यता के माफिक काम देकर राज्य का शासन एक अच्छे तरीके से चलाये। कोई बशर अपने काम करके बड़ा या छोटा नहीं है। उसकी समानता हर वक़्त कायम रहनी चाहिए और जिस बशर की जो जरूरत हो वह उसकी योग्यता के माफिक पूर्ण होनी चाहिए। यह असली साम्यवाद का स्वरूप है। स्वार्थ वाला साम्यवाद टिकाऊ नहीं होता । कुछ अरसा चलने के बाद खत्म हो जाता है। फ़र्ज वाला (प्राकृतिक) साम्यवाद क़ुदरती निजाम का असली स्वरूप है जो क़ुदरती जीवन की पुष्टि करता है, जो हमेशा से चलता आया है।

जिज्ञासु - महाराजजी ! क्या धर्म और राजनीति एक जगह रह सकते हैं ?

गुरुदेव - प्रेमी ! धर्म और राजनीति एक दूसरे से अलग-अलग न समझो, लेकिन रिवाजिक धर्म जो आज का धर्म बना हुआ है और शैतानियत जो आज की राजनीति बनी हुई है एक नहीं हो सकते। न ही असल राजनीति के साथ रिवाजिक धर्म का कोई सम्बन्ध है। रिवाजिक धर्म वह ही बातें हैं जो किसी तरह के पंथ, मत, अदारे, गिरोह के रहन-सहन, रीति-रिवाज, पोशाक, खान-पान और देश के विशेष तरह के चलन पर मुनहसिर [निर्भर] हैं। जैसे कि मसलन गिरजाघर जाना, अपने-अपने तरीके से परमात्मा की बन्दगी व पूजा करना,

नमाज पढ़ना, रोजे रखना, चोटी रखना, जनेऊ धारण करना, तिलक लगाना, कड़ा, कच्छा, कंघा, केश व किरपाण धारण करना वगैरह-वगैराह सब रिवाजक धर्म हैं। इन सबका असली धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। धर्म का सम्बन्ध असल में आन्तरिक शान्ति के साथ है और रिवाजों का सम्बन्ध बाहरी शरीर के साथ है। मगर असली धर्म और सही राजनीति एक ही वस्तु है इसमें किसी भी मजहब-ओ-मिल्लत को दखल नहीं है। यह इन्सानियत [मानवता] का जुज़ [हिस्सा] है और इन्सानियत को प्रकट करने वाली और फैलाने वाली नीति है।

तमाम जीवों के दुःखों को दूर करके उनको राहत पहुंचाना और सारे जहान (विश्व) को एक कुन्बा (परिवार) जानकर हर एक बशर से दिली प्रेम करना, अपनी गर्ज को त्याग कर हर वक्त दूसरों की भलाई चाहनी यह सब धर्म और राजनीति के एक ही स्वरूप में आ जाते हैं। इस तरह की राजनीति जब त्यागी राजा लोग चलाते हैं तो सारे संसार में अमन और शान्ति फैल जाती है।

जिज्ञासु - महाराजजी ! इस वक्त बड़े दिनों के बाद देश आजाद हुआ है और यह बड़ी खुश नसीबी है कि मौजूदा वक्त की राजसत्ता देशसेवकों के हाथ में है जिन्होंने बड़ी कुरबानी करके देश को आजाद करवाया है। आगे आने वाले वक्त में देश का शासन कैसे चलेगा ? इस बारे में आप कोई रोशनी डालें (वर्ष १९४८)।

गुरुदेव - प्रेमी ! यह सच है कि देशभक्तों ने बड़ी कुरबानी देकर देश को आजाद कराया है । परन्तु देशसेवा और राज-इच्छा दो विपरीत हालते हैं। राज-इच्छा का सम्बन्ध प्रकृति के साथ है और देशसेवा आध्यात्मिक वस्तु है । ये दोनों कभी एक जगह नहीं रह सकतीं। देशसेवा करने वाला कभी भी राज-इच्छा को धारण करके राजा नहीं बनेगा । यदि बनेगा तो वह ठीक तरह

से शासन नहीं कर पायेगा।

राज ठीक चलाने के लिये चार बातें बड़ी जरूरी है :-

पहली बात- औरतों की आजादी केवल घरेलू और सामाजिक होवे। इसके अलावा अधिक आजादी होना ठीक नहीं है। अगर इससे ज्यादा आजादी दी गई तो इसका असर उनसे पैदा होने वाली सन्तान पर पड़ेगा। ऐसी सन्तान वे पैदा नहीं कर सकेंगी जो नेक-सीरत, नेक-अमल, कुल-आचारी, दृढ़ इरादे और निश्चय वाली हो। इसके उलट जब अधिक आजादी औरतों को दी जायेगी तो वे भ्रष्ट, लम्पट और दुराचारी सन्तान देश में पैदा करेंगी। इससे देश को राजसत्ता का नाश हो जायेगा। जब आगे की नसल ही ठीक नहीं होयेगी तो राज कैसे ठीक चलेगा ? अर्थात् राज हमेशा प्रजा के अपने विचारों की एकता पर चलता है। इस तरह की सन्तान, जो भ्रष्ट, लम्पट और दुराचारी होगी, वह कभी भी एकता का संगठन धारण नहीं कर सकेगी।

दूसरी बात-राज की ओर से धन की टकसाल मुनासबत में जारी होनी चाहिये, यानी यह बात सोच-विचार करके मुनासबत के तरीके से राज्य की ओर से टकसाल जारी होवे कि जरूरत की चीजें महंगी न होने पायें। लोगों को जरूरत का सामान मुनासिब दामों पर ही प्राप्त होना चाहिये।

तीसरी बात-धन का बटवारा राज की तरफ़ से ऐसा समता में होना चाहिये कि ज्यादा अमीर भी लोग न होने पायें और ग़रीबी भी ज्यादा न हों। यानी राज की तरफ़ से ऐसी गहरी सावधानी पूर्वक प्रोग्राम बनना चाहिये कि अमीर और गरीब के बीच का फर्क एक दम खत्म हो जावे।

चौथा- राज के कर्मचारी आलिम (विद्वान), आमिल और हलीम

(विनम्र) होने चाहियें। निष्पक्षता और त्याग उनमें कूट-कूटकर भरा होना चाहिये। तब जाकर कहीं राज ठीक चला करता है।

इन फ़क़ीरों की कौन सुनता है ? इस वक्त देश में मनमानी का राज चल रहा है। अब तुम ही समझ लो कि आगे जाकर क्या होगा।

जिज्ञासु - महाराजजी ! भारत का शासन छिन्न-भिन्न हो रहा है। अभी हाल ही में देश गुलामी से आजाद हुआ है और कर्मचारी-गण बजाय बेशहित के सोचने के अपनी जेबें भरते नजर आ रहे हैं। चारों तरफ़ भ्रष्टाचार ही फैलता जा रहा है। इसका कोई कारण ग़हरा है। (वर्ष १९५३)

गुरुदेव - लालजी ! भारत का निज़ाम (शासन) आगे आने वाले वक्त में ठीक होने वाला नहीं है। क्योंकि मान और माया से दूर रहने वाले लोग ही राजनीति ठीक चला सकते हैं। राज हमेशा बाअमल विद्वान लोगों के जरिये चलता है। इस वक्त बे-अमल लोगों का टोला इकट्ठा हुआ है। इनको पता ही नहीं है कि प्रजा का हित उनके अपने अमल में ही खड़ा है। इस तरह के लोग केवल खुदग़र्ज़ बुद्धि को लिये हुए विचरते हैं। इससे कुछ चलेगा नहीं, यह सबके सब डुबोने वाले हैं। अगर विद्वान बाअमल हों तो सब ठीक हो जाता है। अगर बे-अमल रहे तो सब कुछ डुबाने वाले ही बनेंगे।

ऐसा ही इस वक़्त भारत में हो रहा है। अब तुम ही समझो कि वह कैसे रास पर आये जिसकी बुनियाद ही गलत हो ?[१]

---

१. कृपया परिशिष्ट-२ भी देखिये।

परिशिष्ट- २
रामराज्य का स्वरूप

(सत्वचन श्री सद्गुरुदेव महाराज)

१. जरूरतों की मुनास्बत यानी ज्यादा नुमायसी, अय्यासी जिन्दगी से परहेज।

२. तमाम जनता को आत्मनिश्चय की दृढ़ता यानी तोहमात से छुटकारा प्राप्त हो।

३. राज्यसेवक तथा जनता में परस्पर प्रेम हो।

४. राज्यसेवक निष्पक्ष, निर्लोभ और शुद्धाचारी हों।

५. विद्या का आचरण सदाचारी यानी ब्रह्मचर्य और सादगी सहित हो।

६. स्त्री की आजादी एक मर्यादा तक होनी चाहिये। आध्यात्मिक विद्या में स्त्रियों की अधिक दृढ़ता होनी चाहिये।

७. तमाम नशे और नाक़िस ग़िज़ाओं पर पाबन्दी होनी चाहिये।

८. कारोबार के तमाम सिलसिले मर्यादा और समय की पाबन्दी सहित होने चाहियें।

९. विद्या निद्धियासन में लड़के, लड़कियों के स्कूल अल्हदा-अल्हदा होने चाहियें एवं सदाचारी जीवन अनुकूल विद्या का प्रबोधन (ज्ञान) होना चाहिये।

१०. हर किस्म की विद्या का जो मुस्तहिक (अधिकारी) होवे उसको वैसी ही सिखलानी चाहिये।

११. राज्य का बढ़ता हुआ धन ज्यादा से ज्यादा विद्या निद्धियासन में खर्च करना चाहिये।

१२. सब जीवों को अपनी सही उन्नति की आजादी और सहायता होनी चाहिये।

१३. सत्-उसूलों का ज्यादा से ज्यादा प्रचार होना चाहिये, यानी सादगी, सत्, सेवा, समानता और प्रेम आदि महागुणों का।

१४. राजसेवक निहायत उच्च और पवित्र कर्त्तव्याचारी हों।

१५. अधिक त्याग, अधिक आध्यात्मिक निश्चय, पूर्ण शुद्धाचार, ईश्वर-भक्ति और देशभक्ति में अधिक विश्वास, सब जीवों में समानता भाव, राज और सेवक और जनता में इन गुणों का होना ही असली राम राज है।

संगत समतावाद द्वारा महाराज जी की
शिक्षा पर आधारित ग्रंथ एवं पुस्तकें

क्रम सं०	नाम	
1.	श्री समता प्रकाश ग्रन्थ	हिन्दी
2.	श्री समता विलास ग्रन्थ	हिन्दी
3.	जीवन गाथा भाग-1	हिन्दी
4.	जीवन गाथा भाग-2	हिन्दी
5.	मेरे गुरुदेव	हिन्दी
6.	गुरूदेव ने कहा	हिन्दी
7.	ऐसे थे गुरूदेव हमारे	हिन्दी
8.	ऐसी करनी कर चलो	हिन्दी
9.	अनन्त की खोज	हिन्दी / English
10.	संस्मरण	हिन्दी
11.	समता ज्ञान दीपक	हिन्दी
12.	समता आध्यात्मिक पत्र	हिन्दी/उर्दु
13.	समता ज्ञान पुष्पमाला	हिन्दी
14.	समता निति	हिन्दी
15.	अनन्त शान्ति की ओर	हिन्दी
16.	दी रिडिएन्ट सेमनेस (The Radient Sameness)	English
17.	संक्षिप्त जीवन परिचय	हिन्दी
18.	प्रार्थना व वैराग्य वाणी	हिन्दी
19.	जीवन परिचय (समतावाद)	हिन्दी
20.	समता संदेश मासिक पत्रिका (Monthly Magazine)	हिन्दी / English/उर्दु
21.	अमर वाणी	हिन्दी
22.	प्रकाश पुण्ज	हिन्दी
23.	महामंत्र का ओडियो कैसेट (Audio Cassette)	हिन्दी
24.	महामंत्र की सीडी (CD)	हिन्दी
25.	जीवन परिचय की सीडी (CD)	हिन्दी

भारतवर्ष में, अन्य स्थानों पर भी संगत समतावाद के आश्रम व सत्संग शालाएँ है जिनके बारे में जानकारी व अन्य किसी भी प्रकार की जानकारी निम्नलिखित आश्रमों से ली जा सकती हैं।

HEAD OFFICE:
SANGAT SAMTAVAD
SAMTA YOG ASHRAM
CHACHHRAULI ROAD
JAGADHARI-135003
PH. NO. 01732-244882

मुख्य ऑफिस:
संगत समतावाद
समता योग आश्रम
छछरौली रोड
जगाधारी-135003
फोन न0-01732-244882

DELHI OFFICE:
SAMTA YOG ASHRAM
ANSAL PALAM VIHAR
FARM NO. 45
VILLAGE SALAH PUR
HUDA, GURGAON
OPP. SECTOR-21
NEW DELHI-110061
PHONE NO. 28061518, 28061519

दिल्ली ऑफिस:
समता योग आश्रम
अंसल पालम विहार
फार्म नं0-45
गाँव सलाह पुर
हुड्डा गुडगाँव, सेक्टर-21
के सामने
नई दिल्ली-110061
फोन न0-28061518, 28061519

Web Site: www.sangatsamtavad.org
Email: india@sangatsamtavad.org